मध्यकालीन कवियों के काव्य सिद्धांत

(१६०० ईस्वी तक)

डॉ० छविनाथ त्रिपाठी
रीडर, हिन्दी-विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

रिसर्च : दिल्ली

विषय-सूची

१ | काव्य-सिद्धान्तों के निर्माण की पूर्व-पीठिका

१ वैदिक ऋचाओ में काव्य-सम्बन्धी विचार

पावमानीयो अध्येत्यृषिभि सभृत रसम् ।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीर सर्पिर्मधूदकम् । ऋक् ९।६७।३२॥

जो व्यक्ति अत्यन्त पवित्र, ऋषियो द्वारा प्राप्त किये रस का भोग करता है, उसे सरस्वती दूध, घी और जल आदि दोहन कर देती है। ऋषियो ने अध्ययन, मनन और चिन्तन के द्वारा जिस रस का स्वय अनुभव किया तथा विश्व-कल्याण के लिए जिसे वाक्-शक्ति के द्वारा अभिव्यक्त किया, उसकी परम्परा आज भी मनीषियो द्वारा सतत प्रवाहित हो रही है। वाणी की यह शक्ति अमोघ है। वाक्सूक्त में वह स्वय अपने प्रभाव का निर्देश करते हुए कहती है—

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति, य प्राणिति य ई शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मा त उपक्षियन्ति, श्रुधि श्रुत श्रद्धिव ते वदामि ॥ ऋक् १०।१२५।४
अह राष्ट्री सगमनी वसूना चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
ता मा देवा व्यदधु पुरुत्रा, भूरिस्थात्रा भूर्यावेशयन्तीम् ॥ ऋक् १०।१२५।३
अहमेव स्वयमिद वदामि जुष्ट देवेभिरुत मानुषेभि ।
य कामये त तमुग्र कृणोमि त ब्रह्माण त सुमेधाम् ॥ ऋक् १०।१२५।५

अर्थात्, "जो भी मानव प्राणी भली-भाँति देखता और समझता है, जो भी श्वास लेता है, जो उस व्यापक उच्चरित शब्द को सुनता है, वह मुझसे उन विषयो को प्राप्त करता है, जो मुझे नही समझते अथवा मेरे प्रभाव को स्वीकार नही करते, वे भी मुझ पर निर्भर रहते हैं, सुनो, सुनो, मैं तुम्हे यह श्रद्धा-योग्य बात कहती हू। मैं वसुओ की शासिका और उनको गतिशील करने वाली तथा यज्ञनिष्ठो की प्रथम प्रेरणा हूँ। दिव्यगुण-सम्पन्न व्यक्ति, सर्वव्यापिनी और प्राणियो को विविध कर्मो मे लगाने वाली उस मुझको, सरक्षक के रूप मे मानते है। मैं ही अपने आप इन देवो

और मनुष्यों के लिए प्रीतिकारक शब्द बोलती हूँ। जिसको चाहती हूँ उसे क्षत्रिय, ब्राह्मण, ऋषि या मेधावी बना देती हूँ।"

वाणी की महत्ता, ऋषियों द्वारा अनुभूत या सचित रस, तथा उसकी वैयक्तिक और सामाजिक उपयोगिता का जो संकेत इन ऋचाओं में उपलब्ध होता है, वह उन काव्य-सिद्धान्तों का बीज है, जो आगे चलकर पल्लवित और पुष्पित हुआ। मन्त्रद्रष्टा ऋषि जब 'या ते जिह्वा मधुमती सुमेधा'[1] 'मधुमती वाचमुदेयम्'[2] 'येया गव्या माहिना गी'[3] जैसी उक्तियां कहता है, तब वह स्वभावत वाणी के माधुर्य की ओर संकेत करता है। ऐसी वाणी से सम्पन्न कवि ही महान् इन्द्रिय-सामर्थ्य को धारण करते हैं।[4] उन्हीं में इतनी क्षमता है कि वे बल देकर अपनी वाणी को सुनने के लिए श्रोता को बाध्य कर सकें।[5] यह काव्य की वाणी इन्द्र या जीवों के लिए प्रशस्य है।[6]

'सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि'[7] और 'कहउँ नामु बड राम ते'[8] एक ही प्रकार के हृदय के उद्गार हैं। विष्णु के चरणों में ही माधुर्य का स्रोत[9] ढूंढने वाले ऋषि और 'राम चरन पकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजै न पासू'[10] के कवि की मौलिक भावना में कोई अन्तर नहीं है। 'शाम इत्था महा, अस्य मित्र स्यादो अद्भुत। न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन'[11] में जिस अरिनाशक, अद्भुत एवं महान् शास्ता का निर्देश है, जिसका सखा न मारा जाता है न पराजित होता है, उससे कृष्ण-चरित्र की असुरनाशिनी प्रवृत्तियों और मित्र-रक्षिणी-भावना का स्मरण हो आना स्वाभाविक ही है।

तीन गुणों या कोशों से आवृत नौ द्वार वाले पुण्डरीक में विद्यमान, यक्ष ही देह का स्वामी है। उसकी शक्ति महान् है, वह ब्रह्म रूप है। इच्छा, क्रिया और ज्ञान का मूल स्रोत यह यक्ष ही है।[12] इस दृष्टिकोण पर ध्यान जाते ही ऐसा लगता है, जैसे कालिदास का विरही यक्ष, यह आत्म-पुरुष ही है और यक्ष-विरह उनका

१ ऋक् ३।५७।५॥
२ ऋक् १।६२।२॥
३ ऋक् ३।७।५॥
४ तत्त इन्द्रिय परम पराचैरधारयन्त कवय पुरेदम्। ऋक् १।१०३।१॥
५ आश्रुतकर्ण श्रुधी हव नू चिद् दधिष्व मे गिर ॥ ऋक् १।१०।६॥
६ अस्ता इलाध्य वच उक्थमिन्द्राय शस्यम्। ऋक् ५।३६।५॥
७ ऋक ७।२२।५॥
८ रामचरित मानस, बाल काण्ड। २३ ॥
९ ऋक् १।१५४।५॥
१० रामचरित मानस, बा० का०। १७।
११ ऋक् १०। १५२।१॥
१२ वैदिक दर्शन, पृ० ४, ३४, १७७ ॥, अथर्व १०।८।४३, बृहदारण्यक ५।४।१, छान्दोग्य उप० ८।१ पुण्डरीक व्याख्या।

अपना विरह। प्रत्येक काव्य के आरम्भ में धार्मिक कवि जिन सरस्वती की वन्दना करते हैं, वह हमारी पंच ज्ञानेन्द्रियों, पंच कर्मेन्द्रियों और पंच प्राणों की नियन्त्रिका शक्ति है। अनुभूति-ग्रहण के समय उसका प्रवाह अन्तर्मुखी होता है और अभिव्यक्ति के समय बहिर्मुखी।[13] मन के साथ जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अपने बाह्य-व्यापार से विरत हो जाती हैं, बुद्धि भी चेष्टा रहित हो जाती है, उसे ही तो परम गति कहते हैं।[14] वेदान्त दर्शन की समाधि, काव्य की रसात्मक-स्थिति और ब्रह्मानन्द की उपलब्धि के लिए जिस शक्ति की याचना की जाती है, जिसकी सहायता अपेक्षित है, वह शारदा या सरस्वती ही है। हृदय समुद्र है, मति सीप; किन्तु 'स्वाति-शारदा' की कृपा के बिना कवित्त-मुक्ता का सृजन कहाँ संभव है।[15]

रचना चाहे किसी भी प्रकार की क्यों न हो, अपने रचयिता की जीवन-दृष्टि की प्रतीक होती है। कवि का जीवन-दर्शन, उसके विचार, भाव, लक्ष्य, प्रयोजन आदि स्वाभाविक रूप से उसकी कृतियों में झलक उठते हैं। कहीं वे स्पष्ट होते हैं, कहीं अस्पष्ट, कहीं व्यक्त तो कहीं व्यंजित। कभी ये विचार व्यक्तिगत होते हैं, कभी सामाजिक, कभी लौकिक होते हैं, कभी शास्त्रीय, पर ये होते कवि के हैं। यदि वैसे ही विचार, वैसे ही सिद्धान्त, वैसे ही दृष्टिकोण पहले भी व्यक्त हो चुके हैं, तब भी कवि की स्वीकृति और उसकी धारणा का परिचय मिल ही जाता है। इन्हीं व्यक्त भावों और विचारों में कवि की काव्य-दृष्टि का भी परिचय मिल जाता है। ये भाव और विचार विभिन्न अवसरों पर व्यक्त होते हैं, विविध वर्णन-प्रसंगों पर झलक उठते हैं, पर वे कवि-स्वीकृत या अस्वीकृत होकर, विधि या निषेध रूप में व्यक्त होते रहते हैं। ये वे मानस-तरंगें हैं, जो अपनी मूलधारा से बिछुड़ कर भी अपनी क्षेत्रीय भूमि को सरस एवं निर्मल बनाती हैं। इन बिखरी भाव या विचार-वीचियों को एक लड़ी में पिरो कर उस मानस के आकार-प्रकार और व्यक्तित्व की एक झाँकी प्रस्तुत की जा सकती है। कवियों के काव्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी ये संकेत न केवल महत्त्वपूर्ण होते हैं अपितु उनको जोड़ कर सैद्धान्तिक रेखाचित्र भी तैयार किया जा सकता है।

२. उपनिषदों में

उपनिषद् काव्य-ग्रन्थ नहीं हैं, पर वे जिस आध्यात्म-विद्या का प्रतिपादन करते हैं, उसका क्षेत्र और उसकी सीमायें बहुत विस्तृत हैं। सम्पूर्ण कर्मकाण्ड या वैदिक यज्ञों को उन्होंने लौकिक से अलौकिक धरातल पर उतार दिया है, ठीक वैसे ही, जैसे लौकिक शृंगार को भक्त कवियों ने अलौकिक रूप दे दिया है। आध्यात्मी-

१३ यजु. ३४।११

१४ कठोपनिषद् ६।१०

१५ हृदय-सिन्धु मति सीप समाना। स्वाति-सारदा कहहिं सुजाना। राम च० मा० बा० का० ११॥

करण की इस प्रक्रिया में कम से कम दो—छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक-उपनिषदों ने वाङ्मय का विस्तृत विवेचन किया है। बृहदारण्यक उपनिषद् ने तो जिस विराट् सत्य की प्रतिमा, आरम्भ में ही प्रस्तुत की है और उसकी कृति का विधान किया है, वह वस्तुतः मन, उसकी कल्पना-शक्ति, उसका क्षेत्र और वाणी में उसकी अभिव्यक्ति से भिन्न, कुछ और प्रतीत ही नहीं होती।[16] इन दोनों उपनिषदों में वर्णित इस वाङ्मय की कुछ विरल रेखाओं को एक साथ प्रस्तुत करने का उद्देश्य केवल यह स्पष्ट करना है कि रचना चाहे किसी भी प्रकार की क्यों न हो, ऐसे सरसों की उपलब्धि हो ही जाती है, जो रचयिता की उस मान्यता को अमरता दे, जो उसकी रचना-प्रक्रिया के समय उसके अन्तर्मन में विद्यमान रहती है।

पुरुष का रस वाणी है, वाणी का रस ऋक्, ऋक् का रस साम है और साम का रस उद्गीथ है।[17] प्राण ही साम है,[18] साम ही उद्गीथ है, प्राण ही उद्गाता है[19] और वही तेजोमय वाक् है।[20] चित्त सङ्कल्पों का आश्रय है[21], सङ्कल्प मन को प्रेरित करते हैं[22] और मन ही वाणी का प्रेरक है।[23] मन ही आत्मा का दिव्यचक्षु है।[24] इस वाणी या उद्गीथ की उपासना अङ्गिरा ने की, उन्होंने अङ्गों के रस को पहचाना, अतः वे अङ्गिरस माने जाते हैं।[25] इसी उद्गीथ की उपासना बृहस्पति ने की, वाक् ही बृहती है, उसके वह पति हैं।[26] मृत्यु से भयभीत देवता त्रयी विद्या में प्रविष्ट हो गये, छन्दों के द्वारा वे आवृत या आच्छादित हुए, यही छन्दों का छन्दस्त्व है।[27] काम-गान के इच्छुक विद्वान् साम ही गाते हैं, साम ही गाते हैं।[28] ये सामगान या अभीष्ट-गान प्राणों की गहराई से उठने वाले उच्छ्वास हैं, इसी से 'गी' 'वाचा' और 'गिर' कहे जाते हैं।[29] वाणी ही देवलोक, मन ही अन्तरिक्ष लोक और प्राण ही पृथ्वीलोक हैं।

१६ बृहदारण्यक—१।१।१—६ और ६।१।१३।

१७ छान्दोग्य १।१, एषाना रसः वेदाहिरसा। छान्दोग्य ३।५ (वाणी को निचोड़कर वेद रस ही बहाते हैं। (?? कवि)।

१८ बृहदारण्यक १।३।२२

१९ १।३।२३

२० छान्दोग्य ६।६।

२१ वही ७।५।

२२ छान्दोग्य ७।८

२३ छा० ७।३

२४ छा० ८।१२

२५ छा० १।२ और बृहदा० १।३।८

२६ छा० १।२ और बृहदा० १।३।२०—२१, बृहती एक विशेष छन्द है।

२७ देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशंस्ते छन्दोभिरच्छादयन् यदेभिरच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् छा० १।४।

२८ छा० १।८

२९ प्राणेन हि उत्तिष्ठति वाक् ते वाचो ह गिर इत्याचक्षते। छा० १।३।

वाक् देवता, मन पितर और प्राण ही मनुष्य हैं।[30] स्पष्ट है कि प्राण, मन और वाणी का समन्वय ही तीनो लोको का देव, पितर और मानवों का सगम है।

जिस हृदय-पुण्डरीक और उसमे पुरुष-यक्ष का उल्लेख अनेक उपनिषदो में किया गया है[31] उस हृदय की तीन मुख्य विशेषताएं है—'हृ हरति' (काव्य की भाषा मे अनुभूतियो का सचय), 'द ददति' (उनका दान या अभिव्यक्ति) तथा 'य' 'गति' सप्रेषणीयता या निरतर हरति-ददति का क्रम)।[32] मन ही इस यक्ष-पुरुष की आत्मा है और वाणी ही जाया या यक्ष-प्रिया।[33] मानव-सृष्टि के मूल मे इस प्रजापति का मिथुनीभाव ही मुख्य है।[34] यह पुरुष तेजोमय और अमृतमय है।[35] इस महान् भूत का निःश्वसन ही इतिहास और पुराण है।[36] पृथिवी, द्यौ, अन्तरिक्ष और समुद्र आदि इनकी कलायें है।[37] वह स्वय षोडश-कला-सम्पन्न है।[38] वही कवि, मनीषी, परिभू और स्वयभू है।[39] इस मधुकृत् का ही पुष्प इतिहास-पुराण है।[40] ऋग्वेद भी उसका ही पुष्प है।[41] इस प्रिय आत्म-पुरुष की ही उपासना करनी चाहिए।[42] जो पद से इस आत्मा को प्राप्त करते हैं, वे कीर्ति और श्लोक प्राप्त करते है।[43] प्राणो के इस सगीत का स्वरूप विविध ऋतुओ मे बदलता रहता है—"ऋतुपु पचविध सामोपासीत, वसन्तो हिंकारो[44], ग्रीष्म प्रस्तावो, वर्षा उद्गीथ,[45] शरत् प्रतिहारो, हेमन्तो निधनम्।"[46] (छा० २।५)।

यह वाग्यज्ञ स्वान्त सुखाय भी होता है, स्वराट् की स्थिति, आत्मरति,

३० बृहदा० १।४।६ और १।५।४
३१ कठ २।१।१२, केन० ३।३।२
३२ बृहदा० ५।३।१।
३३ मन एवास्यात्मा वाक् जाया प्राण प्रजा चक्षुर्मानस ।बृहदा० १।४।१७।
३४ बृहदा० १।४।३।
३५ बृहदा० २।५।२।
३६ अस्य महतो भूतस्य नि श्वसितमेतत् यत् इतिहास पुराण ॥ बृहदा० २।४।१०।
३७ छा० ४।६
३८ छा० ६।७
३९ ईशावास्य ८
४० छा० ३।४
४१ छा० ३।१
४२ बृहदा० १।४।८
४३ बृहदा० १।४।७
४४ हिंकार [illegible] शृगार परक गीत है। द्रष्टव्य—छान्दोग्य २।१।१३
४५ [illegible], [illegible] बने, [illegible] विस्मृत [illegible],
[illegible] प्रथम दिवसे,
[illegible] । विश्व कवि रवीन्द्रनाथ।
४६ निधनम् =[illegible]।

आत्मक्रीडा, आत्म-मिथुन एव आत्मानन्द से ही उपलब्ध होती है।[४७] आत्मा की कामना जब लोकोन्मुख होती है तो वैराज की स्थिति आती है, उस समय सारा ससार ही उसे प्रिय हो जाता है।[४८]

यह आत्मपुरुष, यक्ष या कवि, स्मृतिजन्य और सर्जनात्मक कल्पना से सम्पन्न होने के कारण स्वय प्रकाशमान् है।[४९] वह अदृष्ट का भी द्रष्टा, अश्रुत का भी श्रोता, अमत का भी मन्ता और अविज्ञात का भी विज्ञाता है।[५०] उसके पास रथ नही है, रथ-योग्य पथ भी नही है, पर वह रथ और पथ, दोनो की ही सृष्टि कर लेता है। वह निरानन्द को सानन्द, अमुद को मुद, और अप्रमुद को प्रमुद मे परिवर्तित कर सकता है। वह मरु-प्रान्तर मे सरस पुष्करिणी का सृजन करने मे सक्षम है। यही उसका कर्तृत्व है, इसीलिए उसे कर्ता कहा जाता है।[५१]

कवि का आयतन हृदय है, लोक मन है और वह स्वय ज्योतिर्मय है।[५२] इस हृदय-आयतन का जिसे ज्ञान है वह जन-हृदय को भी पहचानता है। वह स्व-हृदय का लोक-हृदय से सामजस्य स्थापित करने मे भी समर्थ है। उसका हृदय लोक-हृदय और लोक-हृदय ही उसका अपना हृदय बन जाता है।[५३] तभी तो कवि की हृदय रूपी वीणा की झकार, विश्व की हृदय-वीणा के स्वर मुखरित करती है। भाव के साधारणीकरण का बीज इसी मे निहित है।

वाग्यज्ञ या वाणी की साधना मे निरत कवि, जब अपने ही हृदय-आयतन की अनुभूतियो मे मन-प्राण से विभोर हो उठता है तब वह उत्क्रान्तदर्शी होता है। उस समय उसे इस बाह्य-लोक का कुछ भी दिखाई नही देता, कुछ भी सुनाई नही पडता, न कुछ जानता है, यह स्थिति ही भूमा है। जो यह भूमा है, वही सुख (आनन्द) है।[५४] पुरुष-मन और जाया-वाक् का यह परस्परालिगन, प्रिय-स्त्री के आलिगन सदृश ही आनन्द-दायक है।[५५] अनुभूति और अभिव्यक्ति के आलिगन का यह क्षण, एक प्रकार का बन्धन ही है। वह श्रेय और प्रेय के द्विविध रूपो मे पुरुष को बाधता है, साधु केवल श्रेय का ही

४७ छा० ७। २५
४८ बृहदा० २। ४। ५
४९ श्वेताश्वतर—न तत्र सूर्यो भाति ६। १४ 'जहा न जाय रवि तहा जाय कवि'।
५० बृहदा० ३।७। २३
५१ न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति अथ रथान् रथयोगान् पथ सृजते, न तत्रानन्दा मुद प्रमुदो भवन्ति। अथानन्दान् मुद प्रमुद सृजते, न तत्र वेशान्ता पुष्करिण्य स्रवन्त्यो भवन्ति। अथ वेशान्तान् पुष्करिणी स्रवन्ती सृजते, स हि कर्ता। बृहदा० ४। ३। १०
५२ बृहदा० ३।६।१४
५३ बृहदा० ६।१।५
५४ यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति न भूमा। छा० ७। २४। यो वै भूमा तत्सुखम्। छा० ७। २३
५५ बृहदा० ४। ३। २१

वरण करता है, प्रेय का नही।[५६] 'सर्वाणि भूतानि श्रेष्ठ्याय कल्पन्ते' (वृहदा०-५।१३।३) द्वारा उपनिषद्कार ने सारे प्राणियो के लिए श्रेष्ठता को ही एकमात्र लक्ष्य निर्धारित किया है। उच्चकोटि के काव्य के लिए इससे उत्तम लक्ष्य और कोई भी नही है। काव्य मे जिस सत्य की अभिव्यक्ति होनी चाहिए, कभी कभी कवि, जान-बूझ कर उस पर कचन का आवरण डाल लेता है, उसकी सत्य-धर्म की दृष्टि निमीलित हो जाती है, तब उसे पूषन् से यह प्रार्थना करनी पडती है कि उसे अपावृत कर (कचन-लोभ से मुक्त कर) सत्य-दृष्टि प्रदान करे।[५७]

उपनिषदो के उक्त उद्धरणो मे आये हुए—वाक्, मन, प्राण, कवि, कर्ता, रस, सकल्प, छन्द, हृदय, मिथुनीभाव, कला, इतिहास, पुराण, कीर्ति, श्लोक, ऋतु-गीत, कल्पना-शक्ति, कवि-सामर्थ्य, लोक-हृदय से कवि-हृदय का सामजस्य (साधारणीकरण), भूमा, भूमा-सुख, श्रेय-प्रेय एव काव्य की सत्य-दृष्टि आदि—शब्द एव उनकी साकेतिक व्याख्याये ठीक वे ही है जिनका उपयोग काव्य-सिद्धान्तो के प्रतिपादन एव स्पष्टीकरण मे किया जाता है। कवि, काव्य, काव्य-हेतु, काव्य-सिद्धान्त और काव्य-लक्ष्यो के निर्धारण मे उपनिषदो की इन व्याख्याओ का प्रचुर प्रश्रय लिया गया है। उदाहरण के लिए राजशेखर के काव्य-पुरुष के वर्णन को प्रस्तुत किया जा सकता है।[५८]

३. विवेचन के लिए व्याकरण द्वारा गृहीत काव्य-सम्बन्धी-शब्दावली

वाणी की विशेषताओ का सकेत वैदिक ऋचाओ, ब्राह्मणो, उपनिषदो तथा विविध सूत्र-ग्रन्थो मे मिल जाता है। वाणी को आकार देने वाले शब्दो के शुद्ध रूप और उपयुक्त अर्थों मे उनके प्रयोग की ओर सर्वप्रथम ध्यान निघटुओ, निरुक्तो और प्रातिशाख्यो के द्वारा दिया गया। वेदागो की जो ६ विधायें विकसित हुई, उनमे व्याकरणो ने शब्द, शब्द-शक्ति एव अर्थ से उसके सम्बन्धो का विवेचन सबसे अधिक किया। ऐन्द्र, चान्द्र और सारस्वत आदि अनेक शब्द-शास्त्रो की परम्पराये प्रकाश मे आई। सर्वाधिक वैज्ञानिक और सक्षिप्त रूप पाणिनि के अष्टाध्यायी सूत्रो का रहा। देशज शब्दो के प्रयोगो को व्याकरण-सम्मत बनाने का प्रयत्न कात्यायन ने अपने वार्त्तिको द्वारा किया, किन्तु पतजलि ने उन्हे स्वीकार नही किया और पाणिनि के व्याकरण-सिद्ध रूपो पर ही अधिक बल दिया। पतजलि का महाभाष्य वैदिक और लौकिक सस्कृत की परपराओ को जोडने वाली अन्तिम कडी है।

पतजलि के समय तक पालि और प्राकृतें जन-सामान्य के क्षेत्र की सीमा का

५६ कठ० १।२।१

५७ हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम्।
तत् त्व पूषन् अपावृणु सत्य-धर्माय दृष्टये। वृहदा० ५।१५।१
तुलनीय-'माधव हम परिनाम निरासा' विद्यापति पदावली (बेनीपुरी) १५४।

५८ काव्य मीमासा-तृतीय अध्याय।

अतिक्रमण कर साहित्य मे भी प्रयुक्त होने लगी थी। बुद्ध के तीनो पिटक एव जातक कथाओ का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। लौकिक सस्कृत मे भी रामायण और महाभारत का सृजन हो चुका था। पाणिनि के 'जाम्ववती जय' काव्य का उल्लेख भी मिलता है।[५६] पाणिनि ने स्वय नट-सूत्रो के कर्ता शिलालिन् और कृशाश्व का उल्लेख किया है[६०], किन्तु सस्कृत एव प्राकृत मे जिस प्रकार के काव्य-ग्रन्थो का विकास हुआ, उसका कोई सैद्धान्तिक रूप उस समय तक निर्धारित नही हुआ था। रामायण और महाभारत भी इतिहास-पुराण ही कहे जाते थे। शब्द-प्रयोग के विषयो (क्षेत्रो) की चर्चा करते हुए महाभाष्यकार पतजलि ने जहाँ वेद, उपनिषद्, वाकोवाक्य, इतिहास और पुराण का उल्लेख[६१] किया है वहा 'काव्य' का सकेत भी नही है। 'काव्य' शब्द या उसकी सिद्धि की वहा कोई चर्चा नही है। 'कविता' (कवितायें)[६२]का उल्लेख अवश्य है और उसका 'कवि के भाव' के अर्थ मे प्रयोग किया गया है। सभव है उस समय तक मुक्तक काव्य 'कविता' तथा प्रबन्ध काव्य 'इतिहास-पुराण' के अन्तर्गत परिगणित होते होगे। 'सग्रह'[६३] का उल्लेख भाष्यकार ने किया है, जिसका अर्थ टीकाकारो ने व्याडि कृत लक्षश्लोक-सख्यक ग्रन्थ किया है।

उपनिषदो की भाति ही महाभाष्य भी कोई काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ नही है, परन्तु उसमे भी कुछ ऐसे निश्चित सकेत उपलब्ध होते है, जिनका प्रभाव काव्य-विवेचन की सरणि पर बहुत अधिक पडा है, ऐसे कुछ महत्त्वपूर्ण सकेतो का ही उल्लेख यहा किया जाएगा।

जो व्यवहार के समय शब्दो के प्रयोग मे कुशल है वह अनन्त जय प्राप्त करता है, किन्तु वाग्योगवित अपशब्दो से दूषित भी हो सकता है।[६४] प्रकृति-प्रत्यय के विभाग से अर्थ-विशेष का बोध कराने वाली वाचा को जो जानता है वही वाग्योगवित् है।[६५] जिस प्रकार उपनिषद्कार ने देवो को छन्द मे प्रतिष्ठित किया, उसी प्रकार पतजलि ने महान् देव-'शब्द' को मरणधर्मा मनुष्यो मे।[६६] शब्द नित्य है, शब्द का 'स्व' उसका अर्थ ही है।[६७] दुष्ट शब्दो के प्रयोग से अर्थ-सिद्धि सभव नही है।[६८] 'सिद्धे शब्दार्थ

५६ काव्य मीमासा—नम पाणिनये ।
६० अष्टाध्यायी—४।३।१० तथा ४। ३।१११।
६१ महाभाष्य, पस्पशाह्निक १।१।१ का भाष्य
६२ महाभाष्य ५।४।३० का भाष्य।
६३ महा० १।१।१ का भाष्य।
६४ महाभाष्य १।१।१ पस्प० पृ० ३३ (निर्णय सागर प्रेस-प्रति)।
६५ वही पृ० ३३
६६ वही, पृ० ४१
६७ महा० १।१।६ पृ० ५४६
६८ महा० १।१।१ पृ० ३०

सम्बन्धे'[69] की व्याख्या का इतना समादर हुआ और शिष्ट जन-मानस पर इसका इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि 'शब्द' का तात्पर्य 'व्याकरण-सिद्ध-शब्द' ही स्वीकार कर लिया गया और उपयुक्त अर्थ के साथ उसका नित्य या सपृक्त सम्बन्ध स्वयसिद्ध समझा जाने लगा।[70] इस मान्यता का ही यह परिणाम हुआ कि आरम्भ के काव्य-शास्त्रियो ने 'शब्दार्थौ काव्यम्'[71] 'शब्दार्थौ सहित काव्यम्'[72] कह कर ही यह मान लिया था कि काव्य की परिभाषा पूर्ण हो गई। शब्द और अर्थ तथा इन दोनो के पारस्परिक सम्बन्धो का सस्कार उन्हे परपरा से प्राप्त तथा मान्य था। अर्थ निश्चित करने की प्रक्रिया मे महाभाष्यकार ने शब्द-शक्तियो का भी सकेत किया है।[73] उन्होने यह भी कहा है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बहुत कुछ लोक पर निर्भर करता है।[74] शब्द-प्रयोगो मे प्रयत्न करने वाले अप्रवीण तथा अकृतप्रयत्न भी प्रवीण हो सकते है।[75] यह अभ्यास की अपेक्षा प्रतिभा की ओर सकेत है।

भाष्यकार ने विविध प्रसगो पर ऐसे शब्दो का भी प्रयोग किया है, जो काव्य-विवेचन या उसके सिद्धान्त-निर्धारण मे व्यवहृत हुए है, जैसे—उपगीत, प्रगीत, ग्राम्य, प्रमत्तगीत, अप्रमत्तगीत, भोग, मगल शक्ति, कला, अनुभव्य और कल्पना आदि।[76] यद्यपि ये शब्द काव्यालोचन मे जिन अर्थो मे प्रयुक्त हुए है, उन्ही अर्थो मे यहा नही है, पर व्युत्पत्ति की दृष्टि से ये उसके बहुत समीप है। 'दुष्ट शब्द' या 'अपशब्द' से शब्द-दोषो पर विचार करने की प्रेरणा मिली होगी। च्युत-सस्कृति दोष तो स्पष्टत व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग ही है।

४. आदि कवि वाल्मीकि के काव्य-सम्बन्धी विचार

वाल्मीकि के रामायण का आरम्भ उस शैली मे हुआ है, जिसे आगे चल कर पौराणिक-शैली कहा गया। वाल्मीकि ने तप एव स्वाध्याय-निरत नारद से यह पूछा कि इस विश्व मे अनेक उत्तम गुणो से युक्त आदर्श चरित्र किसका है। नारद ने वाल्मीकि के सामने राम का आदर्श चरित्र सक्षेप मे प्रस्तुत किया और उनके द्वारा सम्पादित महान् कार्यो की रूप-रेखा भी दे दी।[77] नारद के चले जाने पर तमसा-तीरवर्ती वन-प्रान्तर मे विचरण करते समय कारुणिक मुनि ने निष्ठुर निषाद के बाण से विद्ध क्रौञ्च एव विलाप करती हुई क्रौञ्ची को देखा। उनका हृदय करुणाप्लावित

[69] वही, पृ० ५९।
[70] वही पृ० ६७ 'वागर्थाविव सपृक्तौ। रघुवश १।१
[71] [72] भामह और रुद्रट की काव्य परिभाषाये।
[73] समर्थ पद विधि २।१।१ का भाष्य।
[74] लोकत १।१।१ का भाष्य, पृ० ६४
[75] वही, पृ० ७३।
[76] द्रष्टव्य—क्रमश पृ० ८२, ८३, ३०५, ३६, ३६, ४७५, ६१, ३५६ तथा ६।८।३४, ३।६।१०७ और ४।२।७० का भाष्य।
[77] वाल्मीकि रामायण, बा० का० १।१-९८

हो उठा और उनके हृदय का शोक ही श्लोक[७८] के रूप मे फूट पडा। अनायास शोकोद्भूत अपनी इस वाणी पर वाल्मीकि स्वय चकित हो उठे। पादबद्ध, समान अक्षरों से युक्त और वीणा की लय से समन्वित इस प्रथम कविता को शोकोत्थ होने के कारण उन्होंने 'श्लोक' कहा और इसके अन्यथा न होने का स्वय ही सहज आशीर्वाद भी दे दिया।[७९]

आश्रम में लौटने पर मुनि ध्यानमग्न हो गए। उसी समय वहा चतुर्मुख ब्रह्मा पधारे और मुनि की जिज्ञासा शान्त करते हुए उन्होंने धर्मात्मा, गुणवान् और बुद्धिमान् उस राम के चरित-वर्णन की सम्मति दी, जिसकी सक्षिप्त रूप-रेखा नारद ने प्रस्तुत की थी। यद्यपि नारद-वर्णित राम-कथा कुछ व्यक्त और कुछ अव्यक्त थी, पर ब्रह्मा ने यह सकेत कर दिया कि अविदित भी विदित हो जाएगा।[८०]

शिष्यो सहित बार-बार उस श्लोक के गाने पर मुनि के हृदय में वही शोक उमड आया और वे 'भावितात्मा' हो गए।[८१] उन्होंने यह समझ लिया कि इसी भाव-निमग्नता मे सम्पूर्ण रामायण-काव्य की रचना हो जाएगी। आरम्भ मे मुनि ने काव्य-योजना के रूप में सौ श्लोको की रचना की। ये सभी उसी अनुष्टुप् छन्द मे थे, जिसमें 'मा निषाद' श्लोक अभिव्यक्त हुआ था।[८२]

आदि काव्य की रचना के उक्त कारणो के वर्णन के उपरान्त, रामायण मे यह भी कहा गया है कि रामचरित के अवगत अश (रावण-वध-पर्यन्त) की कथा, जब वाल्मीकि ने पूरी कर ली तब उस पाठ्य, गेय और माधुर्य-सम्पन्न काव्य को उन्होंने कुश और लव को वीणा पर ऋषियो की गोष्ठी मे गाने का आदेश दिया।[८३] इसे सुन कर वहा उपस्थित सभी ऋषि-मुनियों की आँखें भर आई और उन्होंने गीत की मधुरता के साथ-साथ श्लोको के वैशिष्ट्य की भी प्रशसा की। मुनि वाल्मीकि द्वारा प्रणीत इस आख्यान को उन्होने एक आश्चर्य, परवर्ती कवियो के लिए आधार तथा गीतों मे श्रेष्ठ गीत कहा।[८४]

रामायण की कुछ अन्य विशेषताओ का सकेत उत्तरकाण्ड मे मिलता है। इस रामायण को दूसरी बार कुश-लव ने राम के दरबार मे गाया, जहा छन्दोविद् भी थे और अनेक वर्गो के व्यक्ति भी उपस्थित थे। यही रामायण का मान

७८ मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगम शाश्वती समा।
यत्क्रौञ्च मिथुनादेकमवधी काम मोहितम्॥ रामा० १।२।१५

७९ वा० रा० १।२।१८

८० वही १।२।१३, ३२,३३,३५

८१ वही १।२।४१

८२ वही १।२।४२

८३ रसै शृगार-करुण-हास्य-रौद्र-भयानकै।
वीरादिभिश्च सयुक्त काव्यमेतदगायताम्॥ वा० रा० १।४।९

८४ वा० रा० १।४।२६-२७

चौबीस हजार श्लोक बतलाया गया है।[८५] उत्तरकाण्ड मे ही उस लोकापवाद और लोक-भय का उल्लेख मिलता है, जिसके कारण राम द्वारा सीता का त्याग किया गया।[८६] उत्तरकाण्ड अनागत का वर्णन है, अत कवि द्वारा भावी घटनाओ का भी वर्णन सम्भव है, इसका सकेत मिलता है।[८७] रामायण के अन्तिम सर्ग मे कृति के श्रवण का फल निर्देश है। इसमे रामायण को आदि काव्य एव आर्ष कहा गया है। वैष्णव-भक्ति की भावना का सम्बन्ध भी रामायण से जोड दिया गया है।[८८]

वाल्मीकि रामायण के इन प्रासगिक कथनो को एक साथ रख कर देखने पर काव्य के सम्बन्ध मे वाल्मीकि का एक निश्चित दृष्टिकोण और सिद्धान्त मूर्त हो जाता है—

करुणा हृदय की मूलवृत्ति है। कारुणिक हृदय ही सवेदन-शील हो सकता है, वही दूसरो के दु ख से प्रभावित और विगलित होता है। काव्योत्पत्ति के मूल मे यह सवेदना ही कार्य करती है। हृदय को अभिभूत कर देने वाले दृश्य ही वे प्रेरक तत्त्व हैं, जिनसे काव्य का सृजन सम्भव होता है। भावितात्मा की स्थिति मे ही स्मृतिजन्य और सर्जनात्मक कल्पना सक्रिय होती है। वही अविदित को विदित और अनवगत को भी अवगत कर देती है। शब्द, भावो को आकार देने वाले साधन मात्र है।

कविता या काव्य का सगीत-तत्त्व ही उसे छन्दो मे बाधता है। छन्द, पाठ्य होते हैं और गेय भी, यह गेयता उनका शृगार है। पाठ्य और गेय, दोनो प्रकार के छन्द, माधुर्य की अपेक्षा रखते हैं। यह माधुर्य काव्य के बाह्य-रूप मे जितना आवश्यक है, उतना ही उसके अन्त रूप मे भी। काव्य मे गीति-तत्त्व का समावेश, उसे मधुर और जन-मन-हारी बनाता है।

वाणी और भावो की सार्थकता काव्य के सृजन मे ही सिद्ध होती है। आदर्श और वीर चरित ही काव्य के मुख्य वर्ण्य है। उस चरित के एकाध दोष भी कवि द्वारा परिमार्जित किए जा सकते हैं।

किसी भी काव्य के वास्तविक परीक्षक, सहृदय-पाठक और श्रोता ही हैं। यदि वे विद्वान् और छन्द-मर्मज्ञ हो तो और भी उत्तम है। इन काव्य-श्रोताओ के तीन वर्ग हैं—ससार से विरक्त कारुणिक मुनि, जन-साधारण तथा राज-सभा के विद्वान् और काव्य-मर्मज्ञ। उत्तम काव्य वही है, जो इन तीनो वर्गो के सहृदय-हृदय को प्रभावित कर उन्हे अश्रु-प्लावित कर सके।

८५ वा० रा० उ० ९४।२५-२६

८६ वही, उ० ९७।४

८७ वही १।३।३९

८८ सर्व पापात् प्रमुच्येत् विष्णुलोक स गच्छति।
आदि काव्यमिद त्वार्ष पुरा वाल्मीकिना कृतम् ॥उ० १११।१५, १९-२५

काव्य का स्थायी भाव या उसकी आत्मा शोक या सवेदना ही है, उसी से रस की धारा प्रवाहित होती है। यह एक सवेदना ही नाना रूप ग्रहण कर शृ गार, हास्य, करुण आदि रसो की अभिव्यजना मे समर्थ होती है, रस ही काव्य का प्राण या उसकी आत्मा है।[८९]काव्य का अध्ययन 'वाग्-ऋषभत्व' के लिए आवश्यक है।

काव्य, सवेदनशील-हृदय का स्वत -स्फूर्त उद्‌गार है। भाव ही उसका मुख्य तत्त्व है, शब्द केवल साधन मात्र हैं। काव्य का प्रयोजन वाणी की सार्थकता, आत्म-सुख, यश, और वीर-चरित का गान है। सहृदय-हृदय ही उसका परीक्षक है। रस ही काव्य की आत्मा है, उन रसो मे भी करुण।[९०]

रामायण आर्ष एव आदिकाव्य है। वह परवर्ती कवियो और काव्यो के लिए आधार और आदर्श ग्रन्थ रहा है। दण्डी ने तो रामायण को ही आदर्श मान कर काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया है। रामायण की कतिपय विशेषताओ का उल्लेख प० बलदेव उपाध्याय ने इस प्रकार किया है —

लौकिक सस्कृत मे व्यवहृत होने वाले सम अक्षरो से युक्त अनुष्टुप् का प्रयोग सर्वप्रथम वाल्मीकि ने ही किया। इसमे गुरु-लघु का निवेश नियमबद्ध था।[९१] वस्तु-तत्त्व के दर्शन से ऋषित्व की प्राप्ति हो जाती है। कवि की कल्पना मे दर्शन के साथ वर्णना का भी मनोरम सामजस्य होता है, और इस कल्पना के जनक स्वय महर्षि वाल्मीकि ही हैं। 'काव्य का जीवन रस है, काव्य का आत्मा रस है, इसे साहित्य-ससार ने तभी सीख लिया, जब आदि कवि की आदि कविता के रसामृत का उसने पान किया।' रामायण का ही विश्लेषण कर आलकारिको ने महाकाव्य का लक्षण प्रस्तुत किया है। वाल्मीकि समग्र कवि-समाज के उपजीव्य हैं।[९२]

काव्य के स्वरूप-निर्धारण मे वाल्मीकि के रामायण का महान् योगदान है। सदेश या दूत-काव्य का स्वरूप भी उसमे उपलब्ध हो जाता है। शृ गारिक काव्यो के लिए भी उसमे अनेक उपकरण जुटा दिये गए हैं।[९३]

८९ काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे पुरा।
क्रौंचद्वन्द्व वियोगोत्थ शोक श्लोकत्वमागत ॥ ध्वन्यालोक १।५

९० रामायणे हि करुणो रस। ध्वन्यालोक, उद्योत ४, पृ० २३७
भवभूति, उत्तर रामचरित मे—एको रस करुण एव।

९१ सस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६९

९२ वही, पृ० ७५-७८

९३ द्रष्टव्य—रामायण के वशानुचरित, हनुमत्सदेश, विविध—विलाप-वर्णन कौशल्या और सीता के उपालम्भ तथा चित्रकूट, हेमन्त, प्रावृट्, शरद् एव पपा आदि के वर्णन और शृ गारिकता के लिए उत्तरकाण्ड का बयालीसवा सर्ग।

५. निष्कर्ष

काव्य-सिद्धान्तो को स्पष्ट रूप मे प्रस्तुत करने वाला उपलब्ध प्रथम ग्रन्थ भरत-मुनि का 'नाट्य्-शास्त्र' ही है। नाट्य-शास्त्र से पूर्व ही वाल्मीकि का रामायण निर्मित हो चुका था। वैदिक-साहित्य मे प्रसगवश चर्चित शब्दावली है— वाक्, मन, यज्ञ, प्राण, कवि, कर्ता, रस, सकल्प, छन्द, हृदय, मिथुनीभाव, कला, इतिहास, पुराण, कीर्ति, श्लोक, ऋतु-गीत, कल्पना-शक्ति, कवि-सामर्थ्य, लोक-हृदय से कवि-हृदय का सामजस्य, साधारणीकरण, भूमा, भूमा-सुख, श्रेय, प्रेय, काव्य की सत्य-दृष्टि आदि।

आदि कवि वाल्मीकि के रामायण मे काव्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी उपकरण एव शब्दावली है—उत्तम काव्य-नायक के गुण, आदर्श-वीर-चरित, चरित-दोष, पाठ-फल तथा कारुणिक, शोक, श्लोक, पादवद्धता, गेय, शब्द की श्लोक-प्रवृत्ति, सरस्वती (वाणी), अविदित की अवगतता, भावितात्मा, अनुष्टुप् छन्द, पाठ्य, माधुर्य, श्रोता, प्रभावित-हृदय, अश्रु, आश्चर्य, गीतो का गीत, छन्दोविद्, करुणा, सवेदना, वाणी की सार्थकता, काव्य-सृजन की प्रेरणा, रस, सदेश, अलकृति आदि।

व्याकरणो एव पतजलि के महाभाष्य मे विवेचन के लिए गृहीत शब्दावली है—नाट्य-कर्ता, कविता, सग्रह, वाग्योगवित्, शब्द-देव, अर्थ-तत्त्व, शब्द-शक्ति, उपगीत, प्रगीत, ग्राम्य, प्रमत्तगीत, अप्रमत्त गीत, भोग, मगल, शक्ति, कला, अनुभव और कल्पना आदि।

विज्ञ-जनो मे इस शब्दावली का प्रयोग तो होता ही था, वे इसके भीतर निहित अर्थो से भी परिचित थे। इस शब्दावली ने ही काव्य-शास्त्रीय विचारो की पूर्व पीठिका तैयार की, जिस पर आचार्यो एव लक्षण-ग्रन्थकारो ने उत्तरोत्तर काव्य-तत्त्वो और उनके आधारभूत सिद्धान्तो को एक सुव्यवस्थित रूप दिया। स्वय आदि आचार्य भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र की रचना करते समय पूर्व-परम्परा से प्राप्त इन विचारो को आदर के साथ ग्रहण किया और रस-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। यह रस-सिद्धान्त सभी काव्य-सिद्धान्तो से प्राचीन है और इसके स्वरूप को स्पष्ट करने वाला भरत का नाट्य-शास्त्र वस्तुत सभी परवर्ती काव्य-सिद्धान्तो का मूल-स्रोत एव लक्षण-ग्रन्थो का वेद ही है। भरत मुनि ने रस-विवेचन के साथ-साथ अन्य काव्य-तत्त्वो का भी परिचय दिया है। युग-विशेष मे जो काव्य-प्रवृत्ति प्रमुख बनी, उसे सिद्धान्त का महत्त्व प्राप्त हो गया। क्षेमेन्द्र (१२वी शती) के समय तक भारतीय आचार्यो द्वारा ऐसे ६ काव्य-सिद्धान्तो की प्रतिष्ठा की जा चुकी थी।

२ काव्य-सिद्धान्त और उनका स्वरूप

राजशेखर ने काव्य-शास्त्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक रोचक कथा प्रस्तुत कर भगवान शंकर को इसका प्रवर्तक माना है। उन्होंने ब्रह्मा को और ब्रह्मा ने देवताओं तथा ऋषियों को इस शास्त्र का उपदेश दिया था। अठारह उपदेशकों ने अठारह पृथक्-पृथक् अधिकरणों की रचना कर इस शास्त्र को पूर्ण आकार दिया। भरत ने रूपक का, नन्दिकेश्वर ने रस का, धिषण ने दोष का तथा उपमन्यु ने गुण का सर्वप्रथम निरूपण किया।[1] दण्डी ने पूर्व के आलंकारिकों में काश्यप और ब्रह्मदत्त का भी नाम आता है। पाणिनि ने नट सूत्रकार कृशाश्व और शिलालिन् का उल्लेख किया है। यास्क ने उपमालंकार का विस्तृत वर्णन किया है। इन तथ्यों से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि कृति के रूप में या प्रसंगवश काव्य-शास्त्र के विविध अंगों का विवेचन किया जाता था, किन्तु भरत के नाट्यशास्त्र को छोड़कर अन्य काव्य-शास्त्र-विवेचक कोई भी प्राचीन कृति इस समय उपलब्ध नहीं होती। अग्नि-पुराण में अलंकार-शास्त्र का एक रूप मिलता है, परन्तु उसे भरतपूर्व नहीं माना जाता। चौथी शती के शिलालेखों और काव्यों में अलंकार-प्रयोग की बढ़ती हुई प्रवृत्ति अलंकार-शास्त्र के प्रभाव की परिचायिका है।

आलंकारिकों के सामने मुख्य विषय काव्य की आत्मा का विवेचन था। काव्य की आत्मा के अन्वेषण में ही भारतीय आचार्यों द्वारा विविध काव्य-सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की गई। कुछ आचार्यों द्वारा इन्हीं विचारों की पुष्टि की गई। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं[2]—

१ रस-सिद्धान्त—इसके प्रवर्तक भरत मुनि हैं तथा इसके पोषक आचार्यों में लोल्लट, शंकुक, नायक और अभिनव गुप्त मुख्य हैं।

२ अलंकार-सिद्धान्त—इसके प्रवर्तक का तो पता नहीं, किन्तु मुख्य आचार्य भामह हैं और उद्भट तथा रुद्रट का नाम समर्थकों में गिना जाता है।

१ [illegible] पृ० १६४
२ [illegible] पृ० २१८-१६

३. गुण या रीति-सिद्धान्त—इसके प्रवर्तक तो वामन हैं, किन्तु पूर्व-व्याख्याता दण्डी को माना जाता है।

४ वक्रोक्ति-सिद्धान्त के प्रवर्तक कुन्तक हैं।

५ ध्वनि-सिद्धान्त—इनके प्रवर्तक आनन्दवर्धन और पोषक आचार्य अभिनव गुप्त हैं।

६. औचित्य-सिद्धान्त—इनके प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र और पोषक आचार्य मम्मट हैं।

इन आचार्यों ने केवल काव्यात्म-विवेचन ही नही किया, अपितु काव्य के विविध अगो पर भी विस्तृत प्रकाश डाला है। काव्य-सृजन की प्रेरणा से लेकर काव्य की आत्मा के निश्चयन तक जितने भी काव्य-शास्त्रीय विचार हो सकते हैं, उन सबकी अभिव्यक्ति विविध आचार्यों द्वारा की गई है। यहा उन पर एक विहगम-दृष्टि ही डाली जा सकती है—

१. काव्य-रचना की प्रेरणा और प्रयोजन

भरत मुनि ने नाट्य-रचना की प्रेरणा के मूल मे मनोरजन को प्रमुखता दी है।[३] भामह ने काव्य-रचना की प्रेरणा के मूल मे चतुर्वर्ग की सिद्धि, कलाओ मे चतुरता तथा प्रीति और कीर्ति को प्रमुख माना है।[४] दण्डी ने महाकाव्य की रचना मे चतुर्वर्ग-सिद्धि को ही प्रेरक तत्त्व माना है।[५] वामन ने प्रीति और कीर्ति के साथ अकीर्ति-विनाश की इच्छा को भी जोड दिया है।[६] रुद्रट कवि के साथ-साथ नायक की कीर्ति-विस्तार का भी समावेश कर लेते है। धन-प्राप्ति, विपत्ति-नाश, असाधारण आनन्द और वाणी की सार्थकता को भी वे प्रेरक तत्त्व मानते हैं।[७]

कुन्तक ने सुकुमार-क्रम से धर्मादि साधन के अतिरिक्त काव्य के प्रयोजनो मे अभिजात-वर्ग का हृदयाह्लाद तथा अन्तश्चमत्कार का विस्तार जोड कर नवीनता उत्पन्न की है।[८] महिम भट्ट श्रव्य और दृश्य, दोनो प्रकार के काव्यो को विधि-निषेध ज्ञान का विधायक मानते है।[९]

आचार्य मम्मट ने पूर्वाचार्यो द्वारा व्यक्त सभी प्रेरक काव्य-प्रयोजनो को एकत्र कर दिया है। इनकी दृष्टि मे यश की प्राप्ति, सम्पत्ति-लाभ, सामाजिक व्यवहार की

३ नाट्य-शास्त्र, १।११, १२
४ भामहालकार, १।२,३
५ काव्यादर्श १।१५
६ काव्यालकार सूत्र वृत्ति १।१-२
७ काव्यालकार १।४,६,८,१३
८ वक्रोक्ति जीवित, १।३-५
९ व्यक्ति-विवेक, पृ० ९५-९६

शिक्षा, अकल्याण-नाश, आनन्दानुभव और कान्तासम्मित उपदेश काव्य-रचना के प्रयोजन हैं।[10] विश्वनाथ ने उक्त प्रयोजनो को ही गिना दिया है।[11]

इन भारतीय आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट काव्य-प्रयोजन हैं—१. मनोरंजन, २. धर्म, सिद्धि, मृदु धर्मोपदेश, अधर्म-निवृत्ति, ३ अर्थ-सिद्धि या धन-लाभ, ४ काम-सिद्धि, ५. मोक्ष-सिद्धि, ६ कीर्ति, कीर्ति-विस्तार, अकीर्ति नाश और अमरत्व लाभ, ७ वाणी की सार्थकता, ८ अन्तश्चमत्कार का विस्तार, ९ प्रीति, आनन्दानुभव, आह्लादन, १० कला-कुशलता, ११, विपत्ति-विनाश, रोग-मुक्ति, १२ लोक-वृत्त और विधि-निषेध का ज्ञान या शिक्षा, १३. परोपकार की भावना।

इन सभी प्रयोजनो को चतुर्वर्ग की सिद्धि के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है। ये प्रयोजन कवि-निष्ठ भी हैं और पाठक या सहृदय-निष्ठ भी। इनमे से कुछ तो काव्य-नायक-निष्ठ भी हैं। उदाहरणार्थ, कीर्ति को ले लिया जाय। कवि को भी कीर्ति मिलती है और काव्य-मर्मज्ञ को भी, साथ ही काव्य के नायक की भी ख्याति मे वृद्धि होती है। उदाहरणार्थ, रामचरित मानस या पृथ्वीराज रासो के कवि, पाठक और नायक को ध्यान मे रखा जा सकता है।

२. काव्य के हेतु या साधन

भामह के मतानुसार कवि को काव्य-रचना के लिए शब्द, कोष-प्रतिपादित-अर्थ, छन्द, अलकार, इतिहास-कथा, लोक-व्यवहार, युक्ति और कलाओ के ज्ञान के साथ-साथ दूसरो के निबन्धो को भी देखना चाहिए।[12] दण्डी ने नैसर्गिकी प्रतिभा, बहुश्रुतता, अभ्यास और काव्यानुशीलन को काव्य का हेतु माना है।[13] वामन ने काव्य के साधनो की एक विस्तृत सूची दी है, जिसमे लोक-व्यवहार-ज्ञान, समस्त विद्याओ का ज्ञान, काव्य-ज्ञान, स्वाभाविक प्रतिभा और उद्योग रूप 'प्रकीर्ण' को मुख्य साधन कहा गया है।[14] इन्होंने निर्जन स्थान और रात्रि के चतुर्थ प्रहर को भी इनके साथ ही गिन दिया है। रुद्रट ने शक्ति (सहजा और उत्पाद्या प्रतिभा), व्युत्पत्ति और अभ्यास को सुन्दर काव्य के निर्माण का हेतु माना है और शास्त्र, लोक तथा कला के परिज्ञान का समावेश व्युत्पत्ति मे कर दिया है। इनके विचार से काव्याभ्यास का उपयुक्त स्थल सुजन-सुकवि का सान्निध्य ही है।[15] आनन्दवर्धन विशिष्ट प्रतिभा को

१० काव्य प्रकाश १।२
११ साहित्य-दर्पण १।२
१२ काव्यालकार १।९,१०,१५
१३ काव्यादर्श १।१०३,१०५
१४ काव्यालकार सूत्रवृत्ति—१।३।१,८,९,१६
१५ काव्यालकार १।१४-२०

ही कवित्व का बीज मानते हैं। यदि कवि मे प्रतिभा-गुण है तो ध्वनि के आश्रय से काव्य के (वर्णनीय और रमणीय) अर्थो की कभी समाप्ति ही नही हो सकती।[१६]

राजशेखर ने बुद्धि के तीन प्रकार—स्मृति, मति और प्रज्ञा—मानकर यह स्पष्ट किया है कि अनुभूत विषयो का स्मरण स्मृति से, वर्तमान विषयो का मनन मति से तथा नवोन्मेष भविष्य-दर्शिनी प्रज्ञा से होता है। एकाग्रता, अनुशीलन और अभ्यास से भी कवित्व-शक्ति उत्पन्न होती है। प्रज्ञा को ही उन्होने शक्ति कहा है, इसे वह प्रतिभा और व्युत्पत्ति से भिन्न मानते हैं। इनके विचार से शक्ति कर्तृरूप तथा प्रतिभा और व्युत्पत्ति कर्मरूप हैं। प्रतिभा काव्य-सामग्री प्रतिभासित करती है। प्रतिभा दो प्रकार की होती है, कारयित्री और भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा, सहजा (जन्मजात), आहार्या (अभ्यासजन्य) और औपदेशिकी (उपदेश-प्राप्त) रूप से तीन प्रकार की होती है। भावयित्री प्रतिभा, भावक या आलोचक का उपकार करती है। कवि के लिए प्रतिभा और व्युत्पत्ति, दोनो की समान रूप से आवश्यकता होती है।[१७]

मम्मट ने शक्ति, लोक-शास्त्र-काव्यादि का अवलोकन, निपुणता, किसी काव्यज्ञ से शिक्षा-प्राप्ति तथा अभ्यास को काव्य का हेतु कहा है।[१८] अन्य परवर्ती आचार्यों ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को मुख्य रूप से तथा अन्य हेतुओ को गौण रूप से चर्चा का विषय बनाया है। राजशेखर ने कवित्व की आठ माताओ का उल्लेख किया है, जिनमे इन हेतुओ के साथ स्वास्थ्य, उत्साह और दृढता को भी गिन लिया है।[१९]

३ काव्य और उसका स्वरूप

कवि की कृति ही काव्य है। कवि, सामान्य मानव प्राणी से विशिष्ट होता है। उसका हृदय अधिक सवेदनशील होता है और उसमे सूक्ष्म-निरीक्षण की शक्ति अपेक्षाकृत अधिक होती है। व्यक्तियो, दृश्यो एव घटनाओ से प्राप्त अनुभूतियो के ग्रहण मे तो वह समर्थ होता ही है, उन अनुभूतियो को प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास द्वारा वाणी के माध्यम से अभिव्यक्ति देने मे भी सक्षम होता है। पदावली उसके संकेत पर नृत्य करती है। वह साधारण मे असाधारण-चमत्कार उत्पन्न कर सकता है। सृजनशील होने से वह कवि, मनीषी, स्वयभू आदि कहलाता है। ब्रह्म द्वारा निर्मित इस दृश्य-जगत् से भी मनोरम, वह भाव-जगत की सृष्टि कर सकता है। उसकी सर्जनात्मक कल्पना, इस जगत की कुरूपता एव त्रुटियो को दूर कर उसे सुन्दर, भव्य एव पूर्ण बना सकती है। ऐसे ही समर्थ कवि के जीवन के अन्यतम क्षणो

१६ ध्वन्यालोक १।५ और ४।६
१७ काव्य मीमासा—पृ० २४-३३
१८ काव्य प्रकाश १।३
१९ काव्य-मीमासा, पृ० १२१

की मधुर अभिव्यक्ति काव्य का स्वरूप ग्रहण करती है। अभिव्यक्ति के आकार, भाषा और शैली-भेद से इस काव्य के अनेक रूप हो सकते है, पर सभी मे इस जगत के भ्रान्त-क्लान्त मानव-मन को विश्राम देकर उसे अलौकिक आनन्द मे निमज्जित कराने की क्षमता होती है। मानव-हृदय के उस अन्तर्तम क्षेत्र को भी कवि की वाणी आलोकित कर सकती है, जहा रवि-शशि की गति नही है। काव्य के इस स्वरूप को प्रकट करने के लिए ही विविध आचार्यो ने इसे विविध परिभाषाओ मे बाधने का प्रयास किया।

४. काव्य की परिभाषा

भरत मुनि ने काव्य के अन्यतम अग दृश्य-काव्य को ध्यान मे रखकर कहा है कि काव्य कोमल और ललित पदावली से सम्पन्न होना चाहिए। उसमे गूढ शब्दार्थ द्वारा क्लिष्टता न आए और सबके लिए सरलता से समझने योग्य हो। वह सधियो से सम्पन्न हो और उसमे रसदान की क्षमता होनी चाहिए। अग्निपुराण के अनुसार अभीष्ट अर्थ को व्यक्त करने वाली पदावली से सम्पन्न सक्षिप्त वाक्य ही काव्य है। उसमे अलकारो का स्फुरण, गुण-युक्तता एव दोष-विहीनता भी हो। भामह की दृष्टि मे काव्य, शब्दार्थ सहित होता है। रुद्रट का भी यही मत है। वामन ने शब्दार्थ के साथ गुण और अलकार को भी सम्मिलित कर लिया।[२०]

इन परिभाषाओ मे काव्य के मूल आधार शब्द और अर्थ को ही महत्त्व दिया गया और बाद मे गुण और अलकारो की उपस्थिति तथा दोषो की अनुपस्थिति की अनिवार्यता स्वीकार कर सौन्दर्य और निरवद्यता की ओर ध्यान दिया गया। आनन्दवर्धन के समय तक काव्य की आत्मा का अन्वेषण आरम्भ हो चुका था, अत. परवर्ती परिभाषाओ मे अन्त सौन्दर्य को ही स्पष्ट करने का प्रयास किया गया। आनन्दवर्धन ने गुण और भाव को प्रधानता देते हुए भी काव्य मे प्रतीयमान अर्थ या व्यग्य की उपस्थिति को अनिवार्य माना।[२१] कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का प्रमुख तत्त्व मान कर आह्लादकारकता को प्रधानता दी।[२२] महिमभट्ट ने रस की अभिव्यक्ति करने वाले कवि-व्यापार को काव्य कहा।[२३]

अन्य आचार्यो की परिभाषाओ मे कोई नवीनता नही है।[२४] क्षेमेन्द्र ने अवश्य

२० नाट्यशास्त्र १।१२३-२४, अग्नि पुराण ३३७/१,६,७, काव्यालकार १।१६, रुद्रटालका और काव्यालकार सूत्रवृत्ति १।१

२१ ध्वन्यालोक १।१ ३।४१,४७

२२ वक्रोक्ति जीवित १।७

२३ व्यक्ति विवेक, पृ० ६५

२४ द्रष्टव्य-हेमचन्द्र काव्यानुशासन १।११, वाग्भट्टालकार अ० १। प्रताप रुद्रीय, पृ० ४२, काव्य प्रकाश १।४, ८।६६, सरस्वती कठाभरण ५।८

काव्य का स्थिरधर्म औचित्य को माना।[२५] विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य को काव्य कहा, माणिक्यचन्द्र ने इसी परिभाषा मे श्रुति-सुखदता जोड दी और जयदेव ने पूर्वाचार्यों द्वारा दी गई सभी विशेषताओं को एकत्र कर दिया।[२६]

यदि इन परिभाषाओं को समन्वित रूप दे दिया जाय, तो कहा जा सकता है कि शब्द और अर्थ के अविच्छिन्न सम्बन्ध से युक्त, श्रुति-सुखद, सुख-बोध्य, सक्षिप्त वाक्य काव्य कहलाता है, जिसका प्राण रस, अलकार, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति या औचित्य है, अलौकिक आनन्ददान जिसका लक्ष्य है तथा निर्दोष होने पर उसका भव्य रूप सामने आता है।

काव्यत्व का अन्वेषण पद-पद मे, वाक्य-वाक्य मे करने के कारण काव्य की व्यापक प्रवृत्तियो का सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक या राजनीतिक धरातल पर वैसा विवेचन न हो सका, जैसा आजकल होता है, परन्तु शैली एव गठन को लेकर जितना सूक्ष्म-विवेचन सस्कृत के आचार्यों ने किया है, वैसा और उतना विवेचन उस समय तक किसी भी भाषा मे नही हुआ है। आचार्य मम्मट ने ध्वनि-काव्य के १०४५५ भेद किए, पर इनका क्षेत्र वाक्य, शब्द और अर्थ की सीमा तक ही रहा। अन्य सामान्य वाक्यो से चमत्कारपूर्ण वाक्य का लोकोत्तरत्व ढूढना ही एकमात्र उद्देश्य दिखाई पडता है।

५ काव्य के भेद

काव्य के दो पक्ष है—अनुभूति और अभिव्यक्ति। अनुभूति को अभिव्यक्त करने के अनेक ढग हैं। एक कवि या नाटककार अपनी अनुभूति को किस तरह सहृदय-हृदय तक प्रेषित कर उसे रसमग्न करता है, इसी पर उसके काव्य का आकार-प्रकार निर्भर करता है। अत काव्य के जो अनेक रूप प्राप्त होते हैं, उनकी बहुविधता का मुख्य आधार, उनकी अभिव्यक्ति का आकार एव उनकी विविध शैलिया है। कवि द्वारा व्यक्त अनुभूतियो का ग्रहण सहृदय किस इन्द्रिय से करता है, इस आधार पर श्रव्य और दृश्य भेद किए गए। दृश्य-काव्य का पूर्ण रसास्वादन तभी हो पाता है, जब रगमच पर वह अभिनीत हो। अर्थ की रमणीयता के आधार पर श्रव्य-काव्य के उत्तम, मध्यम और अवर आदि भेद किए गए है। शैली के कारण गद्य, पद्य और चम्पू (गद्य-पद्य-मिश्रित) भेद किए गए। काव्य-बन्ध के आधार पर निबद्ध (प्रबन्ध) और अनिबद्ध (मुक्तक) भेद स्वीकृत हुए। इनके अनेक भेदो और उपभेदो की गणना सस्कृत के विविध आचार्यों द्वारा की गई है।[२७]

२५ औचित्य विचार चर्चा १।४

२६ वाक्य रसात्मक काव्यम्। काव्य प्रकाश की सकेत टीका मे माणिक्यचन्द्र, चन्द्रालोक १।७

२७ काव्य-भेदो के विस्तृत विवरण के लिए देखिए—चम्पू काव्य का आलोचनात्मक एव ऐतिहासिक अध्ययन, पृ० १०-२७

६ काव्य के गुण

आचार्य भरत ने गुणों को दोषों का विपर्यय माना है।[२८] गुण का लक्षण सर्वप्रथम वामन ने प्रस्तुत किया है। इनके मतानुसार काव्य के शोभाकारक धर्म ही गुण हैं और इनकी वृद्धि के हेतु अलंकार हैं। गुण नित्य हैं और उनके बिना काव्य की शोभा नहीं है। ये गुण ही शब्द और अर्थ के धर्म हैं। गुण, रस के आश्रित नहीं हैं, अपितु रस स्वयं कान्ति गुण के अंग हैं।[२९] ध्वनिकार ने गुणों को रसाश्रित मान कर वामन से असहमति प्रकट की। मम्मट ने ध्वनिकार का समर्थन करते हुए कहा कि आत्मा के शौर्यादि (गुणों) की भांति अंगीभूत रस के उत्कर्षकारी, अचल-स्थिति वाले धर्म भी गुण कहलाते हैं।[३०] परवर्ती आचार्यों ने गुण का यही लक्षण स्वीकार किया है। समन्वित रूप से यही कहा जा सकता है कि 'गुण' काव्य के उन उत्कर्ष-साधक तत्त्वों को कहते हैं जो मुख्य रूप से रस के और 'गौण' रूप से शब्दार्थ के नित्य-धर्म हैं। इनका वास्तविक आधार रस ही है, परन्तु व्यंजक रूप में वर्ण-गुम्फ, समास तथा रचना आदि भी गुण के आधार हैं। रस-धर्म के नाते गुण अपने सूक्ष्म रूप में चित्त-वृत्ति रूप हैं और स्थूल या मूर्त रूप में वर्ण-गुम्फ अथवा शब्द-घटना रूप हैं। द्रुति, दीप्ति, तथा व्यापकत्व नामक चित्तवृत्ति उसका आन्तर आधार-तत्त्व है तथा वर्णगुम्फ और शब्दगुम्फ बाह्य।[३१]

भरत ने गुणों की संख्या दस मानी है—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पद-सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता तथा कान्ति। वामन ने गुण तो ये ही दस माने हैं, किन्तु प्रत्येक के दो भेद—शब्द गुण और अर्थ गुण—कर इनकी संख्या बीस बना दी। भोज ने गुणों की संख्या चौबीस कर दी और प्रत्येक के बाह्य, आभ्यन्तर और वैशेषिक, इन तीन भेदों द्वारा इन्हें बहत्तर बना दिया। इनके नये गुण हैं—उदात्तता, और्जित्य, प्रेयस्, सुशब्दता, सौक्ष्म्य, गाम्भीर्य, विस्तार, संक्षेप, सम्मितत्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति तथा प्रौढ़ि। इनके वैशेषिक गुण, दोष हैं, जिन्हें सहज स्वीकृति पर गुण मान लिया गया है। भामह ने केवल तीन गुणों का अस्तित्व स्वीकार किया और ध्वनिवादियों ने भी रसास्वादन की स्थिति में चित्त की तीन अवस्थाओं—द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्व के आधार पर माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण को ही मान्यता दी। मम्मट ने परम्परागत दस गुणों में माधुर्य, ओज और प्रसाद को स्वीकार कर शेष का अन्तर्भाव इन्हीं तीन में कर दिया।[३२] माधुर्य को शृंगार, करुण और हास्य के लिए, ओज को वीर, वीभत्स तथा रौद्र के लिए और प्रसाद को सभी रसों के लिए उपयुक्त माना जाता है।

२८ नाट्य शास्त्र १६।९६
२९ काव्यालंकार सूत्रवृत्ति ३।१।१-३,१५
३० काव्य प्रकाश ८।१
३१ डा० नगेन्द्र, हिन्दी काव्यालंकार सूत्रवृत्ति की भूमिका, पृ० ५८-६२,६४
३२ काव्य प्रकाश ८।८६

वर्णगुम्फ की दृष्टि से टवर्ग को छोड कर शेष सभी वर्ण तथा ह्रस्व स्वरो के साथ र, ण और अनुस्वार माधुर्यगुण-व्यजक है। इसकी रीति वैदर्भी और वृत्ति उपनागरिका कहलाती है।

ओज गुण-व्यजक टवर्ग, श, ष तथा र और इनसे सयुक्त अक्षर है। इसकी रीति गौडी तथा वृत्ति परुषा कहलाती है।

प्रसाद गुण के व्यजक वर्ण है—य, र, ल, व, स, ह, समास-रहित पदावली उपयुक्त मानी जाती है। इसकी रीति पाचाली और वृत्ति कोमला कही जाती है। वर्णो का यह वर्गीकरण प्रयोग-बहुलता की दृष्टि से किया गया है, किसी भी गुण मे अन्य वर्णो का प्रयोग वर्जित नही है।

७ काव्य के दोष

भारतीय आचार्यो ने काव्य-दोष से बचने का निर्देश किया है। दण्डी ने कहा है कि काव्य मे रचमात्र दोष की भी उपेक्षा नही करनी चाहिए, क्योकि एक छोटा सा कुष्ठ का दाग भी सुन्दर से सुन्दर शरीर को कुरूप बना सकता है।[३३] भरत ने दोष की स्थिति को भावात्मक माना है।[३४] भामह का विचार है कि विशेष स्थिति मे दुष्ट-कथन भी शोभित होता है।[३५] वामन की दृष्टि मे काव्य-सौन्दर्य के वस्तुगत होने से दोष भी वस्तुगत ही है। ये बाह्य रूप की विकृतिया मात्र है, आन्तरिक चित्तवृत्ति के उद्वेग नही है।[३६]

ध्वनि-पूर्व काल मे दोषो के वास्तविक आधार शब्द और अर्थ ही रहे, पर उत्तर ध्वनि-काल मे रस-दोषो की भी गणना की गई। आनन्दवर्धन ने पाच रस-विरोधी तत्वो का उल्लेख किया है—(१) विरोधी रस के विभावादि का ग्रहण, (२) अन्य वस्तु का विस्तार से वर्णन, (३) असमय मे रस समाप्ति या अनवसर मे उसका प्रकाशन (४) रस पुष्टि के उपरान्त उसका पुन पुन उद्दीपन तथा (५) व्यवहार का अनौचित्य।[३७]

मम्मट के अनुसार मुख्य अर्थ के विघातक कारणो को ही दोष कहते है।[३८] इन्होने सैंतीस शब्द-दोष, तेईस अर्थ-दोष और दस रस दोष गिनाए है।[३९] इन सत्तर दोषो मे पूर्ववर्ती आचार्यो द्वारा परिगणित सभी दोषो का समावेश हो गया है।

पद दोषो मे श्रुति-कटु, च्युत-सस्कृति, अप्रयुक्त, असमर्थ, अप्रयुक्त, ग्राम्य आदि दोषो से कवि तो बचता ही है। इनमे सोलह पद-प्रयोग और इक्कीस वाक्य-प्रयोग को

३३ काव्यादर्श १।७
३४ नाट्यशास्त्र ७।६५
३५ भामहालकार १।५४
३६ हिन्दी का० सूत्र वृत्ति की भूमिका, पृ० ८२
३७ ध्वन्यालोक ३।१८-१९
३८ काव्य प्रकाश ७।४९
३९ वही सप्तम उल्लास।

दृष्टि से गिन गए हैं। अर्थ-दोषों का मूल्य आलोचक की दृष्टि से भी अधिक है। जब आलोचक किसी कविता या काव्य की अक्षमताओं की ओर इंगित करता है तो वह वस्तुत अर्थ-दोषों का उल्लेख करता है। जैसे—कवि अपने अभीष्ट अर्थ की पुष्टि नहीं कर सका है (अपुष्टार्थ)। उसका कथन दुरूह हो गया है (कष्टार्थ)। अर्थाभिव्यंजन में परस्पर-विरोधी कथन आ गए हैं (व्याहतत्व) आदि। यह प्रयोग ग्राम्य, अश्लील, लोक-विरुद्ध, संदिग्ध, क्रम-विहीन और नियम-विरुद्ध है, इस प्रकार के कथन अर्थ-दोषों की ही अभिव्यक्ति करते हैं। स्पष्टत प्राचीन आलोचना-पद्धति के स्वरूप- निर्धारण में पद, वाक्य, अर्थ और रस दोषों के निरूपण एवं अन्वेषण ने सर्वाधिक योग दिया है। किसी भी रचना में एक से अधिक दोष हो सकते हैं, पर काव्य की भव्यता तो उसकी दोष-रहितता में ही निखरती है।

८ काव्य सम्बन्धी अन्य विचार

भरत मुनि ने रसों के वर्ण और देवता आदि का उल्लेख किया है।[४०] वामन ने कवियों के दो प्रकारों का उल्लेख किया है—(१) अरोचकी (विवेकी) और (२) सतृणाभ्यवहारी (अविवेकी)।[४१] राजशेखर ने सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक के रूप में तीन प्रकार के कवियों का उल्लेख किया है और सारस्वत को ही सत्कारी कवि माना है।[४२] इसी प्रसंग में उन्होंने कुकवि की भी चर्चा की है। कवि न होना अच्छा है, परन्तु कुकवि नहीं होना चाहिए। कुकविता करना दुःख के साथ मृत्यु-सदृश है।[४३] भामह की दृष्टि में कुकाव्य की रचना में कवि उसी प्रकार निन्दा का पात्र बनता है जिस प्रकार एक पिता कुपुत्र उत्पन्न करके निन्दित होता है।[४४]

धनंजय के अनुसार काव्य, रसिक-परक होता है।[४५] निरन्तर काव्याभ्यास से कवि के वाक्यों में परिपक्वता आती है। पदों के प्रयोग में निर्भीकता या असंदिग्धता ही परिपाक है। एक बार जिस शब्द का प्रयोग किया गया, यदि उसमें परिवर्तन की आवश्यकता न पड़े, तो यह भी पाक है। इसी तरह वाक्य और काव्य-पाक भी होते हैं। महान् या पूर्ण-निर्दोष-काव्य का निर्माता महाकवि और विविध भाषा, प्रबन्ध तथा रस में सिद्ध कवि, कविराज कहलाता है। आशु-कवि अविच्छेदी कहलाता है। पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं की छाया पर काव्य-रचना करने वाला सेविता कहलाता है।[४६] कुन्तक ने

४० नाट्य शास्त्र ६।८२-८८
४१ काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, १।२।१
४२ काव्य मीमांसा, भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ० १३४-८६
४३ वही, पृ० २०८
४४ काव्यालंकार १।११-१२
४५ दशरूपक ४।८
४६ भारतीय का० शा० की परम्परा, काव्य मीमांसा, पृ० १३८-८६

न्यूनाधिक्य रहित शब्द और अर्थ के सुन्दर प्रयोग द्वारा मनोहारिणी स्थिति को उत्पन्न करना ही साहित्य का यथार्थ अर्थ माना है।[४७]

इस प्रकार प्राचीन आचार्यों द्वारा रस के वर्ण, देवता, विविध प्रकार के कवि, कुकवि, कुकाव्य काव्य की रसिक-परकना, पाक तथा साहित्य आदि पर भी विचार व्यक्त किए गए हैं।

६ रस-सिद्धान्त

'रस' शब्द का प्रयोग विविध अर्थों में वैदिक संहिताओं में भी मिलता है।[४८] कवि और काव्य के प्रसंग में भी रस का उल्लेख मिलता है।[४९] शतपथ ब्राह्मण में 'छन्द-रस' को सभी रसों में उत्कृष्ट कहा गया है और उसकी सरसता को इष्ट-सिद्धि का कारण माना गया है।[५०] रस से युक्त होकर स्वयं प्रजापति ने वेदत्रयी में रस का आधान किया। सामवेद को सब वेदों का रस माना गया है।[५१] तैत्तिरीय उपनिषद् में परमात्मा को रस-रूप कह कर उसे आनन्द का मूल कारण माना गया है।[५२]

यद्यपि वैदिक-साहित्य में रस-भेदों का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु शृंगार, हास्य आदि शब्द अपने मूल स्थायीभाव से सम्बद्ध अर्थों में ही प्रयुक्त हुए हैं।[५३] इसी वैदिक पृष्ठ-भूमि पर आचार्य भरत मुनि ने रस-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है। वे ही रस-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक और आदि आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने ही रस को सबसे ऊपर प्रतिष्ठित किया।[५४] रस शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से की जाती है, किन्तु काव्य में इसका अर्थ आस्वाद ही ग्रहण किया जाता है।[५५]

भरत मुनि के मतानुसार विभावादिकों से व्यंजित तथा नाना भावाभिव्यक्तियों या अभिनयों से सम्बद्ध स्थायी का ही सहृदय आस्वाद करते हैं, अतः भावों से ही रस की निष्पत्ति होती है। इस निष्पन्नता को आधार बना कर ही उन्होंने रस की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहा कि विभाव, अनुभाव, संचारी आदि नाना भावों के संयोग

४७ वक्रोक्ति जीवित १।१७

४८ ऋक ६।४।२२, ८।३।२०, ३।४८।१, ६।४७।३, साम ६।५।३, ६।१६।१, अथर्व १८।१।४८

४९ ऋक् ६।८४।५

५० छन्दसा रसो लोकानप्येष्यति। शत० १।२।४।१८, ४।३।२।५

५१ शत० १०।१।१।१, ४-६

५२ तैत्ति० २।७

५३ शृंगार—ऋक् १।१६३।८ (तुलनीय-नाट्यशास्त्र का शृंगार, अध्याय ६), हास-ऋक् १।१६६।२, करुण-ऋक् १।१००।७, वीर-ऋक् १।३०।५, भय-ऋक् १।४०।८ अद्भुत-ऋक् ४।१४२।१०, और रौद्र-ऋक् १०।३।१

५४ नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। नाट्यशास्त्र ६।३१

५५ रस् धातु आस्वादन और स्नेहन अर्थ में है।

में रस की निष्पत्ति होती है।[५६] रस-निष्पत्ति में विभाव कारण, अनुभाव कार्य तथा संचारी या व्यभिचारी भाव सहकारी कहलाते हैं। इन्हीं के द्वारा व्यक्त या निष्पन्न स्थायीभाव रस बनते हैं।[५७]

भरत ने रस की चर्चा नाटकों के प्रसंग में की है। जिससे अभिनयाश्रित बहुत से अर्थ व्यंजित होते हैं, वह विभाव है।[५८] विश्वनाथ ने श्रव्य-काव्य के प्रसंग में स्थायी भावों को उद्‌बुद्ध करने वाले कारणों को विभाव कहा और आलम्बन तथा उद्दीपन रूप में उनका परिचय दिया।[५९] विभाव के द्वारा उद्‌बुद्ध स्थायी भाव जिसके द्वारा अनुभव के विषय बनते हैं, उसे अनुभाव कहते हैं। अनुभाव हृदय-स्थित भावों के बोधक होते हैं। स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कम्प, विवर्णता, अश्रु और प्रलय सात्त्विक भाव माने जाते हैं।[६०] अनुभाव तो अभिनय-साध्य हैं, परन्तु सात्त्विक भावों की अभिव्यक्ति तब तक संभव नहीं है, जब तक सुख-दुःख आदि से प्रभावित अन्तःकरण की अनुकूलता न प्राप्त हो जाय। भरत ने इसे 'सत्त्व प्रभव' कहा है। यद्यपि आचार्य मम्मट और विश्वनाथ ने सात्त्विक भावों को भी अनुभाव के अन्तर्गत माना है,[६१] किन्तु क्रोध के उत्पन्न न होने पर भी भौंहें टेढ़ी की जा सकती हैं, पर कम्प, रोमांच आदि सात्त्विक भावों का अभिनय मनोनिवेश के अभाव में संभव नहीं है। अश्रुपात के लिए मन को किसी दुःख विशेष की अनुभूति में पूर्णतः डुबा देना आवश्यक है। मनोनिवेश का स्थिति-भेद ही अनुभाव और सात्त्विक भाव के मध्य अस्पष्ट रेखा खींचता है।

संचारी भावों की स्थिति अनियत होती है। ये स्थायी भाव के उपकारक होते हैं और उपकार करने के बाद वैसे ही विलीन हो जाते हैं, जैसे समुद्र में कल्लोल।[६२] आचार्यों ने इनकी संख्या तैंतीस गिनाई है—निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धैर्य, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जडता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, प्रबोध, अमर्ष, अवहित्थ, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क।

भोज और हेमचन्द्र ने कई अन्य संचारियों की गणना की है।[६३] रामचन्द्र ने इनसे भी अधिक संचारी भावों का उल्लेख किया है। इन्होंने स्थायी तथा अनुभावों को भी परिस्थिति के अनुकूल व्यभिचारी कहा है।[६४] भोज के अनुसार भी न तो आठ

५६ नाट्यशास्त्र ६।३२-३३ 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'
५७ का० प्र० ४।२७-२८
५८ नाट्यशास्त्र ७।४
५९ साहित्य दर्पण ३।२९
६० नाट्य शास्त्र ६।२२, दशरूपक ४।४-६
६१ साहित्य दर्पण ३।१
६२ दशरूपक ४।७, नाट्यशास्त्र ३।७
६३ सरस्वती कण्ठाभरण ५।१६-१७, काव्यानुशासन, पृ० ८६
६४ नाट्यदर्पण कारिका १२९ पर वृत्ति।

स्थायी हैं न आठ सात्विक, न तैंतीस व्यभिचारी, क्योंकि इन उनचास भावो मे कोई भी भाव, कभी स्थायी, कभी व्यभिचारी और कभी सात्विक हो सकता है, अत अवस्था-विशेष मे सभी व्यभिचारी होते हैं।[६५] अभिनव गुप्त को स्थायी का व्यभिचारित्व तो मान्य है, परन्तु व्यभिचारी भावो का स्थायित्व मान्य नही है।[६६]

भानुदत्त ने छल को सचारी भावो मे गिना है,[६७] जिसे देव कवि की विशेषता मानी जाती है। रूप गोस्वामी ने उक्त तैंतीस सचारी भावो के अतिरिक्त तेरह अन्य साधारण तथा रस-विशेष के कुछ और असाधारण सचारी भावो की गणना की है।[६८]

व्यभिचारी भावो को स्थायित्व प्राप्त होता है या नही, यह एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न है, और विवेचन-परम्परा मे विविध आचार्यो ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किए हैं।[६९]

(क) स्थायीभाव

जीवन मे प्राप्त अनुभव भले ही क्षणिक हो, पर उनके सस्कार स्थायी होते हैं। इसी सस्कार को वासना कहते है। उद्बोधक सामग्री के उपलब्ध होते ही यह जाग्रत हो जाती है। जाति, देश और काल के व्यवधान इसके जागरण मे बाधक नही होते।[७०] इसी सस्कार या वासना को स्थायीभाव कहते है। यह स्थायीभाव विरुद्ध या अविरुद्ध भावो से विना विच्छिन्न हुए दूसरे भावो को आत्मसात् कर लेता है। भावो मे स्थायीभाव महान् होता है।[७१] भरत ने आठ—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय—स्थायी भावो का उल्लेख किया और स्पष्ट किया है कि विभाव, अनुभाव और सचारी भावो के सयोग से स्थायी भाव आस्वाद्य बनते हैं और क्रमश. शृगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत कहलाते हैं।[७२] इन रसो का काव्य के प्रसग मे भी विवेचन हुआ और आगे चल कर निर्वेद (तत्त्वज्ञानजन्य) को भी स्थायी भाव मान कर 'शान्त' नामक नवम रस स्वीकार कर लिया गया।[७३]

६५ शृगार प्रकाश, पृ० ११, अभिनव भारती पृ० ३४५
६६ अभिनव भारती, पृ० ३४२
६७ रस तरगिणी, पृ० १२९
६८ भक्ति रसामृत सिन्धु, दक्षिण विभाग ४।७५-७६
६९ द्रष्टव्य—रुद्रटालकार १२।४, रुद्र भट्ट, शृगार तिलक १।१४, व्यक्ति विवेक, पृ० १३, सरस्वती कठाभरण ५।२३, रस तरगिणी, तरग ५, साहित्य दर्पण ३।१८२-८३
७० योगसूत्र ४।१०
७१ दशरूपक ४।३४
७२ नाट्यशास्त्र ६।१७,१५
७३ काव्य प्रकाश ४।३५

(ख) रसों की संख्या

१ शृंगार—इसके नायक-नायिका आलंबन, उपवन, ऋतु, चन्द्रादि उद्दीपन, भ्रू-विक्षेप, कटाक्षादि कायिक तथा स्वेद, रोमांच आदि सात्विक अनुभाव हैं। लज्जा, औत्सुक्य आदि संचारियों से परिपुष्ट रति स्थायीभाव का आस्वाद शृंगार रस है। यह संयोग और विप्रलम्भ दो प्रकार का होता है तथा इनके अनुभाव और संचारी दूसरे से भिन्न होते हैं।[७४]

२ हास्य—विकृत वेषधारी आलंबन, लौल्यादि उद्दीपन, प्रलापादि अनुभाव और श्रम आदि संचारी भाव हैं। इनसे पुष्ट हास स्थायीभाव हास्य रस बनता है। हास्य दो प्रकार का होता है—आत्मस्थ और परस्थ। दोनों के ही स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित तथा अतिहसित भेद होते हैं। स्मित, श्रेष्ठ हास्य है।[७५]

३ करुण—धन, स्वजन आदि का विनाश आलम्बन, उनके गुण आदि उद्दीपन, अश्रुपात, वैवर्ण्य आदि अनुभाव, निर्वेद, ग्लानि, दैन्य आदि संचारी भावों से परिपुष्ट शोक स्थायीभाव का आस्वाद करुण रस है।[७६]

४ रौद्र—शत्रु आलम्बन, उसके द्वारा किये गए अपकार उद्दीपन, ताडनादि अनुभाव तथा गर्व, आवेग आदि संचारी भाव हैं। क्रोध स्थायीभाव का रस ही रौद्र रस है।[७७]

५ वीर—युद्धवीर, दानवीर आदि के पृथक्-पृथक् आलंबन हैं। इनके क्रमश शत्रु, विद्वज्जन, दीन आदि आलंबन हैं। अपकार, गुण, कष्ट आदि उद्दीपन, शौर्य, दान, दया आदि अनुभाव, आवेग, हर्ष, चिन्ता आदि संचारी हैं। स्थायीभाव उत्साह है और उसका आस्वाद वीर रस है।[७८]

६ भयानक—हिंसक आलंबन, विकट कर्म उद्दीपन, कम्पन, पलायन, वैवर्ण्य आदि अनुभाव तथा आवेग, त्रास अपस्मार आदि संचारी हैं। भय रूप स्थायीभाव का परिणाम भयानक रस है।[७९]

७ वीभत्स—मलिन वस्तुएं आलंबन तथा दुर्गन्ध आदि उद्दीपन हैं। उद्वेजन, रोमांच आदि अनुभाव तथा आवेग, ग्लानि आदि संचारियों से परिपुष्ट जुगुप्सा रूप स्थायीभाव का आस्वाद वीभत्स रस है।[८०]

७४ नाट्यशास्त्र ६।४७
७५ वही ६।४९-६१
७६ वही ६।६२
७७ वही ६।६४
७८ वही ६।६७
७९ वही ६।६९
८० वही ६।७२

८ अद्‌भुत—दिव्य-दर्शन, माया या विस्मय-जनक कर्म आलवन एव उद्दीपन हैं। अपलक-दर्शन, रोमाच आदि अनुभाव, आवेग, सुप्त आदि सचारी है। इनसे परिपुष्ट विस्मय स्थायीभाव अद्‌भुत रस बनता है।[८१]

भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित इन आठ रसो के अतिरिक्त बाद मे कुछ और रसो को भी मान्यता प्राप्त हो चुकी है।

९ शान्त रस—तत्त्व-ज्ञान के कारण मिथ्या रूप से ज्ञात ससार आलबन, तपोवन आदि उद्दीपन, सम-दर्शन आदि अनुभाव तथा मति, धैर्य, हर्ष आदि सचारी हैं। तत्त्वज्ञान-जनित निर्वेद या शम इसका स्थायीभाव है।[८२]

१० वत्सल रस—विश्वनाथ ने वत्सल मे भी चमत्कार होने के कारण उसे रस माना है। पुत्र, पुत्री, अनुज आदि आलवन हैं, उनकी चेष्टा, विद्या, शौर्य आदि उद्दीपन तथा आलिगन, पुलक आदि इसके अनुभाव है। अनिष्ट की शका हर्ष आदि सचारी से परिपुष्ट वात्सल्य रूप स्थायीभाव वत्सल रस मे परिणत होता है।[८३]

११ भक्ति रस—भगवान् और उनके वल्लभ रूप आलवन, उनके गुण, चेष्टा, प्रसाधन आदि उद्दीपन, नृत्य-गीत, नेत्र-निमीलन आदि अनुभाव, रोमाच आदि सात्विक भाव तथा निर्वेद आदि सचारी है, इनसे परिपुष्ट भगवद्-रति रूप स्थायीभाव से साक्षात् परमानन्द स्वरूप भक्ति रस अभिव्यक्त होता है।[८४]

रसो की सख्या के सम्बन्ध मे प्राचीन आचार्यो मे पर्याप्त मतभेद है। अभिनव गुप्त के समय तक ९ रस स्वीकृत हो चुके थे। इनसे पूर्व ही उद्‌भट ने नाट्य मे ९ रसो को मान लिया था।[८५] रुद्रट शान्त रस का स्थायीभाव सम्यग्ज्ञान को मानते हैं।[८६]

वस्तुतः मुख्य ९ रसो के अतिरिक्त जिन अन्य रसो की चर्चा की जाती है, वे सर्वमान्य रस नही है। उनके स्थायी भावो के सम्बन्ध मे भी मत-साम्य नही दिखाई पडता। रूप गोस्वामी ने भक्ति रस को इतना महत्त्व दिया कि प्रमुख ९ रसो को भी उसी मे सहृत कर दिया।[८७] अभिनव गुप्त ने भक्ति रस को शान्त मे ही सम्मिलित कर लिया है। वे प्रीति, स्नेह, वात्सल्य आदि को स्थायी भाव ही नही मानते। हेमचन्द्र

८१ वही ६।७५
८२ साहित्य दर्पण ३।२३२-३३
८३ वही ३।२३५
८४ भक्ति रसामृत सिन्धु, दक्षिण विभाग १।५-६
८५ अभिनव भारती, पृ० २६६-६७,३३९-४१, काव्यालकार सार सग्रह ४।४
८६ रुद्रटालकार १६।१५
८७ भ० र० सि० लहरी १।७ उ० वि०

भी इन्हे भाव के रूप मे ही आस्वाद्य मानते हैं, रस के रूप मे नही।[८८] मम्मट, शार्ङ्गदेव और धनंजय इसी मत के हैं।

रसो की संख्या बढाने वालो मे भोज, रामचन्द्र, गुणचन्द्र, हरिपाल देव, भानुदत्त आदि हैं।[८९] रुद्रट के दृष्टिकोण से यदि आस्वाद्य होने के कारण ही कोई स्थायीभाव रसत्व प्राप्त करता है, तो सभी संचारी भाव अपनी प्रबलता मे रसत्व प्राप्त कर सकते हैं। नमि साधु ने रुद्रट के विचारो की व्याख्या करते हुए कहा है कि कोई भी मनोभाव रसत्व प्राप्त कर सकता है। भोज ने 'शृंगार-प्रकाश' मे इस विचार की पुष्टि करते हुए विस्तृत विवेचन किया है।[९०] रस-ध्वनि के विवेचन के प्रसंग मे आचार्य मम्मट ने यह स्वीकार किया है कि रसो के अनन्त भेद हो सकते हैं, पर नव मे रस को सामान्य मान कर उसका एक ही भेद माना।[९१]

रस-विवेचन की द्विविध गति रही। एक ओर तो उसकी संख्याएँ बढाई गईं और दूसरी ओर किसी एक रस को मुख्य मान कर शेष रसो का उसी मे अन्तर्भाव किया गया। एक ओर किसी भी प्रकार के मनोभाव को प्रकर्ष की स्थिति मे आस्वाद्य मान कर उसे 'रस' का नाम दिया गया और दूसरी ओर ९ रसो के अन्तर्गत ही सब को समाविष्ट करने की प्रवृत्ति बनी रही।

(ग) रस निष्पत्ति और रसानुभूति

भरत मुनि के रस-सूत्र की व्याख्या मे एक विशाल साहित्य तैयार हो गया है। स्वयं भरत ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार नाना व्यंजन, औषधि और द्रव्य के संयोग से मधुर, अम्ल आदि ६ रसो की निष्पत्ति होती है, उसी प्रकार विभाव, अनुभाव, संचारी आदि नाना भावो के संयोग से रस-निष्पत्ति होती हैं। इन्ही के संयोग से स्थायीभाव रसत्व प्राप्त करते हैं। आस्वाद्य ही रस है। विविध भावो के अभिनय से व्यंजित स्थायीभावो का आस्वाद सहृदय दर्शक करते हैं।[९२] रूपको के प्रसंग मे आलंबन जितना अपेक्षित है, उससे कम नही तो उतने ही अपेक्षित हैं, रंग-सज्जा, कायिक, वाचिक और सात्विक अनुभाव (इनका अभिनय) तथा संचारी भाव। ये ही स्थायीभावो को सहृदय के आस्वादन योग्य बनाते हैं, इनके संयोग से ही रस-निष्पत्ति होती है। भरत अपने विचारो मे अस्पष्ट नही हैं।

८८ अभिनव भारती, पृ० २४१, काव्यानुशासन, पृ० ६०

८९ स० क० ५।१६४, नाट्य दर्पण पृ० १६३, संगीतसुधाकर ४३, रस तरंगिणी-भानुदत्त।

९० रुद्रटालंकार १२।४, नमि साधु की व्याख्या, शृंगार प्रकाश १।११-१२

९१ काव्य प्रकाश ४।५७

९२ नाट्यशास्त्र ६।३२-३३

श्रव्य-काव्य मे आलवन, उद्दीपन, अनुभाव, सात्विक और सचारी वर्ण्य होते है, दृश्य नही, फिर भी वर्णन मे जितना ही इनका बिम्ब स्पष्ट होता है और दर्शक नही, पाठक के मानस-पटल पर वह उभरता है, हृदय को रसानुभूति की तन्मयता की ओर अग्रसर करता है। सवकी उपस्थिति से रस-निष्पत्ति वहा भी पूर्ण होती है।

'रस-निष्पत्ति' को आधार बनाकर भट्ट लोल्लट ने एक नई व्याख्या की। इनकी दृष्टि से साक्षात् रस की उत्पत्ति तो मूल पात्रो मे होती है। अनुकर्त्ता (नट आदि) मे उसकी प्रतीति होती है, जिसे देखकर सामाजिक को भी आनन्द मिलने लगता है। यह प्रतीति, शुक्तिका मे रजत की प्रतीति सदृश होती है। मूलपात्र के हृदयस्थ भावो के साथ सामाजिक के हृदयस्थित भावो का किसी प्रकार का सम्बन्ध न होने से सामाजिक मे रसानुभूति सभव नही हो सकती है, यही त्रुटि इसमे है।[६३]

शकुक के मतानुसार विभाव, अनुभाव और सचारी के सयोग से अनुमाप्य-अनुमापक भाव-सम्बन्ध द्वारा रस की निष्पत्ति अर्थात्, अनुमिति होती है। इन्होंने 'चित्र-तुरग' न्याय का उल्लेख किया है। चित्र मे तुरग न यथार्थ है न मिथ्या, न उसमे सशय है न सादृश्य, फिर भी तुरग का अनुमान हो जाता है। नट के अभिनय द्वारा कारण, कार्य और सहकारी स्वाभाविक लगने लगते है, अत. इनके साध्य-साधक भाव से स्थायी भावो का अनुमान होता है। यही रसानुमिति रस-निष्पत्ति है। अनुमिति परोक्ष-ज्ञान है, अत वह अपरोक्ष अनुभूति प्रदान करने मे समर्थ नही है। प्रत्यक्ष-ज्ञान ही चमत्कार-जनक होता है। अनुमान के अभाव मे भी सहृदय रसास्वादन करता है। शकुक के मत मे ये त्रुटिया है।

भट्ट शकुक और भट्ट लोल्लट के मतो का खडन भट्टनायक ने किया। इन्होने अभिव्यक्ति का भी निराकरण किया है। इनका कथन है कि अभिव्यक्ति तो पूर्व-सिद्ध वस्तु की ही हो सकती है, जबकि रसानुभूति अपने अनुभव-काल से पूर्व या पश्चात् अपना अस्तित्व नही रखती।[६४] इनके मतानुसार काव्य के विलक्षण शब्दो का अभिधा से अर्थज्ञान होता है, भावकत्व व्यापार से उस अर्थ का साधारणीकरण होता है और भोजकत्व व्यापार द्वारा सहृदय उसका आस्वादन करता है। यह भोग अथवा आस्वाद, अनुभव और स्मृति रूप यथार्थ-ज्ञान से विलक्षण सत्त्वोद्रेकजन्य होता है। यह परब्रह्मास्वाद-सहोदर एव आनन्दमय होता है।[६५]

अभिनव गुप्त ने भावकत्व और भोजकत्व व्यापारो को परम्परा-विरुद्ध और अनावश्यक मान कर यह स्पष्ट किया कि एक ही व्यजना-व्यापार से साधारणीकरण

६३ प्रत्यक्षमेव ज्ञान चमत्कारजनक नानुमित्यादि। ध्वन्यालोक [illegible]
६४ ध्वन्यालोचन २।४ की कारिका। पृ० ८२
६५ वही, पृ० ८३

और रसास्वाद की प्रक्रिया सम्भव है। लोक में हर्ष या शोक से हर्ष या शोक ही होता है, परन्तु काव्य या नाटक से प्राप्त सुख-दुःख व्यक्तिगत जीवन से सम्बद्ध न होने के कारण सुखात्मक ही होते हैं, यही अलौकिकता है। काव्य या नाटकगत विभावादिकों की प्रतीति व्यक्ति-सम्बन्ध से भिन्न साधारण रूप से होती है, अतः इनके द्वारा सामाजिक के हृदय में वासना (संस्कार) रूप में स्थित स्थायीभाव वैसे ही अभिव्यक्त हो जाते हैं जैसे आवरण-मुक्त मणि प्रकाशित हो जाते हैं। इस तरह अभिव्यक्त रत्यादि स्थायीभाव का आस्वाद ही रस है।[९६] व्यंजना-व्यापार द्वारा साधारणीकृत एवं अनुभूयमान होने के कारण वह परोक्ष भी नहीं है और शब्द-प्रमाण-गम्य होने के कारण प्रत्यक्ष भी नहीं है। रस और इसकी अनुभूति इसी अर्थ में लौकिक से विलक्षण अलौकिक है।[९७]

काव्य-रस सम्बन्धी विचार वैदिक-साहित्य में ही उपलब्ध होने लगते हैं। भरत मुनि के समय से ही नन्दिकेश्वर ने रस का विस्तृत विवेचन किया था, किन्तु इनकी कोई कृति अब उपलब्ध नहीं है। भरत ने रूपकों के प्रसंग में रस का विवेचन किया और अब यही रस-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य माने जाते हैं। इनके मत से विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है। नाट्यशास्त्र में इन्होंने इस सूत्र को पूर्णतः स्पष्ट किया। इन्होंने रसों की संख्या आठ, या अभिनव गुप्त के मतानुसार शान्त को मिला कर ९ निश्चित की।

नाट्यशास्त्र के बाद रस का विवेचन अग्नि पुराण में किया गया।[९८] इसमें रति को मुख्य स्थायीभाव और शृंगार को ९ रसों में महत्त्वपूर्ण माना गया। वाग्-विदग्धता को आदर देते हुए भी यह रस को ही काव्य का जीवन मानता है।[९९] आनन्द वर्धन ने ध्वनि की प्रमुखता प्रतिपादित करते हुए भी रस-ध्वनि की उत्कृष्टता स्वीकार की। अनेक आचार्यों ने रस-निष्पत्ति का स्वरूप एवं अर्थ स्पष्ट किया। भट्ट तौत के विचार अभिनव भारती में उद्धृत हैं। इन्होंने रस को आत्म-स्थानीय माना और कहा है कि नाट्यायमानता केवल नाटक में ही नहीं, काव्य में भी आवश्यक है और कवि का वर्णन ऐसा होना चाहिये, जिससे पाठक के सामने वर्ण्य-विषय प्रत्यक्ष भासित होने लगे।[१००]

काव्य-शास्त्रीय क्षेत्र में ध्वनि आदि अन्य सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा हुई, किन्तु कोई भी रस-सिद्धान्त की महत्ता को कम न कर सका। भोज जैसे आचार्यों ने रसों

९६ वही पृ १८, काव्य प्रकाश, चतुर्थ उ०
९७ द्रष्टव्य—साहित्य दर्पण और काव्य प्रकाश के रस प्रकरण।
९८ अ० पु० ३३९।१-४
९९ वही ३३९।११
१०० अभिनव भारती, पृ० २९१

की सख्या बढाने या शृ गार का रसराजत्व सिद्ध करने का प्रयत्न किया, किन्तु रस की प्राचीन मान्यता मे परिवर्तन लाने के ऐसे प्रयत्नो का अधिक प्रभाव नही पडा।[१०१] रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध मे विचार-भिन्नताएँ प्रकाश मे आई और एसे विचारो को न्याय की कसौटी पर परखा गया। उदाहरण के लिए महिम भट्ट के विचारो को देखा जा सकता है। इन्होने ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के बाद भी रस को काव्य की आत्मा माना और सिद्ध किया कि स्वय सब प्रकार की ध्वनि का अन्तर्भाव अनुमान मे हो जाता है, अत व्यजनावृत्ति से रसाभिव्यक्ति नही होती।[१०२]

परवर्ती आचार्यो मे विश्वनाथ ने रस-सम्बन्धी मान्य-विचारो का आधार लेकर उसे अत्यन्त स्पष्ट कर दिया।[१०३] कवि कर्णपूर ने शब्दार्थ को शरीर, ध्वनि को प्राण और रस को आत्मा कह कर दो प्रमुख सिद्धान्तो के समन्वय का दृष्टिकोण अपनाया।[१०४] पडितराज जगन्नाथ ने रस-सम्बन्धी ग्यारह मतो का उल्लेख किया है। केवल विभाव, अनुभाव या सचारी को रस मानने वाले तीन मत हैं। ये रस-सूत्र से विरुद्ध मत हैं। शेष आठ मतो का सम्बन्ध 'सयोगाद्रस-निष्पत्ति' की व्याख्या से है।[१०५] इससे रस-सिद्धान्त की लोकप्रियता का पता चलता है। भक्ति रस का प्रभुत्व स्थापित करने वाले 'भक्ति रसामृत सिन्धु' मे भी रस-विवेचन की प्रक्रिया भरत की विवेचन-प्रक्रिया से भिन्न नही है।

रस-सिद्धान्त के विवेचन की परपरा सस्कृत के आचार्यो तक ही सीमित नही रही। हिन्दी-साहित्य के आचार्यो ने भी मनोविज्ञान और पाश्चात्य आचार्यो के विचारो के परिप्रेक्ष्य मे रस-सिद्धान्त को विवेचन का विषय बनाया और रूपको की अपेक्षा श्रव्य-काव्य को आधार मान कर इसका स्वरूप स्पष्ट किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डा० नगेन्द्र के नाम ऐसे विवेचको मे मुख्य है।

१० अलकार सिद्धान्त

अपने कथन को सुन्दर ढग से प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति मानव-मात्र मे स्वाभाविक रूप मे उपलब्ध होती है, अत प्राचीन साहित्य मे इसका उल्लेख और प्रयोग दोनो ही प्राप्त हो जाते है। ऋग्वेद मे अलकृत के लिए 'अरकृत' शब्द का प्रयोग दिखाई पडता है।[१०६] रूपक के प्रयोग के लिए 'द्वा सुपर्णा' मन्त्र देखा जा सकता है।[१०७] शतपथ ब्राह्मण मे अलकार का प्रयोग मानव की शोभा बढाने वाले अर्थ मे हुआ

१०१ सर० कठा० ५।१, काव्यादर्श २।२७५, अलकार सर्वस्व, पृ० २०८
१०२ व्यक्ति विवेक-१
१०३ साहित्य दर्पण-३।१-८
१०४ अलकार कौस्तुभ १।१
१०५ रस गगाधर, पृ० ४७-४६
१०६ ऋक् १।२।१, २।१।७, ७।२६।३ आदि।
१०७ ऋक् ।१।१।६४

है। छान्दोग्य उपनिषद् मे भी इसी अर्थ मे इसका प्रयोग दिखाई पडता है।[१०८] रामायण और महाभारत मे तो उसकी छटा दिखाई ही पडती है, यास्क ने अपने निरुक्त मे उपमा के कई भेदो का उल्लेख किया है।[१०९] रामायण की एक पंक्ति तो अनन्वय के उदाहरण के लिए आज भी प्रस्तुत की जाती है।[११०] प्राचीन व्याकरण-ग्रन्थो ने भी उपमा शब्द को विवेचन का विषय बनाया है।[१११]

भरत ने उपमा, रूपक, दीपक और यमक का प्रतिपादन किया।[११२] भामह से पूर्व अलकार भी विवेचन के विषय बन गए थे, किन्तु अलकार को सिद्धान्त-रूप मे प्रतिष्ठित करने वाले आचार्य के रूप मे इन्हे ही प्रमुखता प्राप्त हुई।

(क) अलकार का स्वरूप

भामह की दृष्टि मे अलकार काव्य के शोभाकर धर्म है, इनके बिना काव्य, काव्य न रह कर सामान्य वार्ता मात्र रह जाता है। वक्रता इनका मुख्य गुण है और इन्ही से अर्थो का विभावन होता है। भामह ने भरत प्रतिपादित रस-भाव आदि को रसवत्, प्रेय और ऊर्जस्वी अलकारो मे समाहित किया।[११३] दण्डी ने इन शोभाकर धर्मो वाले अलकारो मे अतिशयोक्ति को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया।[११४] भामह ने वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति मे अभेद माना है। आनन्दवर्धन ने इसका महत्त्व स्वीकार किया।[११५]

(ख) अलकारो का वर्गीकरण

रुद्रट ने वास्तव के आधार पर २३, औपम्य के आधार पर २१, अतिशय के आधार पर १२, श्लेष के आधार पर १० तथा साकर्य के आधार पर २ अलकारो का विवेचन और वर्गीकरण किया।[११६]

रुय्यक ने सात मौलिक तत्त्वो को आधार मान कर अलकारो का वर्गीकरण किया। ये है—सादृश्य गर्भ मूलक, विरोध गर्भमूलक, शृखलाबन्ध मूलक, तर्कन्याय मूलक, वाक्य न्याय मूलक, लोक न्याय मूलक, और गूढार्थ प्रतीति मूलक। इनमे कुल

१०८ शत० १३।८।४, छान्दो० ८।८।५

१०९ रामायण २।४०।१३, महाभारत १।२८ (बम्बई सस्करण), निरुक्त ३।३।१४,१८

११० राम रावणयो र्युद्ध राम रावणयोरिव। रामा० युद्ध० ११०।२२

१११ पाणिनीय-२।१।५५, ३।१।१०, ५।४।९७, १२७ कात्यायन वार्तिक २।४।७१ पर, तथा महाभाष्य २।१।५५ पर।

११२ नाट्यशास्त्र १७।१-५, १७।४३

११३ भामहालकार १।१३, ३।१,५ ७, १।३६, ५।६६, २।८५, उद्भट, काव्यालकार सार सग्रह ४।२-३

११४ काव्यादर्श २।१,२०

११५ अभिनय भारती ३।२७ कारिका की वृत्ति। लोचन, पृ० २६०

११६ रुद्रटालकार ७।९

६६ अलकारो का वर्गीकरण हुआ है।[117] परवर्ती आचार्यों ने प्राय ये ही आधार वर्गीकरण के लिए ग्रहण किए है। विद्याधर ने परिकराङ्कुर और प्रश्नोत्तरिक नामक अलकारो का और समावेश किया।[118] विद्यानाथ ने रुय्यक के आधारो मे कुछ परिवर्तन किया, जैसे गूढार्थ प्रतीति मूलक के बदले अपह्नव मूलक कहा।[119] उन्होने वर्गीकरण मे भी कुछ सशोधन किया, जैसे 'सम' अलकार को विरोधमूलक वर्ग से हटा कर व्यवहारमूलक मे रखना।

अलकारो के विवेचन की भी द्विविध प्रवृत्ति दिखाई पडती है। एक ओर तो अलंकार को कथन की विशिष्ट या चमत्कारपूर्ण शैली मान कर सभी प्रकार के कथनो को किसी न किसी अलकार के अन्तर्गत समाहित किया गया और इस प्रकार अलकारो की सख्या बढती गई, तो दूसरी ओर उपमा को ही सारे अलकारो का मूल मान कर उसी मे सब अलकारो को समाविष्ट करने का प्रयास किया गया।[120] भामह ने जिस समय अलकार को काव्य का अगी मान कर रस आदि को भी उसके अन्दर समेटने का प्रयास किया, उस समय सस्कृत-साहित्य की प्रत्येक काव्य-विधा मे अलकरण की प्रवृत्ति अपने पूरे वेग पर थी।

(ग) अन्य सम्प्रदायो के आचार्यों की दृष्टि मे अलकार

वामन ने काव्य के सौन्दर्य को अलकार कहा और इससे ही उसे ग्राह्य बतलाया। दण्डी ने काव्य शोभाकर धर्म को अलकार कहा था किन्तु वामन की दृष्टि मे ये शोभाकर धर्म गुण है और अलकार उनके उत्कर्षक।[121] आनन्दवर्धन ने अलकार को रसादि का अग रूप ही माना।[122] कुन्तक ने अलकार को काव्य का अविभाज्य अग माना है।[123] भोज ने उपमा आदि अलकारो की प्रधानता मे वक्रोक्ति, गुणो की प्रधानता मे स्वभावोक्ति तथा विभावादि के सयोग से रस-निष्पत्ति मे रसोक्ति मान कर अन्य सिद्धान्तो के साथ इसके समन्वय का प्रयत्न किया है।[124]

अलकार हारादि सदृश होते हैं।[125] ये शोभा के विधायक तो हो सकते हैं, उसके उत्कर्षक भी हो सकते हैं, किन्तु स्वय सौन्दर्य का स्थान नही ले सकते। मृत-मृगलोचना के वक्ष पर पडे हारादि सदृश अलकार भी तब तक निरर्थक ही

११७ काव्यालकार ७।११-१२, ८।२-३, ६।२, १०।२१, २५
११८ एकावली ८।२५, ८।६८
११९ प्रताप रुद्र यशोभूषण, पृ० ३३८-३९
१२० चित्र मीमासा, पृ० ५, काव्य मीमासा ११
१२१ काव्यालकार सूत्रवृत्ति १।१।२, ३।१।१-२
१२२ ध्वन्यालोक २।१६
१२३ वक्रोक्ति जीवित १।६
१२४ शृगार प्रकाश, प्र० ११
१२५ काव्य प्रकाश ८।२, चन्द्रालोक ५।१

है, जब तक रस, ध्वनि आदि से काव्य में प्राणवत्ता न विद्यमान हो ।[125] अलकारों को काव्य का साधन ही स्वीकार किया गया, साध्य नहीं, फिर भी एक वर्ग-विशेष के लिए अलकार-सिद्धान्त सर्वोपरि रहा, अत. एकतन्त्र सिद्धान्त की भांति इसे भी मान्यता प्राप्त हुई ।

११. रीति-सिद्धान्त

राजशेखर के कथनानुसार सुवर्णनाभ ने रीति-निर्णय लिखा था ।[127] यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, अत रीति का मूल स्रोत नाट्यशास्त्र वर्णित काव्य-प्रवृत्तियों में ढूंढा गया । बाण भट्ट के समय तक रीति का सम्बन्ध देश-विशेष की काव्य-प्रवृत्ति से ही रहा । वामन ने देश-विशेष के साथ काव्य के सम्बन्ध का खडन किया ।[128] रीति-विकास के तृतीय चरण का आरम्भ डॉ० बलदेव उपाध्याय ने कुन्तक से और जयमन्त मिश्र ने रुद्रट से माना है ।[129] पदों की समस्तता और असमस्तता को मुख्यत. रीति का आधार माना गया । रीतियां रसादि की साधनभूत ही थीं । दीर्घ समास-युक्त पदावली को गौडीया रीति, मध्यम समास-युक्त पदावली को लाटीया लघु समास पदावली को पाचाली तथा समासरहित पदावली को वैदर्भी रीति का नाम दिया गया था । रीति का सम्बन्ध इन्होंने रस के साथ भी जोड दिया और बतलाया कि किस रीति का किस रस में प्रयोग उचित रहता है ।[130] आनन्दवर्धन ने पदों की रसानुकूल रचना को 'सघटना' नाम दिया और रीति को रस की उपकारिणी ही माना ।[131] रीति का सम्बन्ध वृत्तियों से अधिक है ।

(क) रीति का स्वरूप

वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मान कर उसे सिद्धान्त के स्तर तक पहुंचाया । रीति का अर्थ है विशिष्ट-पद-रचना । विशिष्ट का अर्थ है गुण-युक्त; अत गुण-सम्पन्न पद-रचना ही रीति है, और वही काव्य की आत्मा है । समस्त गुणों से युक्त वैदर्भी रीति, ओज और कान्ति से युक्त गौडीया रीति और माधुर्य तथा सौकुमार्य से युक्त पाचाली रीति होती है । जिस तरह रेखाओं में चित्र प्रतिष्ठित हो जाता है, उसी प्रकार तीन रीतियों में काव्य ।[132]

वैदर्भी रीति में ही अर्थ-गुण-सम्पत्ति या वस्तु-सौन्दर्य आस्वाद्य बनता है । अर्थ की प्रौढता ओज गुण के अन्तर्गत, उक्ति-वैचित्र्य माधुर्य के अन्तर्गत अर्थ-दृष्टि

१२६ सरस्वती कठाभरण, पृ० ७६१
१२७ काव्य मीमांसा पृ० ३
१२८ हिन्दी काव्यालकार सूत्र, पृ० २०
१२९ भारतीय साहित्य शास्त्र, पृ० १४१, काव्यात्म मीमांसा, पृ० १५१
१३० रुद्रटालकार २।६, २३-५०, १४।३७, १६।२०, अग्नि पुराण ३४०।१
१३१ ध्वन्यालोक ३।५-६
१३२ काव्यालकार सूत्रवृत्ति १।२।६-१३ पृ० २०

या नूतन अर्थ की कल्पना समाधि के अन्तर्गत, रस की दीप्ति कान्ति के अन्तर्गत तथा अर्थ की निर्मलता प्रसाद के अन्तर्गत व्यक्त होती है।[133]

भामह और दण्डी ने 'मार्ग' शब्द का और भरत ने 'प्रवृत्ति' शब्द का प्रयोग किया है। इन्हे रीति का मूल माना जाता है। भामह की दृष्टि मे गुण और अलकार ही मार्ग के आधार हैं। दण्डी दस गुणो को वैदर्भी का प्राण मानते हैं।[134]

डॉ० नगेन्द्र ने वामन प्रतिपादित रीति-सिद्धान्त का सार बतलाते हुए लिखा है कि दण्डी की अपेक्षा वामन की रीति मे प्रादेशिकता कम है, साहित्यिकता अधिक है। वामन ने रीति की विशिष्ट सीमा और उसका सापेक्षिक साहित्यिक महत्त्व निर्धारित कर दिया है। उन्होने रीति का गुण के साथ नित्य और अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित कर उसके आधार को अत्यन्त पुष्ट कर दिया है। मूलत पद-रचना होती हुई भी वामन की रीति अपनी परिधि मे शब्द-चमत्कार, अलकार-सम्पदा तथा अर्थ-न्वारस्य का भी समावेश कर लेती है, इस प्रकार उन्होने अपनी रीति को शब्द-सौन्दर्य, उक्ति-सौन्दर्य और अर्थ-सौन्दर्य का सयुक्त पर्याय बनाने का प्रयत्न किया है।[135]

वामन की रीति का सिद्धान्त बाह्यागो को प्रधानता देता है। रीति, आधुनिक काव्यालोचन मे प्रयुक्त शैली की पर्याय नही है। व्यक्ति या कवि के व्यक्तित्व की अपेक्षा काव्य के विशिष्ट तत्त्वो को इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा का आधार बनाया गया है।

१२ ध्वनि-सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के प्रवर्तक आनन्दवर्धन ध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। इनके विचार से ध्वनि-परपरा प्राचीनकाल से ही चली आ रही है, अत. अपने-आपको यह उसका प्रकाशक मात्र मानते हैं। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि महाकवियो ने ध्वन्यर्थ का यत्र-तत्र विधान किया है।[136] भरत ने रसादि तात्पर्य से इस ध्वन्यमान्य अर्थ का प्रतिपादन किया, किन्तु रीति-प्रवर्तक वामन ध्वनि-तत्व को समझ ही न सके।[137] यह ध्वनि तत्व काव्योद्यान मे कल्पतरु के समान है।

ध्वनि का स्वरूप

प्रतीयमान अर्थ ही ध्वनि है। यह प्रतीयमान अर्थ कही वस्तु रूप, कही अलकार रूप और कही रसादि रूप से ध्वनित होता है और वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न

१३३ वही १।२।२०, ३।२।२, ३।२।११, ३।२।७, ३।२।१५, ३।२।३
१३४ नाट्यशास्त्र १४।३६, भामहालकार १।३५, काव्यादर्श १।४१-४२
१३५ हिन्दी काव्यालकार सूत्रवृत्ति की भूमिका, पृ० २४-२५
१३६ ध्वन्यालोक १।१, वाल्मीकि रामा० १६।१३, महाभारत आदि पर्व १२८।६ अभिज्ञान शाकुन्तल ३।२३
१३७ ध्वन्या० ३।३२ की वृत्ति, ३।४७

अतिशयोक्ति के अर्थ में वक्रोक्ति का व्यवहार किया।[१४१] दण्डी के मत में स्वभावोक्ति से भिन्न चमत्कारपूर्ण उक्ति ही वक्रोक्ति है, श्लेष से इस उक्ति में शोभा बढ़ती है।[१४२] सामान्यतः कुन्तक के अतिरिक्त सभी आचार्यों ने वक्रोक्ति को श्लेष और काकु की सीमा में रखकर एक विशिष्ट अलकार से अधिक महत्त्व नहीं दिया।[१४३] कुन्तक ने वक्रोक्ति का मौलिक एव सर्वग्राही रूप प्रतिष्ठित किया।

वक्रोक्ति का स्वरूप

प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा या वैदग्ध्यपूर्ण शैली द्वारा प्रस्तुत उक्ति ही वक्रोक्ति है। वैदग्ध्य का अर्थ है, कवि-कर्म-कौशल, और उसकी भगिमा या शोभा पर आश्रित उक्ति ही वक्रोक्ति है। इसमे तीन गुण सम्मिलित है—(१) लोक-व्यवहार तथा शास्त्र में रूढ़ शब्द-अर्थ प्रयोग से भिन्नता (२) कवि-प्रतिभा-जन्य चमत्कार और (३) सहृदय के मन प्रसादन की क्षमता। अत कुन्तक की वक्रोक्ति काव्य-सौन्दर्य का पर्याय बन गई है। यहा शब्द और अर्थ अलकार्य है और वक्रोक्ति इन दोनो का सौन्दर्य-विधायक तत्त्व।[१४४]

कुन्तक ने इस सौन्दर्य-विधायक तत्त्व का अन्वेषण, वर्ण, 'पद पूर्वार्ध' पद परार्ध, वाक्य, प्रकरण तथा प्रबन्ध में किया है। इस वर्ण-वक्रता से लेकर प्रबन्ध-वक्रता तक की सीमा में सारा काव्य-सौन्दर्य समाहित हो जाता है।[१४५] उनकी वाक्य-वक्रता ही वस्तु-वक्रता है, जो सहजा और आहार्या प्रतिभा से प्रसूत होती है।[१४६] प्रकरण, प्रबन्ध का एक भाग या कथा-प्रसग है। वस्तु-वर्णन की सजीवता, रोचकता और उत्कर्ष का विधान प्रकरण-वक्रता है। प्रबन्ध-वक्रता में महाकाव्य नाटक आदि का समस्त वस्तु-कौशल, प्रकरण-नियोजन और रस-सनिधान आ गया है। प्रबन्ध ही काव्य का सर्वोत्कृष्ट रूप है।[१४७] उनकी दृष्टि में रस, रीति, ध्वनि और औचित्य आदि में वक्रोक्ति के समान व्यापकता और काव्य के लिए अनिवार्यता नहीं है। वक्रोक्ति सिद्धान्त ने कवि-कर्म के कौशल पर बल देते हुए अभिव्यक्ति की चमत्कारिणी शक्ति को उभारा और कथन की लोकोत्तरता को स्पष्ट किया।

१४१ भामह

१४२ काव्यादर्श २।३६३

१४३ भामह काव्या० ४।१८, रुद्रटा० २।१४-१६, ध्वनि पृ० २४३।२०-२३, भोजकृत शृंगार-प्रकाश ८।११

१४४ वक्रोक्ति जीवित १।१० की वृत्ति

१४५ वही, द्वितीयोन्मेष

१४६ वही, तृतीयोन्मेष

१४७ वही, ४।१-६, ११

१४ औचित्य-सिद्धान्त

औचित्य-सिद्धान्त की परम्परा उतनी ही प्राचीन है जितनी अन्य काव्य-सिद्धान्तो की। औचित्य शब्द का प्रयोग न करते हुए भी उन्होंने अनुरूप का प्रयोग इसी अर्थ मे किया है। इनका कथन है कि अप्रचलित वेष शोभाजनक नही होता। कटिबन्ध को वक्ष पर माला की तरह धारण करने वाला हास्यास्पद ही बनेगा।[१४८] क्षेमेन्द्र ने इसी दृष्टिकोण को 'कण्ठे मेखलया' मे पल्लवित किया।

भामह का मत है कि औचित्यपूर्ण विधान से दुरुक्त और पुनरुक्त दोष भी काव्य मे सुन्दर लगने लगते हैं।[१४९] दण्डी की दृष्टि मे गुण का मूल है औचित्य और दोष का मूल है अनौचित्य।[१५०] अग्निपुराण ने रीति, वृत्ति और रस के विषयानुकूल समावेश पर औचित्य नामक उभयालकार माना है।[१५१] रुद्रट ने दण्डी का समर्थन किया है।[१५२] क्षेमेन्द्र से पूर्व आनन्दवर्धन ने औचित्य पर अधिक बल दिया है और इसे रस का रहस्य बतलाया, अनौचित्य को इन्होंने रस-भग का कारण माना।[१५३] राजशेखर ने उचित और अनुचित के विवेक को ही व्युत्पत्ति कहा।[१५४] कुन्तक ने सभी प्रकार की वक्रताओ के लिए औचित्य का महत्त्व स्वीकार किया।[१५५] भोज ने 'शृगार प्रकाश' मे औचित्य-रहस्य का सन्निवेश किया।[१५६] औचित्य का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी पूर्ववर्ती आचार्यो ने इसे सिद्धान्त की प्रतिष्ठा नही दी। यह कार्य क्षेमेन्द्र ने ही सपन्न किया।

(क) औचित्य का स्वरूप

जिस प्रकार मानव-जीवन को सुन्दर और सुरुचि-सम्पन्न बनाने के लिए औचित्य का महत्त्व स्वयसिद्ध है, उसी प्रकार काव्य के लिए भी। रस, अलकार, गुण और रीति द्वारा चमत्कार का विधान वही होता है, जहा औचित्य हो। अनुचित विधान से काव्य की सुन्दरता भी नष्ट होती है और वह निन्दित भी होता है। कठ मे मेखला, नितम्ब पर हार, मणिबन्ध मे नूपुर और चरण मे केयूर धारण करने पर, तथा शरणागत पर वीरता और शत्रु पर करुणा दिखाने पर कौन उपहासास्पद नही

१४८ अदेशजो हि वेषस्तु न शोभा जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते। ना० शा० २३।६९, अनुरूप १४।६८, २६।११३

१४९ भामहालकार-१।५४-५६ ४।१४

१५० काव्यादर्श ३।१२८-३०,३३,३६ तथा ३।१७९

१५१ अ० पु० ३४५।५

१५२ रुद्रटालकार ६।२२,२६, २।३२,३।४६

१५३ ध्वन्यालोक ३।१०-१४, पृ० १८०

१५४ काव्य मीमासा अ० ५, पृ० ३७

१५५ वक्रोक्ति जीवित १।५०, १।३५

१५६ शृगार प्रकाश का सर्ग, सरस्वती कठाभरण १।२३७,१।४०,१।१५६,२।६,२।१८

बनेगा ? उचित-विधान के बिना अलकार और गुण का मूल्य ही क्या है ? जो जिसके अनुरूप होता है वही उचित कहलाता है और उचित का भाव ही औचित्य है। रस-सिद्ध कवि के लिए यह औचित्य ही काव्य का प्राण है।[१५७]

औचित्य तो काव्य के प्रत्येक अग के लिए आवश्यक है परन्तु क्षेमेन्द्र ने उसकी विशेष स्थिति—पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सार-सग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम और आशीर्वाद, इन सत्ताईस काव्यागो मे स्वीकार की है।[१५८] वृत्त-सम्बन्धी औचित्य का विचार इन्होने 'सुवृत्त तिलक' मे किया है।

औचित्य काव्य-शरीर के प्रत्येक अग मे व्यापक है। सहृदयो के लिए अभीष्ट औचित्य-युक्त वाक्य ही है। उचित अर्थ से विशिष्ट प्रबन्धार्थ प्रकाशित होना है।[१५९] हेमचन्द्र ने पद आदि के ग्रहण करने मे औचित्य का समर्थन किया है और विश्वनाथ ने दोष-प्रकरण के समय इस पर विचार किया।[१६०] क्षेमेन्द्र ने वक्रोक्तिकार कुन्तक की भाँति ही औचित्य की व्यापकता प्रदर्शित करते हुए इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की।

१५ काव्य में छंद-व्यवस्था

काव्य मे छन्द-विधान भी विवेचन का विषय रहा है। वाल्मीकि ने तन्त्री-लय समन्वित कविता की प्रभावात्मकता का स्वय ही बार-बार उल्लेख किया। मधुर छन्द-पाठ भी काव्य की सरसता का वर्धक है। पाणिनी ने छन्द की मूल धातु को आल्हादन और दीप्ति अर्थ मे लिया है।[१६१] यास्क ने छान्दोग्य उपनिषद् के विचारो के अनुसार आच्छादन अर्थ लिया, क्योकि भाव रूप देवो ने इसी से अपने को आच्छादित कर अमरता प्राप्त की।[१६२] ऋग्वेद के समय छन्द का अर्थ 'स्तोत्र' था।[१६३] ये मन्त्र श्रोताओ को सम्मोहित, आकृष्ट और आल्हादित करते थे। छन्द-समूह ही वेद कहलाए। शतपथ ब्राह्मण छन्द-रस की चर्चा करता है।[१६४] ऐतरेय उपनिषद् की दृष्टि मे यह विशाल सृष्टि एक छन्द-पुज है।[१६५] छन्द वह वैखरी ध्वनि है जो आवेग को वहन एव अनु-

१५७ औचित्य-विचार चर्चा ४-७

१५८ वही ८।१०

१५९ वही १।१२ १३

१६० काव्यानुशासन, पृ० ८-१०१, सा०द० ७।३०

१६१ चदि आह्लादने दीप्तौ च

१६२ छदि सवरणे। मन्त्रा मननात्, छन्दासि छादनात्। निरुक्त दैवत काण्ड ७।१२, छान्दोग्य १।४।२

१६३ निघण्टु ३।१६ गीता १५।१

१६४ शतपथ ७।३।१।३७

१६५ ऐ० उ० ८।१८

भूतियो को सचरित करता है। अर्थमयी भाषा और सगीत का मिलन छन्द-व्यापार मे ही समव है। अर्थमयी भाषा के अभाव मे कोरा सगीत बचता है और सगीत के अभाव मे अनुभूति की अभिव्यक्तिया काव्येतर विधाएँ बनती हैं। निर्झर-निनाद, पत्रो के मर्मर, बादलो की रिमझिम एव नदियो और पक्षियो के कलरव ने मानव मे जिस सगीत-प्रियता का अनुष्ठान किया उसका साहित्यिक रूप ही अनुशासनबद्ध होकर छन्द बना।

वेदागो मे छन्द-शास्त्र भी परिगणित है। ऋक् प्रातिशाख्यो मे इसका विस्तृत विवेचन किया गया।[१६६] छन्दो को वेद का चरण कहा गया।[१६७] वैदिक परपरा के अनुसार उच्चतम आनन्द की निष्पत्ति करने वाला आदि छन्द प्रणव या उद्गीथ है और लौकिक-परम्परा मे भावावेग से निस्सृत वाल्मीकि का प्रथम श्लोक।[१६८]

(क) छन्द का स्वरूप

ऋक् प्रातिशाख्य तक अक्षर-गणना के आधार पर ही छन्द का निर्णय होता था। गायत्री, अनुष्टुप्, जगती, बृहती आदि छन्दो की जातिया अक्षर-सख्या के अतिरिक्त चरण-ताल और लय पर भी आश्रित हैं। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र मे नियत अक्षरो से युक्त छन्दो-यति से समन्वित एव तालबद्ध अवरोह युक्त निबद्ध पदो को छन्द कहा है।[१६९] ये चार चरणो से युक्त होते हैं। इन्होंने विविध रसो के लिए विविध प्रकार के अक्षरो एव छन्दो के प्रयोग का विधान किया, जैसे शृगार के लिए नारी वृत्त, वीर रस के लिए जगती, अतिजगती तथा सकृति एव युद्ध और उपद्रव वर्णन मे उत्कृति छन्द आदि।[१७०]

ताल और लय के विचार के आधार पर गुरु-लघु का सूक्ष्म-विचार सभव हुआ और छन्दो के दो वर्ग बने—वार्णिक या वृत्त तथा मात्रिक या जाति। गुरु-लघु वर्णों के क्रम का अनुशासन वर्ण-वृत्तो मे तथा चरणबद्ध मात्राओ के समूह का अनुशासन मात्रिक छन्दो मे प्रचलित हुआ। छन्द के चार चरण ही माने गये, परन्तु मिश्रित छन्दो के प्रयोग के लिए इस नियम के अनुशासन की अपेक्षा, पृथक्-पृथक् दोनो (मिश्रित मे प्रयुक्त) छन्दो के नियमानुसार ही परख होती रही। गुरु-लघु मात्राओ के क्रम एव योग को आधार बना कर छन्दो की सख्या अनन्त हो गई। सर्वप्रथम क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्त तिलक' मे छन्दो का काव्य-शास्त्रीय स्वरूप अधिक स्पष्ट किया।

१६६ ऋक् प्राति० १७।१,१३
१६७ पाणिनीय शिक्षा ४१
१६८ प्रणवश्छन्दसामिव। रघुवश १।११
१६९ नाट्यशास्त्र ३२।२६,१४।४०
१७० वही १६।१०६-११४

(ख) छन्द का महत्व और प्रयोजन

वैदिक काल से ही छन्द का महत्त्व सुप्रतिष्ठित है। छन्दो का आश्रय लेकर ही देवताओ ने अमरत्व और स्वर्ग लोक प्राप्त किया।[१७१] विभिन्न छन्दो के पाठ से विविध अभीष्ट फल-प्राप्ति का उल्लेख भी वैदिक साहित्य मे मिलता है। उदाहरण के लिए—अनुष्टुभ् छन्द से स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[१७२] विराट् छन्द (४० वर्ण का) अश्वमेध मे सभी देवताओ को प्रसन्न करके सभी कामनाओ को प्राप्त कराता है।[१७३] त्रिष्टुप् ओज, इन्द्रिय और वीर्य का प्रतीक होने से इनको ही शक्तिया प्रदान करता है।[१७४]

स्वर, वर्ण और अर्थ से सयुक्त, छन्द का ज्ञान करके जो वेद का अध्ययन करता है, वह ब्रह्म लोक का भागी होता है।[१७५] निघण्टु मे छन्द और स्तोत्र को पर्याय-वाची माना गया है और भोज प्रवन्ध के अनुमार मयूर, वाण आदि ने कायिक-पीडन से मुक्ति, स्तोत्र-रचना द्वारा ही प्राप्त की थी। राम-भक्त आज भी रामचरित मानस का पाठ, अभीष्ट-पूर्ति के लिये करते है। छन्द, चिरस्मरणीय और काल की धारा से अप्रभावित होने के कारण मानव-सस्कृति के विकास से परिचित कराने मे अधिक सहायक रहा है।

काव्य मे इसकी उपयोगिता पर, प्रथम आचार्य भरत ने ही प्रकाश डाला था और विविध रसो के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की छन्द-योजना का सकेत दिया था। क्षेमेन्द्र ने सुवृत्त-तिलक के तृतीय परिच्छेद मे काव्य रस के अनुसार और वर्णन के अनुगुण से वृत्तो का विनियोग बतलाया है।[१७६] इनके मतानुसार प्रवन्ध मे यथा स्थान, निर्दोष गुण-सयुक्त सुवृत्त का प्रयोग मोतियो की तरह शोभा पाता है।[१७७] अन्य आचार्यो ने भी प्रसगानुसार छन्द और रस या भाव के सम्बन्धो पर अपने विचार प्रकट किये है। करुण मे मन्दाक्रान्ता और पुष्पिताग्रा, शृगार मे पृथ्वी, वीर मे स्रग्धरा, शिखरिणी, शार्दूल विक्रीडित और हास्य मे दोधक का प्रयोग अनुकूल होता

१७१ छन्दोभिर्हि देवा स्वर्ग लोक समाश्नुवते। शत० ब्रा० २—३।४।३२।। या छान्दोग्य उप० २।४।१

१७२ द्रष्टव्य—ऐतरेय ब्राह्मण १।५

१७३ द्रष्टव्य—शतपथ ब्रा० १३।४।१।१३२

१७४ द्रष्टव्य—ऐतरेय ब्राह्मण १।५

१७५ द्रष्टव्य—पाणिनीय शिक्षा-५२ 'इन्द्र शत्रु' का उदाहरण यही है।

१७६ काव्य रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च
कुर्वीत सर्ववृत्ताना विनियोग विभागवित् ।।सु० वि० ७।।

१७७ प्रवन्ध सुतरा भति यथा स्थान विवेचक ।
निर्दोषै गुण सयुक्तै सुवृत्त मौक्तिकैरिव ।।
यही तृतीय परि० करुणे मन्दाक्रान्ता ।

है। अग्निपुराण के अनुसार वृत्तान्त बदलने पर पुष्पिताग्रा आदि तथा कोमल भाव वाले सर्ग में मात्रा छन्द अभिनन्दनीय है।[१७८]

(ग) छन्द और संगीत

छन्द वह नियमित सुखध्वनि-रचना है, जो ताल और लय के साथ भाव और अर्थ की आल्हादपूर्ण व्यंजना कर सके। जब शब्द और अर्थ, जो काव्य के मूल आधारभूत तत्त्व हैं, निकल जाते हैं तब शेष जो कुछ रह जाता है, वह संगीत ही है। ताल, लय और स्वरों के आरोहावरोह से भाव-प्रकाशन, और आल्हादन संगीत का चरम लक्ष्य है। स्पष्ट है कि संगीत के तत्त्वों से शब्दार्थ-रूप-काव्य के समावेश से जो कुछ निर्मित होता है, वह गीत, प्रगीत आदि काव्य के उस रूप को मूर्तिमान करता है, जो गेय होता है। सामान्य रूप से प्रत्येक छन्द गेय होता है, क्योंकि उसमें ताल और लय का एक निश्चित नियमन होता है। ये ही संगीत के प्राण हैं।

छन्द, भाव-प्रेषण के लिए सर्वोत्तम साधन है। गद्य में भी जहां छन्दांश का समावेश हो जाता है या वृत्तगन्धिता[१७९] आ जाती है, वहां क्षण के लिये उसकी संगीतात्मकता उभर कर उस गद्य-खण्ड को तरलित कर देती है। छन्द में गद्य की अपेक्षा, बिम्ब ग्रहण कराने की और व्यंजना-व्यापार की क्षमता अधिक होती है।

'शब्द समस्त इन्द्रियों के संवेदना-संस्कारों को उद्बुद्ध करने में सफल होते हैं और छन्द, उस शब्दावली को स्वरधारा में बहा कर सरलता और सुकरता से अनुभव-शृंखला को संवेग, गतिमान तथा भाव को परिपुष्ट करके रस की निष्पत्ति करता है। छन्द, शब्द के अर्थानुवाद में मन की सहायता नहीं करता, अपितु तीव्र संवेदनाओं को संघटित करके संगीत में दोलायमान करता हुआ, मनोव्यापार के श्रम को भी दूर करता है। छन्द (लयच्छन्द) संगीत का एक रूप है, अतः वह अर्थ रूप (भाषा) को संगीत स्वर की संवेदना से भी युक्त करता है। छन्द, स्वयं संगीत की भांति अपने स्वरूप में ही भाव को दीप्त कर सकता है।'[१८०]

आत्मा की संगीतात्मकता ने छन्दोजगत का विस्तार किया। बुद्धि के योग ने उसे सुव्यवस्थित और शास्त्रीय रूप दिया। प्रत्येक छन्द अपनी क्षमता और वृत्ति के अनुसार विशेष प्रकार के भाव के अभिव्यंजन में सहायक बना। वैदिक युग में प्रत्येक छन्द का एक विशिष्ट देवता बना और उसकी प्रसन्नता के लिये विविध मन्त्रों

१७८ द्रष्टव्य—अग्नि पुराण ३३७।२६-२८
विभिन्न रसों में प्रयुक्त छन्दों की सूची के लिये द्रष्टव्य—आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना, पृ० ४६-४७

१७९ रवीन्द्र ने लयच्छन्द को भावच्छन्द कहा है—रवीन्द्र रचनावली, भाग २१, पृ० ३६८

१८० द्रष्टव्य—आ० हिन्दी काव्य में छन्द योजना, पृ० ४०

मे उन-उन छन्दो का प्रयोग हुआ ।[१८१]

दो-दो छन्दो के सम्मिश्रण से नूतन मिश्र छन्द बनाने का प्रचार वैदिक काल मे ही हो चुका था । जैसे वृहती और सतोवृहती से वार्हत,[१८२] कुकुभ और सतोवृहती के युग्म से काकुभ,[१८३] त्रैष्टुभ्, और जगती के योग से त्रैष्टुभ्[१८४] आदि । छन्दो के विविध चरण की सख्याओ के भी कई रूप है—जैसे द्विपद गायत्री, त्रिपदगायत्री, चार पक्तियो का विराज, पाच पक्तियो का महापाद पक्ति, छ पक्तियो का महापक्ति सात चरणो का अत्यष्टि, आठ चरणो का अतिवृत्त छन्द आदि ।

पुरस्ताद् वृहती मे पहला चरण ११ अक्षर का और शेष तीन चरण आठ-आठ अक्षर के होते हैं । यहा छन्दक मे भिन्न लय है और प्रवाही चरण भिन्न लय के है ।[१८५] इससे स्पष्ट है कि टेक और अन्तरा युक्त छन्दो का विकास अत्यन्त प्राचीन काल मे ही हो चुका था । इन्ही वैदिक छन्दो से अनेक छन्दो का विकास हुआ, त्रिष्टुभ् छन्द के विकसित छन्दो मे इन्द्रवज्रा सर्वप्रधान हुआ तथा शृगार और वीर भावो की अभिव्यक्ति के लिये अधिक ग्राह्य ।[१८६]

सस्कृत वृत्तो के नाम अधिकाश मे उनकी वृत्ति या गुण से सम्वद्ध है । कोमल-छन्दो का स्त्रीलिग मे और कठोर छन्दो का नाम पुल्लिग मे रखा गया है । इसके अपवाद भी है, और एक ही छन्द के भिन्न-भिन्न नाम भी मिलते है, जैसे पिंगल का कनकप्रभा, और केदार भट्ट का मजुभाषिणी ।

मध्यकाल मे अत्यधिक प्रयुक्त घनाक्षरी का सम्वन्ध डॉ० शुक्ल ने वैदिक अनुष्टुप् से माना है और सवैया के वार्णिक छन्द से मात्रिक छन्द के रूप मे परिवर्तन का भी परिचय दिया है ।[१८७] मात्रिक छन्दो का सस्कृत और प्राकृत मे भी प्रयोग हुआ है । वैदिक छन्दो मे अक्षर-गणना के विधान के अतिरिक्त स्वरो का भी प्रयोग होता था, अन्यथा केवल अक्षर सख्या से लय-विधान सभव नही था । 'मात्रामैत्री उसके लिये आवश्यक है । जनगीतो की प्राकृत परम्परा वैदिक युग मे भी थी । वैदिक छन्दो के सुप्रयुक्त, अभ्यस्त और वहुश. आवृत लयो को वृत्त का रूप मिल गया । इन वृत्तो के विकास मे भी जनगीतो ने योग दिया । वृत्तो के आवर्तक वर्ग से मात्रिक छन्दो का

१८१ द्रष्टव्य—ऋक्प्रातिशाख्य, पाताल, १७
सगीत की उत्पति के लिये द्रष्टव्य छान्दोग्य उप० १।२

१८२ ८,८, १२,८+१२,८, १२, ८

१८३ ८,१२,८+१२,८,१२,८

१८४ ११,११,११,११+१२,१२,१२,१२, ऋक् प्रातिशाख्य मे लगभग ऐसे २४ छन्दो का उल्लेख हुआ है

१८५ द्रष्टव्य—आधुनिक हिन्दी काव्य मे छन्द योजना, पृ० ७७

१८६ वही, पृ० ८१

१८७ वही, पृ० १६०-१७२ तक

विकास हुआ। इसका प्रमाण यही है कि अधिकांश मात्रिक छन्द आवर्तक वर्ग में आते हैं।[188]

धम्मपद और जातक से उद्धरण देकर उन्होंने (डा० गुप्त ने) सिद्ध किया है कि मात्रिक छन्दों का प्रयोग अपभ्रंश काल से भी पूर्व होता आ रहा है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

> णिम्मिद्ध णील सुद्दु कुंचित केसो।
> सुसिय णिम्मल ललामि ललाटो।
> सुत्त तुंग सुउन्नयन नासो।
> रमे लाल बिम्बो सम ओंठो ॥[189]

यह १६ मात्राओं का चौपाई जैसा छन्द है। अपभ्रंश युग में मात्रिक छन्दों की परम्परा इतनी प्रौढ़ हो गई थी कि मात्रा छन्दों में आद्योपान्त महाकाव्य की रचना की गई थी। नवीं सदी के बाद का सिद्ध और जैन साहित्य मात्रिक छन्दों का ही उपयोग करता रहा और इनके प्रभाव से कई संस्कृत कवियों ने भी वर्ण वृत्तों को छोड़कर मात्रिक छन्दों का ही प्रयोग किया। गोवर्धनाचार्य और जयदेव के नाम उदाहरण स्वरूप गिने जा सकते हैं।

स्वर-माधुर्य, संगीतात्मकता, छन्द-सन्तुलन, छन्द-सौष्ठव, विश्राम, सहज स्मरणीयता आदि की दृष्टि से अन्त्यानुप्रास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्राकृत पैंगलम् के उदाहरण और गीत गोविन्द के पद अधिकतर अन्त्यानुप्रास युक्त हैं और अपभ्रंश के कई उदाहरण स्वयम्भू की कृतियों से उद्धृत किये जा सकते हैं। सर्वान्त्यानुप्रास में चारों चरणों में तुक होता है। इस अन्त्यानुप्रास के अनेक रूप प्राप्त होते हैं। अन्त्यानुप्रास के और यमक के प्रभाव से भी संगीतात्मकता में वृद्धि होती है।

अर्ध समवृत्त का जन्म सम छन्द की एकरसता को समाप्त करने के लिए हुआ जान पड़ता है। इस छन्द के चरण भी मात्रा क्रम से ही आवृत्त होते हैं अतः इनमें भी संगीतात्मकता उपलब्ध होती है। इनमें द्विगन्तर अन्त्यानुप्रास होता है। दोहा, सोरठा आदि मात्रिक छन्द इनमें आते हैं।

मिश्र छन्दों में एक से अधिक छन्दों के लयों को मिला कर एक नयी इकाई तैयार की जाती है। कुण्डली, छप्पय, अमृत-ध्वनि, हनुमान आदि मिश्र छन्द ही हैं। मिश्र छन्दों में इनकी निश्चित इकाई की आवृत्ति होती है। विषम छन्दों से ये भिन्न हैं, क्योंकि इनमें क्रम निर्धारित नहीं होता। टेक लगा कर लिखे गये गीत भी मिश्र छन्द के अन्तर्गत आते हैं। इन गीतों में अन्तराओं की मात्रायें ही समान नहीं होतीं, अपितु

१८८ वही, पृ० १६४-१६६
१८९ वही, पृ० १६८ से उद्धृत

समान आवृत्ति भी होती है। आचार्य भरत ने टेक के अर्थ मे छन्दक[१६०] का प्रयोग किया है। विभिन्न छन्दको के साथ विभिन्न सम्पदो (चरणो) का प्रयोग सस्कृत गीतो मे होता था। छन्दक, सम्पद की अपेक्षा अधिक लचीला और सगीत-प्रधान होता है। सम्पद के चरण प्राय निश्चित छन्दो मे बध कर चलते है। छन्दक और सम्पद मे छन्द की भिन्नता होते हुए भी एक आन्तरिक मैत्री रहती है।[१६१] छन्दक और सम्पद दोनो ही सप्तक के आधार पर चलते है।

डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल का यह कथन कि 'छन्दको और सपदो का मयोग जयदेव से पहले नही मिलता,[१६२] उचित नही है। इसी शोध-प्रबन्ध मे 'हनुमद्रास' का सकेत करते हुए जो उद्धरण दिये गये है, उनमे छन्दक और सम्पद का पूर्ण लयात्मक प्रयोग हुआ है। सस्कृत मे प्रयुक्त गेय मात्रिक छन्दो के उद्धरण यशस्तिलक चम्पू मे मिलते है जो १०वी सदी की रचना है।

विषम छन्द मे भी चरणो की सख्या तथा विस्तार का निश्चय नही होता, पर लयाधार[१६३] निश्चित होता है। भिन्न लयाधारो का सयोग अवाछित होता है, इसमे उस प्रवाह मे बाधा पडती है, जो विषम छन्दो मे भी सगीत का प्रतिष्ठापक है। सममूलक पर्व, अपने आवर्तन से समलय निश्चित कर लेते है, पर विषम-विषम पर्वो के योग से भी समलय स्थापित हो जाता है।

छन्द-पाठ एक कला भी है और भाषा का निर्मल चरित्र भी। छन्द का माधुर्य सगीत का प्राण है और शब्दो का स्वराघात, अभिव्यजना का अनुनय। इन तीनो तत्त्वो से छन्द का व्यक्तित्व प्रभावोत्पादक बन जाता है। निरन्तर भाव-सस्कार, सजग सवेदना, तीव्र-अनुभूति, अभिव्यक्ति-कुशलता, भाषा-सौष्ठव और शब्द-सगीत से काव्य का उद्भव ही नही होता, उसे मनोरम रूप भी मिलता है। वैदिक ऋचाओ के पाठ से लेकर आधुनिक गीतो तक मे सगीत की धारा अव्यक्त रूप से समाहित है और छन्दो के विविध रूप और प्रयोग काव्य मे सगीत के समन्वयन के प्रयत्न है।

काव्य-रचना मे छन्द-शास्त्र के पाण्डित्य की अपेक्षा लयात्मक सस्कारो की अधिक आवश्यकता है। छन्द लयाश्रित होता है और लय का सम्बन्ध ताल से है, अत छन्द और सगीत को एक-दूसरे से पृथक् नही किया जा सकता। प्रत्येक छन्द का अपना ताल और लय होता है और इस विशेषता के कारण ही वे एक-दूसरे से भिन्न होते है।

१६० गीताना छन्दकाना च भूयोवक्ष्याम्यह विधिम् ॥
सर्वेषामेव गीताना मन्ते छन्दक इष्यते । ना० शा० १४।८६
विधाने छन्दसामेषा सम्पदित्यभिसंज्ञिता ।१४।१०३ वही

१६१ द्रष्टव्य—गीतगोविन्द-रासविलास वर्णन—हरिगिर मुखमधु निगमे, आदि

१६२ द्रष्टव्य—आधुनिक हिन्दी काव्य मे छन्द-योजना, पृ० ३७१

१६३ यह मात्रिक छन्दो मे पर्व मात्रा का गणना है, द्विकल त्रिकल आदि इसी के रूप है

छन्द एक ऐसा मधुर, मोहक, मांसल, सुवर्ण शरीर है, जिसमें काव्य की आत्मा प्रतिष्ठित होती है। छन्द केवल नियमन ही नहीं करता, भाषा का शब्द-भंडार भी भरता है। छन्दानुरोध पर शब्दों को विकृत करना कवि की असमर्थता का परिचायक है, पर नूतन शब्द-सृजन उसकी प्रतिभा का चमत्कार प्रदर्शित करता है। तुलसी जैसे महाकवि ने भी 'रिपुसूदन पद-कमल नमामी' 'रघुपति निकट गयेउ घननादा' जैसी पंक्तियो मे नामो का पर्याय छन्दानुरोध पर प्रयुक्त किया, परन्तु 'शतरुघन' जैसे विकृत प्रयोगो को प्रश्रय नही दिया। छन्दो की संगीतमयता, सरसता और भावोन्मेष, काव्य के उत्कर्ष के लिए अनिवार्य तत्त्व है, इस तथ्य को मध्य काल के कवियो ने स्वीकृति प्रदान कर दी थी।

१६. निष्कर्ष

प्राचीन आचार्यों द्वारा काव्य के प्रत्येक अवयव का विस्तृत, तर्कसंगत एवं मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। काव्य के आत्म-तत्त्व के अन्वेषण में भी उन्होंने अपनी बौद्धिक-प्रतिभा का पूरा उपयोग किया है। इस विवेचन-प्रक्रिया मे मतभेद भी उभरे हैं और परवर्ती आचार्यों ने पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारो का खंडन-मंडन भी किया है। निजी दृष्टिकोण को उन्होंने तार्किक आधार पर सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया है। विवेचन की यह प्रक्रिया द्विविधा रही है—एक ओर तो उन्होंने सूक्ष्म-विश्लेषण द्वारा अनेक भेदोपभेदों का निर्माण किया और दूसरी ओर एक को महत्त्व प्रदान करते हुए अनेक को उसी मे संहृत कर दिया। कोई भी काव्य-सिद्धान्त यह नही कहता कि दूसरे सिद्धान्त काव्य के लिए उपयोगी तत्त्व नहीं हैं, आग्रह केवल इतना ही रहा है कि काव्य की आत्मा के रूप मे उसी के द्वारा प्रतिपादित तत्त्व को प्रमुखता दी जाय। रसवादियो ने न अलंकार की उपेक्षा की न ध्वनिवादियो ने रस की।

काव्य-रचना का प्रेरक तत्त्व धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-रूप चतुर्वर्ग है। प्रीति और कीर्ति का समावेश इन्ही मे हो जाता है। चतुर्वर्ग की सिद्धि कवि के काव्य-सृजन का भी प्रयोजन है, और सहृदय के काव्य-श्रवण या पठन का भी। काव्य हेतुओं मे प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रमुखता देकर अन्य छोटे साधनों को इन्ही मे अन्तर्भूत कर दिया गया। इनका इतना सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन किया गया कि एक प्रतिभा के विवेचन मे स्मृति, मति और प्रज्ञा का सूक्ष्म अन्तर स्पष्ट करते हुए सहजा, आहार्या और औपदेशिकी के रूप मे प्रतिभा के त्रिविध रूपो का विस्तृत वर्णन किया गया। हेतुओ का यह विवेचन इतने व्यापक रूप मे किया गया कि स्वास्थ्य और काव्य-सृजन के उत्साह भी उपेक्षित नही हुए।

कवि की कृति ही काव्य है, किन्तु कवि के विवेचन मे यह बतला दिया गया है कि वह सामान्य मानव-प्राणियो से विशिष्ट, संवेदन-शील और स्वानुभूतियो को अभिव्यक्ति देने मे समर्थ होता है। वह ब्रह्म-स्वरूप है, क्योंकि जिस भाव-जगत की

वह सृष्टि करता है, उसमे ब्रह्म-सृष्टि की कुरूपताएँ नही होती। यदि ऐसी कुरूपताएँ आई तो वह कवि नही, कुकवि है। शब्द और अर्थ काव्य-सृष्टि के मुख्य आधार होते है, अत काव्य की परिभाषाये इन्ही दोनो को आधार मान कर आरम्भ मे प्रस्तुत की गई। वाद मे इन दोनो के लालित्य और चमत्कार पर वल दिया जाने लगा। रमणीयता और रसात्मकता के ऊपर इन्ही दोनो के कारण आचार्यो का ध्यान गया। सौन्दर्य-तत्त्व की इस अन्वेषण-प्रवृत्ति ने काव्यात्मा की खोज तक आचार्यो को पहुँचाया और काव्य की परिभाषा मे इस तत्त्व की अभिव्यक्ति का लक्ष्य भी समाविष्ट हो गया। 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' जैसी परिभाषा के मूल मे काव्यात्म की अभिव्यक्ति की दृष्टि सन्निहित है।

अभिव्यक्ति की विविध विधाओ पर भी प्रकाश डाला गया और इन्द्रिय-ग्राहिता के आधार पर श्रव्य तथा दृश्य, शैली के आधार पर गद्य, पद्य तथा चम्पू एव व्यग्य की उपस्थिति के आधार पर उत्तम, मध्यम और अवर आदि भेद किए गए। निवद्ध और अनिवद्ध भेद वन्ध के आधार पर किए गए। इन सभी भेदो के सूक्ष्म विश्लेपण द्वारा अनेक उपभेद भी दिखाए गये। काव्य के गुण और दोपो का भी विवेचन किया गया और वर्ण, पद, वाक्य, अर्थ तथा रस के समस्त क्षेत्रो को इसका विषय वनाया गया। कुकाव्य, रसिक और काव्य-पाक की विशेषताएँ वतलाई गई।

काव्यात्मा के अन्वेषण मे रस, अलकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य की सिद्धान्त-रूप मे प्रतिष्ठा हुई और प्रत्येक के विवेचन को सूक्ष्मतम रूप मे तर्कसगतता प्रदान की गई। भरत के नाट्य शास्त्र से लेकर क्षेमेन्द्र के औचित्य-विचार-चर्चा तक की इनकी व्याख्याओ का क्रम चलता रहा। विश्वनाथ ने सबकी चर्चा समन्वित रूप मे और रूप गोस्वामी ने युगानुकूल भक्ति रस की विस्तृत व्याख्या कर उसका महत्त्व प्रतिपादित किया। छन्दो के विवेचन की प्रक्रिया वेदाग के रूप मे आरम्भ हुई और उसका उत्तरोत्तर विकास हुआ। भरत और क्षेमेन्द्र ने काव्य को रूप प्रदान कर उसे सगीतात्मक वनाने वाले छन्दो का काव्य रस के परिप्रेक्ष्य मे विवेचन किया। ये सम्पूर्ण काव्य-शास्त्रीय विवेचन श्रेष्ठ कवियो तक को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप मे प्रभावित करते रहे।

१७ काव्य-सम्बन्धी विचारो के दो वर्ग

कोई भी काव्य, काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ नही होता, अत यह आवश्यक नही है कि काव्य-रचना के पूर्व कोई कवि अपने काव्य मे काव्य-सम्वन्धी विचारो को स्पष्ट करने के उपरान्त काव्य-रचना करे, फिर भी प्रत्येक श्रेष्ठ कवि की काव्य-सम्वन्धी कुछ निजी धारणाए होती हैं। ये इतनी प्रखर और वद्धमूल होती है कि उसके काव्य मे प्रसगवश यत्र-तत्र व्यक्त हो जाती हैं। ऐसे अनेक विकीर्ण विचारो को एकत्र कर कवि की काव्य-सम्वन्धी निजी धारणाओ का स्पष्ट-अस्पष्ट चित्र प्रस्तुत किया जा

सकना है। यह स्पष्टता और अस्पष्टता इस तथ्य पर निर्भर करती है कि किसी कवि ने काव्य-सम्बन्धी विचारो की कितनी रेखाओं का सकेत किया है। ये विचार कवि के काव्य को आकार प्रदान करते है, अतः वह इनका प्रयोग अपने काव्य मे करता है। ये सकेत और प्रयोग एक-दूसरे से अविच्छिन्न होते है अतः किसी कवि के काव्य-सम्बन्धी विचारो के अन्वेषण मे सूत्र के दोनो पक्षो पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

किसी कवि के काव्य मे उपलब्ध काव्य-सम्बन्धी विचारो के दो वर्ग बन जाते हैं। प्रमुख वर्ग मे उसके काव्य-सृजन की प्रेरणा, प्रयोजन, हेतु, लक्ष्य, फल तथा प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित ६ सिद्धान्तो मे से सकेतित और व्यवहृत किसी सिद्धान्त-विशेष का अन्वेषण आता है और गौण वर्ग मे कवि, काव्य का स्वरूप, वाणी, शब्द तथा छन्द आदि काव्य को मूर्त रूप प्रदान करने वाले उपकरण सम्बन्धी विचार आते हैं।

कवि द्वारा सकेतित और व्यवहृत काव्य-तत्त्व सम्बन्धी विचार एक-दूसरे के पोषक बन कर उसके काव्य-सिद्धान्त को स्पष्ट करने मे पूर्णत समर्थ हैं। यह आवश्यक नही है कि एक रसवादी कवि अलकार, वक्रोक्ति या ध्वनि का प्रयोग न करे, अथवा अलकार और रीतिवादी कवि रस और औचित्य की उपेक्षा करे फिर भी प्रमुखता के आधार पर उसकी काव्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी मान्यता का निरूपण किया जा सकता है। स्वय आचार्यों ने एक सिद्धान्त को प्रमुखता देते हुए भी अन्यो को उपेक्षणीय नहीं माना है।

काव्य सम्बन्धी विचारो की कवि द्वारा प्रसगवश अभिव्यक्ति किसी विशिष्ट भाषा के कवि तक ही सीमित नही है। इस तथ्य का पोषण काव्य-सकेतो की उपलब्ध परपरा से हो जाता है।

३ काव्य सिद्धान्तो के संकेत की परम्परा

सस्कृत साहित्य मे

प्राचीन आचार्यों के दृष्टिकोण के अनुसार गद्य-पद्य और गद्य-पद्य-मिश्रित, किसी भी शैली मे अपनी रचना प्रस्तुत करने वाला कवि है, अत इसकी किसी भी प्रकार की सरस कृति काव्य कहलाने की अधिकारिणी बन जाती है। इन त्रिविध सस्कृत-काव्यो मे काव्य-तत्त्व-सम्बन्धी विचारो की उपलब्धि हो जाती है। काव्य-सकेतो की परम्परा के निदर्शन के लिये उदाहरण रूप मे ही कुछ कवियो को ग्रहण किया गया है, समग्र सस्कृत-साहित्य मे ऐसे विचारो का अन्वेषण न तो यहा उद्देश्य है और न सकेत-परम्परा दिखाने के लिए उसकी आवश्यकता ही। यही कारण है कि कुछ प्रतिनिधि भूत कवियो के काव्य-सकेतो को ही यहा प्रस्तुत किया गया है।

१ कालिदास की कृतियो मे काव्य-सिद्धान्तो के सकेत

कवि और नाटककार के रूप मे कालिदास की कीर्ति आज सम्पूर्ण विश्व मे व्याप्त हो रही है। डेढ-दो हजार वर्षो के बाद भी उनकी कृतिया सहृदय-हृदयो का हार बनी हुई है। 'महाकवि कालिदास ने जहा मानव-प्रवृत्ति की गहराइयो मे जाकर उसका अनुपम विश्लेषण किया है, वहा उन्होने सुषमामयी प्रकृति के सौन्दर्य की उपासना करते हुए अपनी लेखनी द्वारा ऐसे विराट् चित्रो की रचना की कि जिनका उदाहरण विश्व-साहित्य मे कम ही मिलेगा।'[१] श्री अरविन्द घोष ने वाल्मीकि, व्यास और कालिदास को प्राचीन भारत के इतिहास का अमृत-स्रोत कहा है। मध्य-युग मे जो कार्य मल्लिनाथ सूरि ने किया वैसा ही सजीवन-कार्य विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कालिदास के लिए किया। आज के युग मे जो सिद्धान्त जर्मनी के सुप्रसिद्ध डॉक्टर फ्रायड तथा उनके साथियो ने प्रतिपादित किए है, वे कालिदास के काव्यो मे पाये जाते है।[२] ऐसे महाकवि के काव्य-सिद्धान्तो के मूर्त रूप तो उसके काव्य ही है, परन्तु

१ राष्ट्रकवि कालिदास, प्राक्कथन—डा० रामकृष्ण राव, पृ० १
२ वही, पृ० ३,४,२५ और ३५

उसमे स्थान-स्थान पर जो संकेत दिए गए हैं, उनका निर्देश निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है—

आकाश का मुख्य गुण शब्द है।[3] वाणी और अर्थ परस्पर उसी प्रकार संश्लिष्ट हैं जिस प्रकार अर्द्धनारीश्वर रूप में पार्वती और शिव।[4] यह सरस्वती या वाणी गूढरूपा है।[5] वाणी का सौंदर्य मधुर अक्षर है।[6] वात्सल्यमयी वाणी तो और भी अमृतमयी होती है।[7] लिपि के द्वारा वाङ्मय का यथावत् आदान-प्रदान होता है।[8] धातु-रसों का उपयोग अक्षरों को लिखने में किया जाता है।[9] वाणी के सप्त-स्वर ही सप्त-साम हैं जिनके द्वारा विष्णु का चरित पहले गाया गया है।[10] केवल स्तुति के द्वारा ही विष्णु चरित्र का गान सम्भव है।[11]

कवि

पुरातन कवियों में ब्रह्मा ही प्रथम एवं सर्वप्रमुख हैं जिनके चारों मुखों से प्रेरित होने के कारण शब्द-चतुष्टयी (परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, या नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात, या ऋक् यजु, साम और अथर्व) की सफल प्रवृत्ति हुई।[12] पुराण कवि विष्णु ने इन शब्दों का सफल संस्कार किया।[13]

वाल्मीकि ही आदिकवि हैं जो कारुणिक थे तथा जिनका शोक ही निषाद के बाण से विद्ध क्रौञ्च के दर्शन से श्लोक के रूप में मूर्त हो गया—

कवि कारुणिक वव्रे सीताया सपरिग्रहम् ।।रघु० १५।७१।।

निषाद विद्धाण्डजदर्शनोत्थ श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोक ।। रघु० १४/७०।।

इसी श्लोक के आविर्भूत होने से उन्होंने राम के आदर्श चरित्र को रामायण में प्रस्तुत किया। कुश और लव ने उसे गाया तथा इस प्रकार उन्होंने प्रथम कवि-पद्धति का निर्माण किया—

स्वकृर्ति गापयामास कवि-प्रथम-पद्धतिम् । रघु० १५।३३ ।।

३ रघुवंश १।१
४ रघु० १।१
५ रघु० १५/४६
६ रघु० १३/७१
७ रघु० २/६१
८ रघु० ३/२८
९ कुमार सम्भव १/७
१० रघु० १०/३०
११ कुमार सम्भव २/१७
१२ रघु० १०/३६
१३ वाल्मीकि रामायण-बाल का०, २/१५

एक तो राम का चरित, उस पर वाल्मीकि उसके रचयिता, और फिर किन्नरो के समान मधुर कठ वाले लव-कुश और उसके गायक, तब उसे सुनकर जन-मन क्यों न मुग्ध होता—

> वृत्त रामस्य वाल्मीकेः कृतिस्तौ किन्नरस्वनौ
>
> किं तद्येन मनोहर्तुमलं स्यातां न शृण्वताम् ॥ रघु० १५।६४॥

वृत्त की मधुरता कवि के कवित्व को चार चाँद लगा देती है। मैथिलीशरण गुप्त ने 'राम तुम्हारा चरित स्वय ही काव्य है, कोई कवि बन जाय सहज सभाव्य है' कहकर इसी की पुष्टि की है।

काव्य-रचना की प्रेरणा

वाल्मीकि को काव्य के उपयुक्त आदर्श चरित की खोज थी, नारद ने उन्हे रामचरित गाने की प्रेरणा दी। कालिदास को आदर्श चरित की खोज थी, आदर्श गुणो से सपन्न रघुवश की कीर्ति उनके कानो मे पडी[14] और उन्होने सारे रघुवश को ही अपने काव्य का वर्ण्य बना लिया। रघुवश के जिन गुणो का उन्होने उल्लेख किया है, उनमे भारतीय सस्कृति और उसके आदर्शो के सार विद्यमान है। रघुवशी दान करने के लिए ही धन-सचय करते थे, वे मितभाषी थे, यश के लिए विजय की कामना करते थे, शैशव मे विद्या का अभ्यास करते थे, यौवन मे ससार के भोगो का आनन्द लेते थे, बुढापे मे तप करते थे और अन्त मे योग से शरीर का त्याग करते थे। वे विवाह का उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति ही समझते थे। इन गुणो से युक्त रघुवश के विविध राजाओ का चरित उन्होने प्रस्तुत किया। जब विलासी अग्निवर्ण का वर्णन करने लगे तब कालिदास को सभवत इस काव्य की मूल-प्रेरणा का स्मरण हो आया और इस काव्य की समाप्ति हो गई।[15] अग्निवर्ण के इस विलासी जीवन के रोग से प्रजा को बचाने के लिए ही पुरोहितो और मन्त्रियो ने राजभवन मे ही उसकी अन्त्येष्टि कर दी। उत्तम चरित ही काव्य की प्रेरणा और उसका शृगार है। यह उत्तमता भारतीय सस्कृति को ध्यान मे रख कर ही परखी जा सकती है।

नाट्य-प्रयोग और उसकी प्रेरणा-परिषद्

जिस प्रकार काव्य के लिए सहृदय श्रोता अपेक्षित है उसी प्रकार नाटको के लिए सहृदय प्रेक्षक। 'मालविकाग्निमित्र' वसन्तोत्सव पर खेला गया और विद्वानो की परिषद् ने उसकी अनुमति दी। उस समय परिपार्श्वक यह सदेह प्रकट करता है कि बडे-बडे प्रसिद्ध यशस्वी भास, सौमिल्लक और कविपुत्र के नाटको को छोड कर

१४ रघु० १/७-६

१५ रघु० १६/५८

वर्तमान कवि कालिदास के इस नाटक को क्यों इतना आदर दिया जा रहा है।[16] विक्रमोर्वशीय के प्रयोग के समय की दर्शक-परिषद् भी अनेक नाटकों को अभिनीत होते हुए देख कर उनका रसास्वादन कर चुकी थी।[17] अभिज्ञान शाकुन्तल के प्रयोग के समय की परिषद् तो रस-भाव-विशेष दीक्षा-गुरु विक्रमादित्य की है और उनके अनुरूप ही है। उत्तम प्रेक्षकों की प्रशंसा नाट्य-सृजन की एक प्रमुख प्रेरणा है।[18]

काव्य की कसौटी

काव्य का श्रोता ही किसी काव्य का सच्चा परीक्षक है, और श्रोता का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण है, सत् और असत् के विवेक की क्षमता। सोने का खरापन या खोटापन तो तभी परिलक्षित होता है जब उसे अग्नि में डाल दिया जाय।[19] यह दृष्टिकोण उचित नहीं है कि सभी पुराना अच्छा है और सभी नया सदोष, विवेकी उन्हें परख कर ही अपनाते हैं। केवल मूढ ही काव्य की परख में दूसरों के विश्वास को ठीक समझ लेते हैं।[20] कोई भी काव्य-प्रयोग तब तक ठीक नहीं माना जा सकता जब तक विद्वान् उससे सन्तुष्ट न हों। एकाध दोष तो गुण-समूह में वैसे ही छिप जाते हैं जैसे चन्द्रमा की किरणों में उसका कलंक—

आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोग विज्ञानम् ॥ शाकु० १।२ ॥

एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥ कुमार० १।३ ॥

विनम्रता एवं काव्य-प्रयोजन

रघुवंश की रचना करते समय कवि ने अपनी विनम्रता प्रकट करते हुए कहा है कि 'मैं रघुवंश का वर्णन करने लगा हूँ, परन्तु मैं अनुभव करता हूँ कि कहाँ तो सूर्य से पैदा हुआ वह तेजस्वी वंश और कहाँ मेरी अल्पज्ञ बुद्धि, यह तो एक छोटी नाव से समुद्र पार करने के प्रयास जैसा ही है। परन्तु मुझे भारी विश्वास यह है कि वाल्मीकि आदि कवियों ने सूर्यवंश पर सुन्दर काव्य लिख कर वाणी का द्वार पहले ही खोल दिया है, उस वंश का फिर से वर्णन करना मेरे लिए वैसे ही सरल हो गया है जैसे हीरे की कनी से बिंधी हुई मणि में सरलता से डोरा पिरोया जा सकता है।[21]

इसी प्रसंग में कालिदास ने अपने काव्य की रचना का प्रयोजन भी स्पष्ट कर दिया है कि 'मन्दबुद्धि होते हुए भी मैं कवि-यश का प्रार्थी हूँ, भले ही यह उपहास का विषय बन जाय, यह है भी तो वैसे ही जैसे कोई बौना अपने छोटे-छोटे हाथ उठा कर

१६ मालविका, १/१
१७ विक्रमोर्वशीय १/१
१८ शाकुन्तल १/१ गद्य भाग
१६ रघु० १/१०
२० मालविकाग्नि० १/२
२१ रघु० १/३-४

लोभवश दुर्लभ फलो को तोडना चाहता है।[२२] कवि को यश की ही चिन्ता थी, धन की नही। वह मानता है कि यश के लिए वे ही कार्य करणीय है जिन्हे सामान्य जन न कर सकें।[२३] यश शरीर को कालिदास इतना महत्त्वपूर्ण समझते थे कि अपने काव्यो के अनेक स्थलो पर उन्होने इसका उल्लेख किया है।[२४]

काव्य का उद्देश्य या फल

वैसे तो सारी भारतीय परपरा ही पुरुष-लक्ष्य की भाति काव्य का लक्ष्य भी चतुर्वर्ग की सिद्धि ही मानती रही है, परन्तु कालिदास ने धर्म, अर्थ और काम को ही मुख्यता दी है। वे इनमे से प्रत्येक को एक-दूसरे का पूरक मानते है, एक को दूसरे का बाधक नही समझते।[२५] कालिदास के काव्य का उद्देश्य सर्वमगल ही है।[२६] पर वे अपने[२७] सहित सहृदय काव्य-रसिको[२८] की मगल-भावना का भी स्पष्ट उल्लेख कर देते है। मेघदूत जैसे विरह-गीति के अन्त मे भी वे कहते हैं कि मैंने आर्या देवी के चरण-कमलो मे प्रणाम करके सुन्दरता से सजाये हुए शब्दो मे इस प्रकार मेघदूत की रचना की है। यह कविता, विरह के समय उन लोगो का भी मन वहलावेगी जो काम-विलास से रहित है। इसमे मेघ की अत्यन्त निपुणता और कवियो की कल्पना का भी परिचय मिल जायेगा।[२६]

सौन्दर्य, कोमलता, यौवन, प्रणय और विलास के गायक

भारतीय आचार्यो द्वारा प्रतिपादित काव्य-सिद्धान्तो मे रस ही कालिदास को भी प्रिय है। वीर और शृगार उनकी काव्य-धारा के दो तट है। इस काव्य-धारा की गहराई शृगार की ओर अधिक है जिसे वे तप का ही फल मानते है। रघुवश का आरम्भ दिलीप के तप से होता है। रघु की दिग्विजय मे वीर-नाद है, पर उस काव्य का अन्त अग्निवर्ण के विलास वर्णन से होता है। उस विलास-वर्णन मे कामशास्त्रोक्त सम्पूर्ण विलास सामग्रियो का एकत्रीकरण हुआ है।[३०] कुमार सभव का आरम्भ पार्वती के तप से होता है, मध्य भाग शृगार से ओतप्रोत है और उपसहार कार्तिकेय के वीरत्व और शौर्य-प्रदर्शन से। मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञान शाकुन्तल, तीनो ही नाटक शृगार रस के हैं। ऋतु-सहार मे ऋतुए अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य के साथ उद्दीपन विभाव के रूप मे वर्णित है। यजुर्वेद मे ६

२२ रघु० १/३
२३ कुमार० ३/१६, ५/७५
२४ रघु० २/५७, १४/३५ आदि।
२५ रघु० १७/५७
२६ विक्रमो० ५/२५
२७ शाकु० ७/३५
२८ ऋतुसहार—१/२८, २/२६, ३/२८,४/१६, ५/१६ ६/३८
२६ उत्तरमेघ ६३
३० रघु० १६ सर्ग।

ऋतुओं की चर्चा मिलती है।[३१] उनकी गणना का आरम्भ वसन्त से हुआ है। कालिदास ने अथर्ववेद[३२] की परम्परा का अनुसरण करते हुए ग्रीष्म से आरम्भ किया है। वाल्मीकि ने वर्षा, शरद्, हेमन्त और वसन्त का ही वर्णन किया है। पर कालिदास ने ग्रीष्म और शिशिर का भी समावेश कर षट्ऋतु-वर्णन की परम्परा का श्रीगणेश किया है। मेघदूत भी विप्रलम्भ शृंगार का ही गीति-काव्य है। स्वतन्त्र रूप से लिखे गए इन काव्यों में यह प्रथम है। यह स्पष्ट है कि कालिदास की रचना का अधिकांश शृंगार रसाप्लावित है।

सौन्दर्य, शृंगार रस की सिद्धि का प्रथम साधन है। कालिदास की मनोवैज्ञानिक दृष्टि ने इसके सहज आकर्षण को पूरी तरह पहचान लिया था। उन्होंने एक ओर प्रकृति-सौन्दर्य का रमणीय रूप चित्रित किया है और दूसरी ओर नारी-सौन्दर्य का। कालिदास की दृष्टि में प्रकृति अलंकार है और नारी अलंकरणीय। पल्लव और कुसुम स्वयं सुन्दर और आकर्षक हैं पर वे नारी के अंगों पर सजकर उसकी रमणीयता को और बढ़ा देते हैं। कुसुम, केसर-दल, पराग, तमाल-प्रवाल और कल्प-वृक्ष के कुसुमरत्न आदि भी नारी-शृंगार के प्रसाधन हैं।[३३] कालिदास के काव्य की सभी नायिकाएं रूप और गुण में अनन्या हैं, यक्ष-पत्नी तो ब्रह्मा की प्रथम सौन्दर्य-सृष्टि है।[३४]

यौवन तो शरीर-लता का कुसुम है।[३५] नारी का यौवन पुरुष के लिए लोभनीय है परन्तु पुरुष का यौवन स्त्रियों की आंखों की मदिरा है।[३६] वह विलास का प्रथम पद है। वित्तेशों की तो यौवन के अतिरिक्त और कोई अवस्था ही नहीं होती।[३७] तप के समय नारी-अंगों की असारता और विलास के समय उनकी कोमलता पर कवि मुग्ध है।[३८] मृदु प्रवालों और कमल की पंखुड़ियों को ही वह उत्तम संस्तरण समझता है, पर उस पर भी उसकी नायिकाओं के कोमल अंग दुखने लगते हैं।[३९] नेत्रों की चंचलता यौवन में उन्माद भरती है। भ्रू-विलास और कटाक्ष का उल्लेख तो उन्होंने प्रत्येक नारी-सौन्दर्य-वर्णन के समय किया है।[४०]

३१ यजु. संहिता १०/१०
३२ अथर्व ६ काण्ड।
३३ द्रष्टव्य—रघु० ६/४०, ११/२३, १३/४९, उत्तरमेघ० ८, शाकु० ४/५, उत्तरमेघ० ११
३४ उत्तरमेघ०, १९, शाकु० १/२४
३५ शाकु० १/२०
३६ रघु० १८/५२
३७ उत्तरमेघ ४
३८ कुमार० ५/१९
३९ रघु० ६/५०, ८/५७।
४० कुमार० ३/५, पूर्वमेघ १६, २४, उत्तरमेघ ३२, ४५, शाकु० १/२५ ८/२ आदि।

यौवन उपभोग के लिए है,[४१] पर सौन्दर्यजन्य आकर्षण के उपरान्त प्रणय या प्रेम आवश्यक है। प्रेम भी उसी से करना चाहिए जिसकी परीक्षा की जा चुकी हो।[४२] रति भाव-बन्धन का आदर्श वे चक्रवाक-युगल को ही मानते हैं।[४३] करुणावृत्ति वाले ही प्रणयशील होते हैं और वे ही सच्चे प्रणयी होते हैं।[४४] प्रिय या प्रियतमा के अनुराग में ही मन का उत्कर्ष है।[४५] प्रेम का भाव तो ऐसा है कि विभु भी उस के स्पर्श से नहीं बच पाते।[४६] उसमें जितनी बाधा पड़े उसका घनत्व बढ़ता जाता है।[४७] प्रिय में सौभाग्यफल ही चाहना है।[४८] यही सौन्दर्य की सार्थकता है।

प्रेम का चेतन और अवचेतन मन पर जो प्रभाव पड़ता है, उसके संचारियों और अनुभावों का पूर्ण चित्र कालिदास ने पाठकों के सामने ला दिया है।[४९] पुष्प-धन्वा, वसन्त-सहचर काम ही प्रणय का प्रेरक देवता है। सहकार-मंजरी और मधुलोभी मधुपों के विलास ही उसके इंगित हैं।[५०] यह काम-वृत्ति न तो वचनीय है[५१] न कामार्त को चेतन-अचेतन का विवेक ही रह जाता है।[५२] कालिदास ने नारी के स्वकीया और परकीया, दोनों ही रूपों का विलास-वर्णन प्रस्तुत किया है। उनकी दृष्टि में स्वकीया—गृहिणी, सचिव, सखी या प्रिय सहचरी तथा कला-शिक्षण में प्रिय-शिष्य हो सकती है।[५३] वह सीता जैसी साध्वी है, जो प्रिय-वियोग में जीवित रहने पर लज्जित होती है।[५४] परकीया पण्यस्त्री है, गृहिणी नहीं।[५५] अभिसार से तो कालिदास इतने प्रभावित हैं कि वे वीर रस के वर्णन में भी विजयश्री से अभिसार करा देते हैं।[५६]

४१ शाकु० २/१०
४२ शाकु० ५/२४
४३ रघु० ३/२४
४४ उत्तरमेघ ३०,
४५ रघुवंश ३/१०
४६ कुमार० ६/६५
४७ उत्तरमेघ ४६,
४८ कुमार० ५/१
४९ संचारी—रघु० २/३१, ७/४२, १२/१६, १३/२५, १४/१६, कुमार ५/८५ शाकु० १/२६ अनुभाव—रघु०, २/६८, ११/६२, १२/२१, १४/६३ कुमार, ५/८५ आदि।
५० कुमार० २/६४
५१ कुमार० ५/८२
५२ मेघ० ५, शाकु० २/१०, ३/१७
५३ रघुवंश ८/६७
५४ रघुवंश ११/७५
५५ मेघ० २५
५६ रघुवंश १७/६६, ४/५४, ४/६१

अभिसार के चिन्हों से चिह्नित पथ भी उनका वर्ण्य-विषय बन गया है।[५७] सुरति के चिन्हों का तो उन्होंने अनेक स्थानों पर उल्लेख किया है।[५८] कालिदास के संयोग शृंगार या विलास-वर्णन के प्राकृतिक और मानवीय दोनों रूप मिलते हैं, पर प्रकृति-विलास के चित्र कहीं अधिक रमणीय हैं।[५९] जयदेव ने 'कविकुलगुरु कालिदासो विलास' कहकर उनके इन्हीं विलास-वर्णनों की ओर संकेत किया है। कवि की यह मुख्य प्रवृत्ति रही है।

कुछ पंक्तियाँ तो सचमुच ही कवि के अन्तर्मन की व्यथा को प्रत्यक्ष कर देती हैं, जिन पर उसके सारे संयोग-वियोग के रमणीय चित्र अंकित हुए हैं। इन स्थलों में हंसपदिका का गीत, सीता का उपालम्भ और शकुन्तला के साथ गये शिष्य की तटस्थता में इस व्यथा का दर्शन करना संभव हो जाता है, जिनका उद्देश्य इष्ट-प्रवास-जनित वेदना की ओर संकेत करना है—

(क) अभिनव मधुलोलुपो भवान् तथा परिचुम्ब्यचूतमञ्जरीम्।
कमलवसतिमात्र निर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽस्येना कथम्। शाकु० ५/७॥

(ख) वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवाद श्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य। रघु० १४/६१

(ग) इष्ट प्रवास जनितान्यबलाजनस्य दुःखानि नूनमति मात्र सुदुःसहानि।
शाकु० ४/३ और भी शाकु० ५/२।

कवि की दृष्टि में रस और आनन्द पर्यायवाची हैं अतः वह रति-सर्वस्व अधर रस (शाकु० १।२३, ३।२२), दर्शन-सुख (शाकु० ६।२१), स्पर्श-रस (रघु० ३।२६), वत्सल (रघु० १४।२२), क्रीडारस (कुमार० १।२९), मणिक्रीडा (उ०मेघ४) आदि का स्वच्छन्द-प्रयोग करता है।

काव्य के सृजन में रुचि होने पर भी उसे संगीत से अगाध प्रेम है। उनकी दृष्टि में मधुरभाषिणी वीणा और कामिनी ही अंक की शोभा है (रघु०१९।१३), अभिनय में आंगिक, वाचिक और सात्विक रूप ही कालिदास को प्रिय है (रघु० १९।३६)। नाटक और काव्य दोनों में ही रस की प्रधानता की ओर वे संकेत करते हैं, तथा रसों में भी शृंगार नवरस शृंगार है, जिसके संयोग-विलास का आनन्द उतना ही मोहक है जितना इष्ट-प्रवास-जनित विरह की मधुर वेदना। छन्द-प्रवृत्ति और प्रिय अलंकार उपमा—काव्य में वर्ण्यवस्तु तथा रस के अनुसार ही छन्दों की योजना करने में कालिदास सिद्धहस्त हैं। इन्होंने निम्नलिखित रूप से छन्दों का प्रयोग किया है—

५७ उत्तर मेघ० ८
५८ द्रष्टव्य—रघु०, १९ ४८ कुमार०, १/१०, १/१६, मेघ, २२, २५, ३१, ४१ उत्तरमेघ ७ ३३ शाकु० ३ ३ आदि।
५९ द्रष्टव्य १९ ६ शाकु० १ ४

१ उपजाति—वशवर्णन, तपस्या तथा नायक-नायिका के सौन्दर्य-वर्णन के लिये।
२ अनुष्टुप्—उपदेशदान और कथावस्तु की सक्षिप्तता के लिए।
३ वशस्थ—वीरता या युद्ध-सज्जा के लिए।
४ वैतालीय—करुण रस के लिए।
५ द्रुतविलम्बित—समृद्धि वर्णन के लिए।
६ रथोद्धता—आखेट, काम-क्रीडा और सभी प्रकार के श्रम के लिए।
७ मन्दाक्रान्ता—प्रवास, विरह, वर्षा तथा विपत्ति-वर्णन के लिए।
८ मालिनी—काव्यो के सर्गान्त मे छन्द-परिवर्तन के लिए।
९ प्रहर्षिणी—हर्ष, हर्षातिरेक या सुखान्त सर्ग की समाप्ति के लिए।
१० हरिणी—अभ्युत्थान या सौभाग्य-वर्णन के लिए।
११ वसन्त तिलका—सफलता वर्णन के लिए।

इसी प्रकार प्रस्थान मे पुष्पिताग्रा, निवृत्ति मे तोटक, कृतकृत्यता मे शालिनी, व्यर्थ वीरता-प्रदर्शन मे औपच्छन्दसिक, स्वय आमन्त्रण या विपत्ति मे स्वागता, घबराहट मे मत्तमयूर, प्रपच-त्याग मे नाराच और शौर्य-प्रदर्शन मे शार्दूल विक्रीडित का प्रयोग किया गया है।

यदि छन्दो के प्रयोग-परिमाण की दृष्टि से विचार किया जाय तो उनके चार-रघुवश, कुमार सम्भव, ऋतु सहार और मेघदूत—काव्यो मे अनुष्टुप् ११०२, उपजाति ७५५, वशस्थ २५४, रथोद्धता २३७, वसन्ततिलका १४३, मन्दाक्रान्ता १३९, वैतालीय १३५, मालिनी ५५, द्रुतविलवित ५४, पुष्पिताग्रा ४, प्रहर्षिणी ५, हरिणी ४, स्वागता ३, शालिनी २ तथा मत्तमयूर, नाराच और औपच्छन्दसिक एक-एक की सख्या मे उदाहरण विद्यमान है। कालिदास को कौन से छन्द अधिक प्रिय थे, उक्त सख्यायें इसकी साक्षी दे सकती हैं। क्षेमेन्द्र ने सुवृत्त तिलक मे छन्दो के उपयुक्त प्रयोग पर कुछ सकेन दिये है।

कालिदास ने अर्थान्तरन्यास अलकार का उपयोग करते हुए रूढोक्तियो (कहावतों) का प्रचुर प्रयोग किया है। इनकी सख्या लगभग पचास है। सादृश्यमूलक अलकारो मे रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त आदि भी मिल जाते हैं पर उनका सबसे प्रिय अलकार उपमा ही है। नाटक होते हुए भी अभिज्ञान शाकुन्तल मे ही १८० उपमाये प्रयुक्त हुई हैं। उपमान्वेषण की उनमे विचित्र शक्ति भासित होती है। कालिदास की सभी उपमाओ मे मनोवैज्ञानिकता के दर्शन किए जा सकते है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा।—

गच्छति पुर शरीर धावति पश्चादसस्थित चेत।
चीनाशुकमिव केतो प्रतिवात नीयमानस्य ॥ शाकु० १।३२ ॥

दुष्यन्त, शकुन्तला से मिलने के उपरान्त जब लौटता है तो उसकी मनोदशा के चित्रण के लिए पताका के वस्त्र के साथ मन की समता की गई है, जो वायु के

कारण पीछे की ओर उडती है। शरीर के आगे चलने पर भी मन का प्रिय की ओर पीछे दौडना स्वाभाविक मनःस्थिति है।

कालिदास की अपूर्व काव्य-कला ही उन्हे कवि-कुल-गुरु के गौरव से मडित किये हुए है। वाल्मीकि और व्यास ऋषि-कोटि मे थे, उन्हे जितना ध्यान प्रतिपाद्य विषय का था, वर्णन शैली की उतनी चिन्ता न थी। यही कारण है कि उनकी रचनाओ को इतिहास और पुराण की सज्ञा दी गई। आदिकवि वाल्मीकि की रचना मे लालित्य भी है, भाव भी है और रस परिपाक भी। उसमे छन्दो के प्रवाह के साथ भाषा का प्रसाद भी है फिर भी यह सब कुछ घात-प्रतिघात से आच्छन्न है। रचना को सुन्दर बनाने का उनका लक्ष्य या प्रयत्न था, यह कही आभासित नही होता। सम्भवत इन्ही सबसे प्रभावित होकर भवभूति ने कहा है कि आदि ऋषियो की वाणी के पीछे अर्थ स्वय ही दौडता है। रामायण मे काव्य के भाव-पक्ष का ही पूर्ण प्रसार है, कलापक्ष पर उतना आग्रह नही है। भाव और कला दोनो का पूर्ण तथा मनोरम समन्वय हमें सर्वप्रथम कालिदास की कृतियो मे मिलता है। कालिदास ऋषि नही, कवि थे। काव्य के सम्बन्ध मे उनका एक निश्चित दृष्टिकोण एव सिद्धान्त था। सच तो यह है कि रघुवश की रचना द्वारा उन्होंने एक विशिष्ट सकेत दिया है कि कविता अब वाल्मीकि और वसिष्ठ के आश्रमो से निकलकर यौवन-सुख की अनुभूति के लिए अग्निवर्ण के कामशास्त्रीय विलास-भवन मे पहुच गई है। अब वह अलकरण और शृगार रस को ही सर्वस्व मान कर उसमे डूब जाना चाहती है। प्रकृति-कन्या शकुन्तला की भाति प्रकृति की क्रोड मे पलने वाली कविता के लिए इन राजमहलो मे कोई स्थान नही है। काव्य-प्रवृत्ति के पारखी कालिदास के इस सकेत की साक्षी के लिए परवर्ती आठ सौ वर्षों के सस्कृत साहित्य का इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है।

कालिदास का काव्य ही नही, काव्य-सम्बन्धी आदर्श भी परवर्ती कवियो के लिए सागर तटवर्ती प्रदीप-गृह का कार्य करता रहा है। सौन्दर्य, प्रणय और विरह की जो रूपरेखा कालिदास ने प्रस्तुत की, उसी को नयी-नयी साज-सज्जा से कभी अलकृत और कभी निरलकृत रूप मे प्रस्तुत किया गया है। महाकाव्य परंपरा की अन्तिम सबल कडी नैषध चरित मे कालिदास की उपमायें और भाव-मालाएँ सहज ही उपलब्ध हो जाती है।[६०] प्रेम के सम्बन्ध मे दृष्टिकोण भी मिलता-जुलता ही है।[६१] यही स्थिति कालिदास और हर्ष के बीच के काव्यो की है।

काव्य-सिद्धान्तो या काव्यादर्श के सम्बन्ध मे कालिदास द्वारा स्थापित यही स्थिति आगे के प्रबन्ध-काव्यो मे भी दिखाई पडती है कि अपने काव्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण के

६० तुलनीय—नैषध० ७/२—कुमार० १/४६, नैषध ७/३३ कुमार० १/४१, नैषध २०/६-कुमार० ८/४६ शाकु० २/१० नैषध २/४१, से

६१ द्रष्टव्य—शाकु० ५/२ और नैषध० १३/२६

विषय में यदि कुछ बातें काव्यारम्भ में अवश्य कह दे, भले ही वे काव्य गद्य में लिखे गए हों या पद्य में अथवा गद्य-पद्य की मिश्रित शैली चम्पू में।

२. भारवि के किरातार्जुनीय में काव्य सकेत

भारवि की अमर कीर्ति का आधार किरातार्जुनीय है। यह काव्य अपने अर्थ-गौरव के लिए प्रसिद्ध है। कालिदास के समय तक रस की सत्ता का अखण्ड राज्य था, परन्तु भारवि के समय (६०० ई०) अलकारों ने काव्य-जगत पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। इसीलिए किरातर्जुनीय को एक वैचित्र्य मार्ग का प्रवर्तक माना जाता है।

भारवि ने 'श्री' शब्द के सर्वप्रथम प्रयोग को मगलाचरण मानकर कथा को त्वरित गति दे दी है। इनकी दृष्टि में वाणी सुन्दर, उदार और विनिश्चत अर्थ वाली होनी चाहिए। वह हितकर और मनोमोहक होनी चाहिए।[62] एक वचक भी अपने गुणों से यश-विस्तार चाहता है।[63] अभीष्ट गुण के लिए वाणी को रुचिर अर्थों से सम्पन्न होना चाहिए, क्योंकि वाणी में गुणों को ही ग्रहण किया जाता है।[64]

युधिष्ठिर द्वारा भीम के कथन की जिन शब्दों में प्रशसा की गई है, वे ही भारवि के काव्य-सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट करते है। पदो मे स्पष्टता, अर्थ-गौरव, भिन्नार्थता तथा सामर्थ्य आवश्यक है। हृदयग्राहिणी, मगलमयी तथा दर्पण की भाति विमल वाणी ही कवि का भी लक्ष्य है।[65] उसका वर्ण्य स्पृहणीय गुणों से युक्त महात्माओं का चरित्र ही हो सकता है।[66] गुणो से ही हृदय द्रवीभूत होता है। ससार मे सौन्दर्य सुलभ है, पर गुण दुर्लभ।[67] काम को कुत्सित शत्रु मानने के कारण ही इन्होने शृगार को वीर रस का अग बना दिया है।[68] गुण-सम्पन्नता के अतिरिक्त इन्होने अवसर के औचित्य पर भी बल दिया है, क्योंकि प्रबन्ध या सदर्भ को न जानते हुए बृहस्पति भी बोले तो उसकी वाणी विफल हो जाती है।[69]

इन विचारो पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि भारवि, कालिदास की भाति रसवादी नहीं हैं। भिन्नार्थता और अर्थ-गौरव तथा गुणो को महत्त्व देने के कारण ही सुप्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने इनकी कविता को नारिकेल फल के सदृश

६२ किराता० १।३-४
६३ वही १।८
६४ वही २।५
६५ वही २।२६-२७
६६ वही २।३४
६७ वही ३।१२,६।५८, ११।११
६८ वही ११।३५
६९ वही ११।४१,४३

'रस-गर्भ-निर्भरा' कहा है।[७०] भारवि ने वंशस्थ छन्द का सर्वाधिक प्रयोग किया है, जिसे राजनीतिक विषयों के वर्णन के लिए उपयुक्त माना जाता है। 'संस्कृत काव्य की की एक नवीन शैली-विचित्र-मार्ग की सृष्टि करने के लिए महाकवियों में भारवि का एक गौरवपूर्णस्थान है।[७१]

३ माघ के शिशुपाल-वध मे काव्य संकेत

भारवि की भांति माघ ने भी 'श्रिय' से ही काव्य का आरम्भ किया है। इनके विचार से वाणी श्रेष्ठ और विश्वजनीन होनी चाहिए।[७२] वह इतनी समर्थ हो कि छोटी होते हुए भी लम्बी मार कर सके।[७३] वाणी की उत्कृष्टता विरोधियों को मूक कर देने तथा कार्य की सिद्धि मे दिखाई पड़ती है। यह अर्थ-गौरव मे सम्पन्न, अनुद्धत, तथ्यपूर्ण, निर्धारित अर्थ वाली और सप्रयोजन होनी चाहिए।[७४]

परिमित वर्णों से ही अनन्त वाड्मय की उत्पत्ति होती है, जैसे सप्त स्वरों से विनिर्मित संगीत।[७५] शास्त्र और अन्य ग्रन्थों के अध्ययन (व्युत्पत्ति) से वक्ता के गुणों मे वृद्धि होतीहै।[७६] अर्थ-सम्बन्ध को छोड़कर प्रबन्ध दोषयुक्त हो जाता है, उसमें अनेक गुण तो हो ही, वह रंगीन एवं चित्रित साड़ी की भांति ही अलंकृत और चित्र-काव्य सम्पन्न भी होना चाहिए। जिस कवि की रचना मे न ओज हो न प्रसाद, उसे रस-भाव का मर्मज्ञ कौन कहेगा।[७७] एक रस के लिए ही विभाव, अनुभाव और संचारी भावो का प्रयोग किया जाता है। ये संचारी, स्थायी अर्थ मे ही प्रवर्तित होते हैं।[७८] नीति शास्त्र-विरुद्ध, अर्थ-प्रतिपादन मे असमर्थ, वृत्तियों से रहित, अनिबन्ध शब्द-विद्या कभी भी शोभित नहीं होती।[७९] वाणी अव्यलीक और प्रियतमा की तरह प्रिय होनी चाहिए।[८०]

माघ ने काव्य के उपसंहार मे चारु-चरित-कीर्तन एवं सुकवि-कीर्ति को प्रयोजन बतलाया है। बीस लम्बे-लम्बे सर्गों मे समाप्त इस काव्य मे अलकारों के

७० किराता० की टीका का आरम्भ।
७१ बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २१२
७२ शिशुपाल वध १।२६, ४१
७३ वही—नैतल्लघ्वपि भूयस्यावचो वाचातिशय्यते। २।२३ तथा २।७८ बिहारी की सतसई के लिए 'देखन में छोटे लगें' सूक्ति स्मरणीय।
७४ शिशु० २।२५, २७, ६६, ७१
७५ वही २।७२
७६ वही २।७५
७७ वही २।७३-७४, ८३
७८ २।८७
७९ वही २।११२
८० वही ५।१

चमत्कारपूर्ण नवीन प्रयोग किए गए हैं। एकाक्षर, सर्वतोभद्र आदि अनेक चित्रालकारो का भी काव्य मे सन्निवेश माघ की अलकारप्रियता का परिचायक है। इन्हे स्पष्टतः अलकारवादियो की श्रेणी मे रखा जा सकता है। उपमा, अर्थगौरव और पद-लालित्य को इनकी कविता की विशेषताओ मे गिना जाता है, फिर भी ये रीतिवादी से अधिक अलकारवादी है।

४. श्री हर्ष के काव्य सकेत

हर्ष का नैषधीय चरित पुण्यश्लोक नायक और सरस कथा के चयन को प्रबन्ध का मुख्य आधार मानता है।[८१] हर्ष गुण-प्रशस्ति के समर्थक है, भले ही लोग चारण की उपाधि क्यो न दे डाले।[८२] ये काव्य का मुख्य प्रयोजन कीर्ति मानते हैं और किसी कुरगाक्षी के लिए भी कीर्ति को पीडित करना नही चाहते।[८३] प्रथम सर्ग के अन्त मे उन्होने स्पष्ट कर दिया है कि यह रचना शृगार रस की है, एक और स्थल पर उन्होंने स्मरण दिलाया है कि नैषधीय चरित का अगी रस शृगार ही है।[८४]

काव्य के अन्त मे हर्ष ने स्पष्ट व्यजना कर दी है कि नैपध की शृगार-सूक्ति केवल सहृदयो को ही आनन्द देने वाली है, अरसिक व्यक्तियो के हाथ कुछ नही लगने का। अत कवि के ही शब्दो मे इसकी आत्मा शृगार रस है, शृगार के सयोग-वियोग दोनो पक्ष ही क्षीर-सागर, उसकी गाठे खलो द्वारा उत्पन्न बाधाये और सूक्तिया ही अमृत-मधु की वर्षा करने वाली है।[८५] कवि की ये स्वोक्तिया उसकी रसानुवर्तिता सिद्ध करती हैं

५. गद्य-कवियो के काव्य-सम्बन्धी विचार

ईस्वी सन् की चौथी शताब्दी से गद्य, पद्य और मिश्र काव्यो मे गाढबन्धता और अलकरण का कार्य हो रहा था। अपनी अक्षमता के कारण नही, अपितु रुचि के कारण ही उसने तीनो मे से किसी एक शैली को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया।[८६] शैली भेद से काव्य-सम्बन्धी विचारो की अभिव्यक्ति मे कोई बाधा उपस्थित नही होती। रस, अलकार, गुण, रीति आदि के सम्बन्ध मे गद्य-कवियो ने भी कही स्पष्ट और कही साकेतिक विचार व्यक्त किए हैं।

८१ नैषधीयचरित १।१-३
८२ वही ८।३२
८३ वही ५।३१
८४ वही ११।४५, ११।१३०,
८५ वही, काव्यान्त १-४
८६ चम्पूकाव्य का आलोचनात्मक एव ऐतिहासिक अध्ययन, पृ० ७६-७७

सुबन्धु ने अपनी कृति वासवदत्ता की विशेषता 'प्रत्यक्षर-श्लेषमय-प्रपञ्च-विन्यास वैदग्ध्यनिधि प्रबन्धम्' कह कर प्रकट की है।[८७] स्पष्ट है कि वे वक्रोक्ति-मार्गी हैं और उनका प्रबन्ध वक्रोक्ति की विशेषताओं से सम्पन्न है।

गद्य-कवियों ने अलकारों को ही प्रमुखता दी है। उनकी गद्य-कविता कथा-पथ पर अलकारों के बोझ से दबी हुई मन्थर गति में चलती है। बाण की कादम्बरी में भी अलकारों की मधुर झकार सुनाई पडती है, परन्तु उसकी रागात्मिका वृत्ति निरन्तर व्यक्त होती रहती है।[८८] कादम्बरी के आरम्भ में महाकाव्य की भांति ही बाण ने इस कृति के काव्य-वैशिष्ट्य को स्वय अभिव्यक्त कर दिया है। खल-निन्दा, सज्जन-स्तुति के उपरान्त उन्होंने अपनी कथा को कौतुकपूर्ण, राग-सम्पन्न, अभिनव-वधू की भांति सरस, दीपक, उपमा तथा श्लेष आदि से युक्त, चम्पक माला की भांति कहा है।[८९]

कादम्बरी में कुछ विकीर्ण विचार भी मिलते हैं। वाणी, अनवकीर्ण, सस्कार-सम्पन्न, वैशिष्ट्ययुक्त, मधुर और परिस्फुट होनी चाहिए।[९०] अध्ययन की ध्वनि कल्मष धो देती है।[९१] उज्जयिनी की प्रजा के परिचय में अनेक देशों की भाषा के ज्ञाता, काव्यानुरागी, बृहत्कथा कुशल, वक्रोक्ति-निपुण, आख्यायिकाख्यान-परिचय चतुर आदि के उल्लेखों में 'वक्रोक्ति-निपुण' और गद्य-काव्य के भेदों के सकेत महत्वपूर्ण हैं।[९२]

कादम्बरी का प्रयोजन प्रेम-रस की व्यजना करना है।[९३] अनलकृतता अच्छी नहीं लगती।[९४] बाण, भरत के नाट्यशास्त्र से अभिज्ञ थे। इनकी दृष्टि में राग एक मदिरा है और उल्लास एक विकार, उत्कृष्ट कवि का गद्य भी उत्कृष्ट होता है तथा कथा का मुख्य उद्देश्य मनोरजन है।[९५] हेमकूट और अन्तःपुर के वर्णन में बाण ने शृगार और उससे सम्बन्धित समस्त उपादानों का उपमान-रूप में एक साथ प्रयोग कर दिया है।[९६] कादम्बरी में प्रीति का श्रेष्ठ रूप है। हृदय ही सरोवर है, मनो-विकार का कारण हृदय की सरसता है। अनुराग सागर सदृश है।[९७] कादम्बरी के उत्तरार्ध की पूर्ति करते हुए बाण-तनय ने इसे रस-भरित ही कहा है।[९८]

८७ वासवदत्ता, पृ० १
८८ बलदेव उपाध्याय, स० सा० का इति०, पृ० ३५१
८९ कादम्बरी, कथा० ५-९
९० वही, पृ० १२
९१ वही, पृ ५
९२ वही, पृ ५१, न वैदग्ध्य गणपति, पृ० १०४
९३ वही, पृ० ५६
९४ वही, पृ० ६७
९५ वही, पृ० ७५, ८५, ९०, ११८,६३
९६ वही, पृ० १८२, २३५।
९७ वही, पृ० २३७, २८३, २९०
९८ कादम्बरी उ० पृ० २४०

वाणने अपने विचारो को कादम्बरी मे मूर्त रूप भी दिया है। मधुर एव कोमल-कान्त-पदावली मे गरीयसी प्रीति-कथा को अलकृत और कौतूहल-वृत्ति से सम्पन्न बनाकर उन्होंने इसे सहृदयो के मनोविनोद के लिए प्रस्तुत किया है। कथा को सरस बनाना मुख्य प्रयोग है। अलकारादि को उन्होंने साधन-रूप मे ही प्रयुक्त किया है।

६ चम्पू काव्यो मे काव्य तत्वो के सकेत

दसवी शती तक सस्कृत और प्राकृत का विशाल साहित्य रचा जा चुका था। इसी काल से अपभ्रश की उत्तरकालीन रचनाए उपलब्ध होने लगती है। सस्कृत-साहित्य की अन्य धाराएँ जब वन्ध्यत्व की ओर जा रही थी, उस समय उनकी परपरा को सुरक्षित रखने का श्रेय चम्पू काव्यो को ही है। रीति-काल के अन्त तक हिन्दी-साहित्य के साथ-साथ चम्पू काव्यो का भी सृजन होता रहा है और इनमें भी वे सारी प्रवृत्तिया उपलब्ध होती है जो हिन्दी साहित्य मे है।[९९] यहा दसवी शती के दो प्रमुख चम्पू काव्यो के काव्य-तत्त्व-सम्बन्धी सकेतो को उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया गया है।

नल चम्पू प्रथम चम्पू काव्य है। इसके रचयिता त्रिविक्रम भट्ट ने पार्वती की वदना करते हुए तीन प्रमुख सकेत दिए है—हृदय मे रस सिचन, कवि-कीर्ति और वाग्विलास। ये काव्य के प्रयोजन हैं।[१००] काम की स्तुति, इस चम्पू काव्य की शृगार-रस-प्रधानता सूचित करती है।[१०१] इनकी दृष्टि मे कवि के काव्य और धनुर्धर के वाण का एक ही उद्देश्य है, और वह है, लक्ष्य के हृदय पर लग कर उसे व्यामोहित कर देना।[१०२] शैली के सम्बन्ध मे इनका मत है कि अप्रगल्भ पदन्यास करने वाला कवि वालक के समान है जिसका प्रलाप मा को ही अनुरक्त करता है।[१०३] कवि ने स्वय नल चम्पू को 'भग-श्लेष-कथाबध' कह कर इस श्लेष-प्रयोग को सरसता-वृद्धि के लिए आवश्यक माना है। कवि का श्रम सहृदय-कवि ही समझता है। कथा का नायक उदात्त होना चाहिए।[१०४] इन विचारो को देखते हुए त्रिविक्रम के काव्य-प्रयोजन, लक्ष्य, शैली और सिद्धान्त के सम्बन्ध मे कोई अस्पष्टता नही रह जाती।

सोमदेव सूरि का यशस्तिलक चम्पू, काव्य-ग्रन्थ होते हुए भी जैन-दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तो से ओत-प्रोत है। इन्हें अपनी काव्य-प्रतिभा पर अभिमान था। इन्होंने काव्य-रचना के सम्बन्ध मे अपने दृष्टिकोण को अत्यन्त दृढता और स्पष्टता के साथ सामने रखा है—

९९ चम्पू काव्य का आलो०, पृ० १००
१०० नलचम्पू १।१
१०१ वही १।२
१०२ वही १।५
१०३ वही १।६
१०४ वही १।१६,१७,२३-२५

जैसे रत्नाकर से प्राप्त रत्न स्वय हृदय-हार बनने मे समर्थ है वैसे ही मेरा काव्य भी सज्जनो के हृदय की शोभा है।[१०५] सोमदेव काव्य-चोर को पातकी मानते है, परन्तु एक-दूसरे के अनजाने मे आ जाने वाले भाव-साम्य को वे चौर्य-कार्य नही मानते। इन्हे अपने सारस्वत रस को उत्कृष्ट और सूक्तियो को दूसरे कवियो को काव्य-कुशलता की प्राप्ति के लिए अभ्यसनीय मानते है।[१०६] वीर और शृगार मुख्य तथा अन्य रस गौण-रूप से शान्त रस के सहायक बनकर आए है। दुर्जनो का मनोविनोद तथा सज्जनो मे सद्बुद्धि उत्पन्न करना प्रयोजन है।[१०७] काव्य के सच्चे परीक्षक सहृदय ही है।[१०८]

संस्कृत काव्यो मे वर्णवृत्तो का ही प्रयोग होता रहा है। इस काव्य की रचना के समय तक प्राकृत एव अपभ्रश काव्यो मे मात्रिक छन्दो का प्रयोग प्रचुरता से हो रहा था। सोमदेव ने वर्ण, मात्रा, चतुष्पदी, पद्धतिका तथा द्विपदि और घत्ता जैसे उस समय के प्रचलित मात्रिक छन्दो का सस्कृत मे रुचि के साथ प्रयोग किया है।[१०९] पचम आश्वास मे करहाट-वर्णन के समय प्राकृत छन्द मदनावतार (मयणावयार) का प्रयोग हुआ है। इसके प्रत्येक चरण मे बीस-बीस मात्राए होती है।[११०] सोमदेव के चतुष्पदी छन्द पादाकुलक तथा घत्ता नाम से निर्दिष्ट छन्द कुलियाला है।[१११]

७ दृश्य-काव्यो मे

श्रव्य-काव्यो के समान ही दृश्य-काव्यो, रूपकादि मे भी उनके रचयिताओ के काव्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण प्रसगवश सकेतित हो जाते है। कालिदास श्रव्य-दृश्य दोनो प्रकार के काव्य-स्रष्टा थे। उनके विचारो की चर्चा पहले की जा चुकी है। यहा विशुद्ध नाटककार भास के कुछ विचारो को उदाहरण के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है—

वाणी मधुर होनी चाहिए। वाक्यसिद्ध पुरुष, अपुरुष वाणी नही सुनते।[११२] नायक मधुर, दक्ष, शूर, सुकुमार, दिव्यरूप एव तेजस्वी होना चाहिए। दक्षिण नायक

१०५ यशस्तिलक चम्पू १।१४

१०६ वही १।१२-१३, ४। अन्तिम श्लोक, ३।५१३

१०७ वही १।२८

१०८ यशस्तिलक १।२६

१०९ विस्तृत विवेचन और उदाहरणो के लिए द्रष्टव्य—चम्पू काव्य का आलो० पृ० ३४७-४८

११० यशस्तिलक, पृ० १६७ आश्वास ५। हेमचन्द्र का छन्दोनुशासन अ० ४।

१११ यश० १।१३३, १।८३ द्रष्टव्य—मद्रास जर्नल, वा० ६, पृ० ४६ पर डा० सुब्बिया का लेख।

११२ भास नाटक चक्रम्, स्वप्नवासव दत्ता, पृ० ४, प्रतिज्ञा यौगन्धरायण १।११

के परिजन भी दक्षिण होने चाहिए।[113] नायिका के सम्बन्ध मे भास ने—तरुणी-दर्शनीया, अकोपना, अनहकारा, मधुरभाषिणी और सदाक्षिण्या आदि विशेषणो के साथ कन्या, नवोढाहा, धीर-स्वभावा आदि उसके भेदो का भी सकेत किया है।[114]

गीत और नृत्य को भास रगमच का प्रसादन मानते है। गीत ऋतु के अनुकूल होने चाहिए। नृत्य और भावार्पित अभिनय ही नाटक मे रमणीयता के स्रष्टा है।[115] सवादो मे निहित भावो का ही अग-प्रत्यग से अभिनय होता है। यह कला सीखनी पडती है। यह कला आजीविका का साधन भी है और ऐसे अभिनय कलाजीवी 'नाटकीय' कहे जाते हैं।[116]

भास ने प्रसन्नता के विविध प्रसगो से युक्त अक को 'अमृताङ्क' कहा है।[117] सौन्दर्य के सम्बन्ध मे भास का दृष्टिकोण है, 'सर्वजनमनोऽभिरामता'[118]। कालिदास से सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण भास का है। कालिदास मधुर आकृति के अलकरण की आवश्यकता नही समझते जबकि भास मानते हैं कि अलकरण स्वाभाविक सौन्दर्य मे रमणीयता उत्पन्न कर देता है।[119]

भास के नाटको मे वीर और शृगार का ही प्रयोग हुआ है। आरम्भ मे नान्दीपाठ नही है। भास स्वतन्त्रचेता नाट्य-प्रयोक्ता है। चारुदत्त मे सूत्रधार प्राकृत का प्रयोग करता है और वासवदत्ता मे वह अकेले मच पर आता है। 'सुकवि मति विचित्रा' कहकर उन्होने अपने नाट्य-प्रयोग की ओर सकेत किया है।[120] सयोग शृगार को वे 'रागलीला' कहते हैं, मिलन को योगशास्त्र।[121] ग्रीष्म और पावस का ही उद्दीपन रूप मे प्रयोग करते हैं। पूर्वरागजन्य विरह मे अनेक सचारियो का समावेश किया गया है।[122]

सात्त्विक भावो मे रोमाच का अधिक प्रयोग हुआ है।[122] निर्वेद, गोष्ठी आदि

११३ भासनाटक चक्रम् पृ० २१७,११२, स्व० वा० ४।२४, अविमारक १।७, पृ० ३३, परकीय (पृ० १७)

११४ भा० ना० च०, पृ० ३१,१३३४,५०, २०८ (नाटक स्त्री), पृ० २०७ (स्वाधीन यौवना) आदि।

११५ भा० ना० च०, पृ० ७८, २२४,२४६,१८०,१६६,२२४

११६ वही, चारुदत्त, पृ० २०२,२२०,२१६,२५१

११७ वही, चारुदत्त, पृ० २४७

११८ वही, वासवदत्ता, पृ० १५

११९ तुलनीय शाकु० १।१९ अविमारक, भा० ना० च०, पृ० १४७

१२० अविमारक ४।९

१२१ भा० ना० च०, पृ० ६१, अविमारक ४।४,६ तथा पृ० १२६,२२७

१२२ भा० ना० च०, पृ० २५३

की विशेषताओं के भी संकेत मिलते हैं।[123] भयानक को 'भय रस' कहा गया है।[124] नाम का ह्रास प्रसिद्ध है।[125] अभिनेयता ही इनकी दृष्टि में नाटक का उत्कृष्टतम गुण है। भावानुकूल छन्द-योजना इनका मुख्य गुण है। इनके सभी रूपकों में श्लोक ४३७, इन्द्रवज्रा २१, उपेन्द्रवज्रा ६, उपजाति ६१, शालिनी ७२, द्रुतविलम्बित १, पुष्पिताग्रा ५५, भुजंगप्रयात १, वसन्त्य २५, वैश्वदेवी ५, प्रहर्षिणी १७, वसन्ततिलका १७६, मालिनी ७२, पृथ्वी १, हारिणी ८, शिखरणी १६, शार्दूलविक्रीडित ६२, सुवदना ४, स्रग्धरा ८, मेघमाला १, दण्डक १, वैतालीय १, आर्या ११ तथा उपगीति १, छन्दों का प्रयोग हुआ है। यह संख्या स्पष्ट करती है कि श्लोक, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित और उपजाति को वे अभिनय के अधिक अनुकूल समझते थे।

(ख) प्राकृत काव्यों में काव्य-तत्त्वों के संकेत

भगवान् बुद्ध द्वारा पालि में उपदेश देने के कारण जन-भाषा प्राकृतों का महत्त्व बढ़ा। उपदेशों के लिए भी मधुर स्वर-सम्पन्नता आवश्यक थी।[126] ईस्वी सन् के आरम्भ से ही प्राकृत रचनाओं की स्वतन्त्र स्थिति सामने आने लगती है। उपलब्ध प्राचीनतम कृति हालकृत गाथा-सप्तशती है, यह मुक्तक संग्रह है। इसमें शृंगारिक और सामाजिक गाथाएं संकलित हैं। कवि ने इनके प्रयोजन का संकेत करते हुए कहा है कि अमृतमय प्राकृत काव्य को जो पढ़ना या सुनना नहीं जानते वे कामशास्त्र की तत्त्व चिन्ता करते हुए क्यों नहीं लज्जित होते ?[127]

प्राकृत साहित्य का अधिकांश जैन कवियों की देन है। पौराणिक कथाओं से लोगों का मन ऊब चुका था। अतः जैन कवियों ने शृंगार-कथा के बहाने धर्म-कथा सुनाना प्रारम्भ कर दिया। वसुदेव हिण्डीकार ने इसका संकेत किया है—

कामकहारत हितयस्स जणस्स सिंगार कहा वसेण धम्मं चेव परिकहेमि।

(जिन लोगों का हृदय काम-कथा के श्रवण करने में संलग्न है उन्हें शृंगार कथा के बहाने मैं अपनी इस धर्मकथा का श्रवण कराता हूं।)

उपदेशप्रद कथाओं की प्रतिक्रिया से प्रेम-कथाओं का प्रचलन हुआ,[128] यह स्पष्ट है। कथा-ग्रन्थ प्राय मिश्र या चम्पू शैली में प्रस्तुत किए गए हैं। पांचवीं शती के पूर्वार्ध से महाकाव्यों की परम्परा आरम्भ होती है। प्रवरसेन का 'रावण वह'

१२३ वही, पृ० १६३, २१७, चारुदत्त ३।१, अविमारक ४।२२
१२४ अविमारक १।२
१२५ उपदेश-भाषा हास। प्रसन्न राघव की प्रस्तावना।
१२६ वावेद जातक ३३६
१२७ गाथा सप्त० १।२
१२८ प्राकृत-साहित्य का इतिहास पृ० ३६३-६४

प्रथम उपलब्ध महाकाव्य है। 'चरिउ' काव्य भी प्रचुर सख्या मे लिखे गए। इस प्रकार अपनी काव्य-प्रवृत्तियो मे प्राकृत-साहित्य भी सस्कृत-साहित्य के समानान्तर ही चला है।

१ प्रवरसेन के रावण वह में काव्य-सकेत

रावण वह प्राकृत-साहित्य का उपलब्ध आदि महाकाव्य है।[१२९] इस काव्य का आरम्भ शिव, नृसिंह, कृष्ण, नाट्यरत शिव और उनकी शक्ति गौरी की स्तुति से हुआ है। काव्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए प्रवरसेन कहते है कि सरसता-प्रमुख काव्य-कथा का निर्वाह कठिन है। मैत्री के समान इसका आरम्भ भी अनुराग से होता है, परन्तु दोनो च्युति, स्खलन आदि दोपो के कारण विघटित और पुन प्रतिष्ठापित हो जाते है।[१३०] साधु काव्य के सेवन से विशिष्ट ज्ञान की वृद्धि, यश प्राप्ति गुण-अर्जन, सत्पुरुप-चरित श्रवण द्वारा मन का हरण रूप प्रयोजन सिद्ध होते है। केवल छन्दोबद्धता तुकबन्दी मात्र है, अर्थगति या मौलिक भाव की उपलब्धि आवश्यक है।[१३१] इन्होने अपने काव्य के वर्ण्य-विपय का भी सकेत किया है।[१३२]

इससे स्पष्ट है कि प्रवरसेन काव्य का प्रयोजन कीर्ति और प्रीति, दोनो मानते हैं। मौलिक भावो की उद्भावना इनकी दृष्टि मे काव्य के लिए आवश्यक है। काव्य-नायक राम सुपुरुप हैं। प्रयोग की दृष्टि से अगी रस वीर हैं और अन्य रस उसके अग। सारा काव्य प्राय. एक ही प्रकार के छन्द मे है। सर्गान्त मे छन्द-परिवर्तन न होने से यह सस्कृत-महाकाव्यो से भिन्न हैं। रौद्र और शृगार तथा भय और शृगार को एक साथ परिस्थिति-जन्य मन स्थिति के कारण प्रस्तुत किया गया है।[१३३] चम्पू काव्य को 'साङ्क' बनाया गया है, पर चम्पू न होते हुए भी कवि ने इसे 'अनुरागाङ्क' कहा है।[१३४] कृष्ण कवि ने प्रवरसेन को गहन-भावो का कवि कहा है।[१३५]

२ लीलावई णाम कहा में काव्य-संकेत

महाराष्ट्री प्राकृत मे रचित कौतूहल (आठवी शती पूर्वार्ध) कवि की यह रचना विशुद्ध प्रणय-कथा है। कादम्बरी की भाति इसका नामकरण भी कथा-नायिका के नाम पर हुआ है। सातवाहन नायक है। 'वर्णन-विस्तार और शैली की अभिव्यजना

१२९ रावण वह, स० डा० राधागोविन्द वासक, इण्ट्रोडक्शन, पृ० XX।
१३० रावण वह १।६
१३१ वही १।१०-११
१३२ वही १।१२
१३३ वही १०।३, १०।५७
१३४ वही १५।९४
१३५ भाव· प्रवरसेनस्य गहनो न हि शक्यते। कृष्ण ।

के कारण प्राकृत काव्यों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।[136]

कवि ने अपनी विनम्रता प्रकट करते हुए भी लीलावती कथा को कथा-रत्न कहा है।[137] कवि को कथा की प्रेरणा शारदीय मनोरम रात्रि में अपनी पत्नी सावित्री से मिली, प्रयोजन था मानव्य-विनोद। विशेषताएं हैं—मनोहर-आलाप, महिला-जन मन हारिता, सरसता और अपूर्वता।[138] कवि ने कथा के तीन रूपों—दिव्या, दिव्या-मानुषी और मानुषी का निर्देश किया है।[139] सुन्दर वर्ण, विशिष्ट अक्षर और गुणोत्कर्ष की आवश्यकता पर बल दिया है।[140] कवि शब्द-शास्त्र (व्याकरण) को सुभाषित का बाधक मानता है और स्पष्ट अर्थ युक्त निष्कलुष हृदय के उद्‌गार को ही महत्त्व प्रदान करता है।[141]

कवि के शब्दों में ही यह दिव्या-मानुषी कथा है, तथा इसमें पूर्वापर-सम्बन्ध तथा सन्धियों का निर्वाह हुआ है।[142] वह देश-भाषा के शब्दों को सुबोध मानता है। प्रेरणा पत्नी से, उद्देश्य मनोविनोद तथा वर्णन शैली में गुणोत्कर्ष, ये हैं कथा के सम्बन्ध में कवि द्वारा व्यक्त विचारों के सारांश। प्रयोग की दृष्टि से सारी कथा प्राकृत गाथाओं में निबद्ध है, केवल वशस्थ आदि पाच छन्द संस्कृत वर्ण-वृत्तों के हैं। सन्धियों या गाथाओं के नये क्रम का आरम्भ—तथा अस्थि, अविय, अहवा, एत्थतरम्मि, तओ, आदि शब्दों से हुआ है, अन्यथा कथा अविच्छिन्न रूप में आरम्भ से अन्त तक चलती है।

३ कुवलय माला में उद्योतन सूरि द्वारा सकेतित काव्य-दृष्टि

लीलावती कथा गाथाओं में है, किन्तु कुवलय माला गद्य-पद्य मिश्रित चम्पू शैली में। गद्यभाग की अलकृति और गाढबद्धता भी इसे चम्पू काव्य ही सिद्ध करती हैं। इसमें वर्णन-विस्तार तो है ही, अनेक अवान्तर कथाओं का भी समावेश किया गया है। इसका रचना-काल ७७९ ई० है।

कवि ने जिन-वन्दना में काव्यारम्भ किया है और दुर्लभ मानव-जीवन का साध्य चार पुरुषार्थों को माना है। हाल से लेकर रविषेण तक अनेक कथाकारों का उनकी विशेषताओं सहित उल्लेख किया गया है।[143] कवि ने कथा के पाच रूपों—सकल

१३६ स० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, इन्ट्रोडक्शन, पृ० ४०
१३७ लीलावई णाम कहा, गाथा २२
१३८ वही, गाथा, ३२-३३]
१३९ वही, गाथा ३५
१४० वही, गाथा ३६-३८
१४१ लीलावई०, गाथा ३९-४०
१४२ वही गाथा ४१-४२
१४३ कुवलय माला, पृ० ३-४

कथा, खण्ड कथा, उल्लाप कथा, परिहास कथा और श्रेष्ठ या संकीर्ण कथा का संकेत कर इसे सभी कथाओं के गुणों से युक्त संकीर्ण कथा कहा है।[144] उद्योतन ने इसकी विशेषताओं में सालंकारा, सुभगा, ललितपदा, मधुर-मंजु-संलापा, हर्षदायिनी, भाव-विभावादि युक्त चम्पूकथा का निर्देश किया है।[145]

इस कथा का मूल भाव निर्वेद और रस शान्त है। नख-शिख और युवती शरीर के सौन्दर्य-वर्णन को कवि हेय मानता है। वह स्वयं सशंकित है कि इस कथा में चित्त किस प्रकार रमेगा।[146] अन्त में कथा श्रवण का फल सम्यक्त्व, उसकी दृढ़ता और गुणविरत बतलाया गया है। इसमें कदली-स्तम्भ की भांति कथा-स्तर के भीतर दूसरे-दूसरे कथापथों का समावेश है।

उद्योतन सूरि बहुभाषाविद् थे, अतः संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के अतिरिक्त विविध देश भाषाओं की शब्दावली भी इसके संवादों में उपलब्ध होती है।[147] चमत्कार-पूर्ण प्रहेलिका और चित्र-काव्यों की भी इसमें कमी नहीं है।[148] यद्यपि कवि चमत्कार-वादी है, परन्तु यह कृति भाषा-वैज्ञानिक, साहित्यिक और सामाजिक दृष्टि से एक सांकेतिक कोश प्रदान करने में भी समर्थ हुआ है।

४ गुणपाल के जम्बुचरियं मे काव्य-सकेत

जैन-परम्परा में त्रिषष्ठि शलाका पुरुषों का चरित-वर्णन कवि-कर्म भी है और धर्म-कर्म भी। गुणपाल ने अपने तीन पूर्ववर्ती—देवगुप्त, प्रभंजन और रविषेण का उल्लेख किया है। इसमें १६ उद्देश है और शैली गद्य-पद्य मिश्रित है। यह प्राकृत के चरित काव्यों का प्रतिनिधित्व तो करती ही है, प्राकृत के चरित काव्यों को जोड़ने वाली कड़ी भी है।

जम्बू स्वामी एक गणधर थे, अतः नायक धार्मिक पुरुष है। कथा का आरम्भ जिन-वन्दना से हुआ है। दुर्जन और सज्जन के स्वभाव का विस्तृत वर्णन किया गया है। काव्य-रचना का उद्देश्य निवृत्ति-लाभ है।[149] गुणपाल ने अर्थ-कथा, धर्म-कथा और काम-कथा तथा संकीर्ण कथा में इसे धर्म-कथा कहा है।[150] काव्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण से यह उद्योतन सूरि के पथानुयायी हैं। इस चरित-काव्य का प्रयोजन, कथाश्रवण फल आदि वही है, जो कुवलय माला का।[151]

१४४ कुवलयमाला, पृ० २
१४५ वही, पृ० ४
१४६ वही, पृ० ४ और २८३
१४७ वही, पृ० १६७-१७६
१४८ वही, पृ० १५२ १७५
१४९ जम्बुचरिय १।१-१८
१५० वही, १।२१-२४
१५१ वही, १६।७६३-७६५

दृष्टिकोण की समता होते हुए भी वर्णन-विस्तार,* अलकृतता, कथा-वैचित्र्य, व्यापक ज्ञान और कलात्मक दृष्टि से यह रचना कुवलय माला की समता नही कर सकती। दोनो मे आकाश-पाताल का अन्तर है।

(ग) अपभ्र श काव्यो मे काव्य-सिद्धान्तो के सकेत

'अपभ्र श' शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख पतजलि (ई० पू० तीसरी शती) ने व्याकरण-नियम-मुक्त शब्दो के लिए किया है।[१५२] भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार अपभ्र श विभाषा है और भामह (छठी शती) के अनुसार काव्य-भाषा।[१५३] सातवी शती मे दण्डी ने वर्गीकरण के समय अपभ्र श-काव्य की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार कर ली है।[१५४] उद्योतन सूरि ने कुवलय माला मे अपभ्र श काव्य को प्रिय-प्रणयिनी के सलाप सदृश मनोहर कहा। इनसे पूर्व का कोई काव्य उपलब्ध नही है, परन्तु इन्होने 'रास' और 'चादु-रसायण' नाम से प्रचलित दो प्रकार की अपभ्र श कृतियो का उल्लेख किया है।[१५५] नृत्य और सवादो से युक्त रास काव्यो का प्रचलन आठवी शती के आरम्भ मे ही होगया होगा। जन-समूह के आकर्षण को देखकर ही उद्योतन ने रास की निन्दा की और उसे महामोहग्रस्तता कहा। बाद मे जैन कवियो ने स्वय रास और रासउ का आश्रय लिया। यह स्पष्ट है कि रास और रासउ अपभ्र श काव्यो की प्राचीनतम धारा है। रास-नृत्यो के वर्जन के लिए जिनदत्त सूरि ने उपदेश रसायन रास लिखा। उद्योतन और जिनदत्त की भावनाओ मे प्रचुर साम्य है।[१५६]

आठवी शती के उत्तरार्ध मे ही स्वयभू के दो अपभ्र श चरित-काव्य लिखे गए और इन्हे सस्कृत तथा प्राकृत के समकक्ष मान्यताप्राप्त होगई। नवी शती मे रुद्रट ने इसे देश की तत्कालीन प्रमुख भाषाओ मे से एक माना।[१५७] पुष्पदन्त के कथनानुसार दसवी शती मे राजकुमारियो को सस्कृत और प्राकृत के साथ अपभ्र श का भी ज्ञान कराया जाता था।[१५८] इसी शती मे राजशेखर ने अपभ्र श को काव्य-शरीर का जघन कहा और ग्यारहवी शती मे नमिसाधु (१०६९ ई०) ने इसे विवेचन का विषय बनाया।[१५९] हेमचन्द्र (१०८९-११७३ ई०) ने इसका व्याकरण लिखकर स्थिरता,

१५२ महाभाष्य, पृ० ३३, ५६
१५३ भाषापभ्र शस्तु विभाषा। ना० शा०। काव्यालकार १।१६, २८
१५४ काव्यादर्श १।३६-३७
१५५ कुवलय माला, पृ० ९७-९८, ४ और १५२
१५६ तुलनीय—कुवलय माला, पृ० २ जम्बुचरिय, उद्देश १, २ तथा उपदेश रसायन रास, पद १,२
१५७ काव्यालकार २।१२
१५८ महापुराण ५।१८।६
१५९ काव्य मीमासा अध्याय ३, पृ० ६ तथा काव्यालकार २।१२ की टीका मे नमिसाधु

स्वरूप और महत्त्व प्रदान किया। अपभ्र श की प्रथम कृति की उपलब्धि को ध्यान मे रखा जाय तो ७८० ई० से १२०० ई० तक का काल अपभ्र श साहित्य के विकास, रचना, और रूप-विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

राहुल साकृत्यायन ने अपभ्र श के आदि महाकवि स्वयभू (आठवी शती) को ही हिन्दी का आदि कवि मान लिया। रामचन्द्र शुक्ल ने ९९३ से १३१८ ई० तक हिन्दी का आदि काल माना। यही स्थिति आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की है। इनके विचार से बारहवी शती तक अपभ्र श भाषा ही पुरानी हिन्दी के रूप मे चलती थी। दसवी से बारहवी शती तक के अपभ्र श को इन्होने उत्तर अपभ्र श नाम दे दिया और चौदहवी शती तक के काल को अपभ्र श काल का बढाव कहा।[१६०]

आठवी से चौदहवी शती तक का विशाल साहित्य आज उपलब्ध हो चुका है।[१६१] यदि इस काल की सस्कृत, प्राकृत और अपभ्र श कृतियो की एक सम्मिलित सूची पर दृष्टिपात किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार इन तीनो भाषाओ के कवियो ने एक ही लोक-भावना के प्रवाह मे बहते हुए अपनी कृतिया प्रस्तुत की है, उनमे भाषा-भेद है, पर प्रवाह-भेद नही, उनमे प्रेरणा और दृष्टिकोण-जन्य भेद भी नही है। प्राकृत का प्रवाह अपभ्र श को, अपभ्र श का प्रवाह उत्तर अपभ्र श को, और उत्तर अपभ्र श का प्रवाह हिन्दी-साहित्य को अपना उत्तराधिकार सौंपता गया है।

अपभ्र श के काव्यो मे काव्य-तत्त्वीय सकेतो के लिए अपभ्र श के आदि महाकाव्य पउम चरिउ (आठवी शती), सदेश रासक (११-१२वी शती) और कीर्तिलता (चौदहवी शती, को आधार बनाकर उसकी परम्परा का निर्देश किया गया है।

महाकवि स्वयभू के पउम चरिउ मे काव्य-तत्त्वो एव सिद्धान्तो के संकेत

स्वयभू पहले अपभ्र श कवि है, जिनका सारा साहित्य उपलब्ध है। कला और भाव-सवेदना की दृष्टि से भी वे एक प्रौढ शिल्पी सिद्ध हुए है। इनकी कृतिया अपभ्र श ही नही, परवर्ती हिन्दी-साहित्य को भी एक सीमा तक प्रभावित करती रही हैं। पुप्पदन्त के महापुराण की टीका मे स्वयभू को पद्धडीबन्ध का कर्त्ता कहा गया है। स्वयभू के सामने वाल्मीकि का रामायण और विमल सूरि का प्राकृत 'पउम चरिउ' अवश्य रहा होगा। अपने दृष्टिकोण और भावना के अनुसार इन्होंने राम का चरित प्रस्तुत किया है और इस रामचरित के सम्पूर्ण कथानक को सामान्य मानवीय धरातल पर उतार दिया है। वे एक ऐसे राजा के प्रतीक बन गए है, जो श्रमजीवी

१६० हिन्दी-साहित्य का आदि काल, पृ० १०,१७, २२, १८, २४

१६१ द्रष्टव्य—हिन्दी काव्यधारा, आदि काल के अज्ञात हिन्दी रास काव्य आदि ग्रन्थ

मान हो नहीं, साम, दाम, दण्ड, भेद सहित कूटनीति का पूर्ण ज्ञाता है और धीरे-धीरे भारत का राज्य और अपनी शक्ति का सचय किसी विशेष लक्ष्य के लिए करता चला जा रहा है। अनन्तवीर्य जो छल से पकड़ने की घटना इसके समर्थन के लिए पर्याप्त है। पउम चरिउ का प्रथम विद्याधर काण्ड वंशानुचरित-सा है। अनेक राजाओं के चरित वर्णन से ऐसा आभास मिलता है कि कवि अपने काव्य को पुराण में ढाल देना चाहता है।

जिन-वन्दना के उपरान्त कवि कहता है—दीर्घ समास ही जिसका नाल है, शब्द ही दल है और अर्थ ही किंजल्क का सुगंधित पराग, बुधजन रूपी मधुकर जिसका रसपान करते हैं, ऐसे स्वयभू का काव्योत्पल विजयी हो।[162]

कथा-सरिता-रूपक

काव्य के आरम्भ मे ही स्वयभू बतला देते है कि उन्होंने पूर्ववर्ती आर्ष रामकथा को देखा है।[163] इन्होंने रामकथा को एक नदी के समान माना है जो वर्धमान के मुख-कुहर से निकली हुई है और क्रमागत रूप से चली आई है। यह अक्षर-विन्यास के जलसमूह से मनोहर, सुन्दर अलकार तथा छन्द-रूपी मत्स्यों से भरी, दीर्घ-समास रूपी प्रवाह से अंकित, संस्कृत और प्राकृत रूपी पुलिनों से अलकृत है। देसी भाषा ही जिसके दो उज्ज्वल तट हैं। कहीं-कहीं कठिन घन शब्द ही शिला-तल (चट्टानें) है जिन पर अर्थ-विस्तार का कल्लोल निर्भर करता है। आश्वास ही, तीर्थ के समान इस पर स्थित है। इस सुशोभित रामकथा-रूपी सरिता को बहते हुए गणधर देवों द्वारा देखा गया।[164]

काव्य के उपकरण

उसी निर्मल पुण्य से पवित्र कथा का आरम्भ कर रहा हूं, जिसके जानने से स्थिर-कीर्ति बढ़ती है।[165] अपनी विनम्रता प्रकट करते हुए वे कहते हैं कि मैं बुधजनों से विनती करता हूं, मेरे सदृश अन्य कोई कुकवि नही है। कभी व्याकरण नही

१६२ दीहर-समास-णाल सद्द दल अत्थ केसरुग्घविय।
बुह-महुयर-पीय रस सयम्भु कव्वुप्पल जयउ ॥ प० च० १।२

१६३ पुणु आरम्भिय रामकह आरिसु जोएप्पिणु ॥ सधि १।१।१

१६४ वद्धमाण-मुह कुहर-विणिग्गय। राम कहा-णइ एह कमागय ॥१।२।१
अक्खर-वास-जलोह मणोहर। सु-अलकार-छन्द-मच्छोदर ॥१।२।२
दीह समास पवाहावकिय। सक्कय-पायय-पुलिणालकिय ॥१।२।३
देसी भासा उभय तडुज्जल। कवि दुक्कर-घण-सद्द सिलायल ॥१।२।४
अत्थ बहल कल्लोलाणिट्ठिय। आसासय-समतूह-परिट्ठिय ॥१।२।५
एह राम कह-सरि सोहन्ती। गणहर देवहिं दिट्ठ वहन्ती ॥१।२।६

१६५ णिम्मल-पुण्ण-पवित्त-कह, कित्तणु आढप्पइ।
जेण समाणिज्जन्तेण थिर कित्ति विढप्पइ ॥१।२।१२

जाना, न ही वृत्ति और सूत्रो को बखाना, न प्रत्याहारो का चिन्तन किया, न सन्धि के ऊपर बुद्धि स्थिर हुई, न सात विभक्तियो को सुना, न छ प्रकार की समास-प्रक्रियाये को जाना, छ कारक, दस लकार, बीस उपसर्ग और बहुत से प्रत्ययो को भी नही सुना। धातुओ का बलाबल, निपात, गण, लिग, उणादि, वक्रोक्तिया और वचन भी मेरे सुने हुए नही है। न तो पाच महाकाव्य मेरे सुने हुए ह, न ही भरत के सारे गीत (नाट्य) लक्षण। पिंगल और उसका प्रस्तार भी नही समझना, न ही भामह और दण्डी के अलकार, तब भी मैं यह व्यवसाय (काव्य-रचना) नही छोड पा रहा हू और 'रड्डावद्ध' काव्य करता हू।[१६६] ग्रामीण भाषा के परित्याग द्वारा अपनी तुच्छ कविता के सुभाषित-वचन बनने की कामना करता ह।[१६७] उसकी यह विनम्रता केवल सज्जनो के लिए है खलो के लिए नही।[१६८] काव्य का आरम्भ उसने मगध देश के वर्णन से किया है।

प्रयोजन

कवि ने अपनी काव्य-रचना का ध्येय आत्माभिव्यक्ति माना है। जिन-वन्दना के उपरान्त वह कहता है कि फिर रामायण काव्य मे अपने को प्रकट कर रहा हू।[१६९]

इन कथनो मे कवि के काव्य-रचना का प्रयोजन और लक्ष्य तो स्पष्ट हो ही जाता है। यह भी ज्ञात होता है कि वह व्याकरण, छन्द और अलकार-सहित भरत के नाट्य-शास्त्र[१७०] से पूर्ण परिचित है।

प्राय प्रत्येक उपकथा के आरम्भ मे कवि ने विजयी पात्र को जिन-भवन मे वन्दना के लिए भेजा है और पराजित, किन्तु जीवितपात्र को 'जिन की' शरण मे भेज

१६६ बुहयण सयम्भु पइ विण्णवइ। मइँ सरिसउ अण्णु णाहि कुकइ।१।३।१
वायरणु कयाविण जाणियउ। णउ वित्ति-सुत्तु वक्खाणियउ।१।३।२
णउ पच्चाहारहोतत्ति किय। णउ सधि हैं उप्परि बुद्धि थिय।१।३।३
णउ णिसुणउ सत्त विहत्तियउ। छव्विहउ समास पउत्तियउ।
छक्कारय दसलयार ण सुय। वीसोवसग्ग पच्चय बहुय।
णवलाबल धाउ णिवाय-गणु। णउ लिगु उणाइ वक्कु वयणु।
णउ णिसु णिउ पञ्च-महाय कव्वु। णउ भरहु गेउलक्खणु वि सव्वु।
णउ बुज्झिउ पिंगल पत्थारु। णउ भम्मह दण्डि-अलकारु॥
ववसाउ तो वि णउ परिहरमि। वरि रड्डावद्धु कव्वु करमि॥१।३।४-९

१६७ छुड्डु होन्तु सुहासिय वयणाइँ। गामिल्ल भास परिहरणाइँ।१।३।११

१६८ द्रष्टव्य—१।३।१२–१३।

१६९ पुणु अप्पाणउ पायडमि रामायण कावे।१।१।१६॥

१७० द्रष्टव्य—२।४।१—८ जहा नौ रस और आठ भावो से युक्त भरत के नाट्य प्रदर्शन की बात कही गई है और भी २।९

दिया है, क्योकि वह 'जिन' के अतिरिक्त किसी के सामने सिर झुकाना नही चाहता।[171] एक स्थान पर वे ऋषभ के प्रवचन के उपरान्त पडे प्रभाव का वर्णन करते हुए कहते हैं 'सभी ने अपने मन मे जीवन को चचल समझ लिया, उनका भव-भय और मदमय उपशम हो गया।[172] जैन धर्म की महत्ता की स्थापना और उसकी ओर राजाओं सहित जनता को आकृष्ट करना इस काव्य का लौकिक प्रयोजन और लक्ष्य है। युद्ध, धर्मावलम्बी राजाओ के लिए भी यश का कारण है, वे परस्पर भी लडते है, जैन मुनि राजनीति मे हस्तक्षेप भी करते है[173] कुल मिलाकर यह अहिंसा-धर्म के विरुद्ध नही है।[174] रावण परमवीर जैन था, राम भी अनेक बार जिन-वन्दना करते हैं।

अन्य विचार

कवि के स्वय के कथन से यह स्पष्ट है कि भामह और दण्डी के अलकार-शास्त्र से वह परिचित है। इस प्रकार भरत का रसवाद और भामह का अलकार-वाद सिद्धात-रूप मे उसके सामने थे। वीर और शृगार, कवि के दो प्रिय रस है यद्यपि वह इनका पर्यवसान शात रस मे करता है। इस सम्बन्ध मे वह अलकारो को भुला नही देता। स्वयभू ने जहा इतने स्पष्ट रूप से अपने काव्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है, वहा उन्होने एक और पद्धति अपनाई है—उपमानो के रूप मे काव्य-विचारो की अभिव्यक्ति। कुछ ऐसे उद्धरण देखे जा सकते हैं—

१ जैसे मूर्खों के बीच सुकवि के वचन। ४।१।१
२ श्रमण सघ के सभी ऋषि महाकवि ' वागीश्वर थे। ५।१५।२
३ दोनो ओर की सेनाये सुकवि के काव्य-वचनो की भाति आपस मे गुथ गई। ऊभे और मच वैसे ही टूटने लगे जैसे कुकवियो के अनगढ काव्य-शब्द। ५।५।३
४ कुलपुत्री की उक्तियो-प्रतियुक्तियो से पुश्चली पराजित हो जाती है। १२।८।१०
५ उसका वह गान सुन्दर स्त्री की तरह अलकार और सुन्दर स्वरो से युक्त विदग्ध और सुहावना था। १३।१०।१
६ वह धर्म, अर्थ और कामतत्त्व को समझता है। १४।११-६-८। धर्म सुखमूल ६।१४ अर्थ प्रधानता २८।१२।७-१०
७ जल क्रीडा[175] मे स्वयभू को, गोग्रह कथा मे चतुर्मुख को, और मत्स्यवेध-

१७१ द्रष्टव्य—पउमचरिउ ३०।८।१–६
१७२ द्रष्टव्य—२३।१२।१ पउमचरिउ।
१७३ द्रष्टव्य—१५।६।६—८
१७४ द्रष्टव्य—१७।५।६
१७५ जलक्रीडा पुष्कर युद्ध की तरह थी—२८।१५।८

में भद्र को आज भी कवि लोग नही पा सकते ।१४।१३।१०

८ मुक्ति रूपी वधू का पाणिग्रहण करू । १५।७।६।

६. बहुओ के लिए सामें वैसे ही शत्रु होती हैं, जैसे मुकवि की कथा के लिये दुर्जनो की बुद्धि ।१६।४।६

१०. सयल-कला-कलाप-सपण्णी ।
२१।२।६, २१।४।८

११ लक्ष्मण के लिए, कलि-कलुप-सलिल-शोपण-पतग ।२२।४।४

१२ वे वस्त्र मानो मुकवि कृत शास्त्र के समान सालकार थे ।२६।१६।६

१३ श्रेष्ठ कवि के[१७६] काव्य-पदो की तरह दोष रहित, नारणो[१७७] के वचन की तरह हल्के ।२६।१७।४ आदि ।

रस-दृष्टि

वैसे तो सारा ही पउमचरिउ 'रण-रस' और 'यश-रस' लोभी वीरो के शब्दो से झकृत हो रहा है, पर उसमे रूप-चित्रण जल-विहार, ऋतु-वर्णन, दूत-दूती प्रेषण और बहुविवाह के प्रसग अनेक वर्णनो से ऐसे जडित हैं, जिससे रसिक-जन भी काव्य के प्रति आकृष्ट रहे ।[१७८] रसो के वर्णन मे वे भरत का पूर्ण अनुसरण करते हुए सकेत देते हैं—

(१) उसका गीत-सुरतितन्त्र (शृगार) की तरह आरोही, अवरोही, स्थायी और सचारी भाव की गनियो सहित था ३।१३।१०।३

(२) रण-रस-लोभी-अनावृत-यक्ष से कहा । ६।८।२ और भी ३७।१।१

(३) यशलोभी रावण—१५।१०।६

(४) जितेन्द्र की पूजा के अनतर रावण ने जो गधर्व-गान आरम्भ किया उसमे—मूर्छना, क्रम, कंप, त्रिग्राम, षडज गाधार···आदि का प्रयोग था । १३।६।१-१०

(५) युद्ध आरम्भ होते ही रण-रस से भरी सेनायें ।१७।१०।७

(६) करुण महारस मानो पीडित होकर ही आसुओ की अविरल धारा के बहाने झर-झरकर बाहर निकल रहा था । १६।१०।१०

(७) रामायण बुधजनो के कानो के लिये रसायन है । २३।१

वीर रस का सहायक शृगार है और दोनो की शान्त रस मे परिणति से यह स्पष्ट होता है कि अलकार को वे काव्य का साधन मानते हैं और रस को काव्य की

१७६ द्रष्टव्य ६।१४।६ भी ।
१७७ द्रष्टव्य २८।६।५
१७८ कामदशा—२६।८।३ नर-नारी का एक साथ रूप-चित्रण २६।१०।१-१२
कीर्तिवधू—३०।३।६

आत्मा। पुरुषार्थों में मुक्ति, उनका लक्ष्य है।

काव्य-रूप

काव्य के बाह्य-रूप के सम्बन्ध में कवि ने स्पष्ट ही कहा है कि वह सन्धिबन्ध में काव्य प्रस्तुत कर रहा है। भायाणि द्वारा सम्पादित और भारतीय विद्याभवन से प्रकाशित तथा भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित 'पउमचरिउ' के संस्करण काव्यबन्ध के सम्बन्ध में अधिक स्पष्ट नहीं हैं। काण्डों और सन्धियों के द्वारा विभाजन कवि-कृत नहीं है, जैसा कि सम्पादित ग्रन्थों में है। इनमें से एक विभाजन तो लिपिकर्ता का है और लिखवाने वाली स्वयं कवि की दो पत्नियाँ हैं। कवि-कृत विभाजन केवल 'आसास' (आश्वास) है, बीसवें आश्वास के अन्त में कुछ पंक्तियाँ दी गई हैं जो लिपिकर्ता या लिपिकारयित्री की हैं—

इय विज्जाहर कंड वीसहिँ आसास एहि मे सिद्धं।
एहिउ उव्वा सएह साहिज्जन्तं सिणामेह ॥ २०।१२। प्रक्षिप्त १-२ पंक्तियाँ
सिरि विज्जाहर कंड, कंड पिय नाम पउम्म ॥ २०।६२। प्रक्षिप्त ६ पंक्ति।

यहीं यह भी कहा गया है कि अमृतत्वा ने बीस आसासों में प्रतिबद्ध इसे लिखवाया। ५ पंक्ति। यहाँ भी इन बीस विभाजनों को आसास कहा गया है। रामकथा की एक सरिता से तुलना करते हुए कवि ने आसासों को तीर्थ माना है। एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि कवि ने प्रत्येक आश्वास के अन्त में ऐसे घत्ते दिये हैं जिनसे एक साथ कुछ ऐसे वर्ण या शब्द दिये गये हैं जिससे कवि का नाम बन जाय। यह नियम-निर्वाह आरम्भ से अन्त तक के आश्वासों में एक सदृश हुआ है: जहाँ बीसवीं सन्धि के अन्त में काण्डसूचक पंक्तियाँ दी गई हैं। वहाँ भी पहले आश्वास की समाप्ति का सूचक घत्ता इसी प्रकार का है—

विज्जाहर-कंडए सिद्ध-सिय लीला पुरउँ सइ सुहन्त पिय।२०।१२।१२

अन्यत्र भी है जैसे—

सुविलम्बिणि जेम, ल्ज स इ सुहन्त पिय। ७।१४।६
स इंधुअ फलिहेहिं अवरोप्पिडलक्ख पुण रामें ॥ २५।२०।१०
पल्लवसु मइ सुर दरडेहिं कुसुमवाहु सिरे लक्खणहो ॥ ४४।१६।२१ आदि

यह स्पष्ट है कि कवि ने अपने काव्य का विभाजन केवल आश्वासों में किया। प्रत्येक आश्वास में एक विशिष्ट घटना है। ये आश्वास कई कडवकों में हैं जिनकी संख्या निश्चित नहीं है। छन्दों की विविधता पचासवें आश्वास के बाद ही अधिक दिखाई पड़ती है। सारी कथा 'काण्डों' में विभक्त न होकर अविरल गति से एक

रस को ही मानता है, चाहे वह शृंगार हो वीर हो या शान्त । उसका विश्वास है कि शिष्य ही सुकवि का यश फैलाते हैं ।[१८५] परिवर्ती काव्यों पर, चाहे वे चरित काव्य हों या रासउ, रासो, सब पर पउमचरिउ का प्रभाव देखा जा सकता है । पउमचरिउ में जम्भेट्टिया दुवई (जभटिका द्विपदी) की टेक देखकर अड़तालीसवीं सन्धि को एक पूर्ण 'रासउ' काव्य का रूप दिया गया है । यह राम हनुमान और लंका सुन्दरी के संवाद, युद्ध और हनुमान की विजय की घटना को आश्रित कर रूप पा सका है । 'तेन तेन तेन चित्ते' की टेक प्रत्येक कड़वक के आरम्भ में दो बार, दो द्विपदी के साथ दिया गया है । यह 'रासउ' का रूप अनजाने ही नहीं बन गया है अपितु कवि 'इसे लगुड रास' के रूप में प्रस्तुत ही करना चाहता था । इसके पढ़ने में ऐसा लगता है कि वाद्य-वृन्द के साथ बहुत से व्यक्ति ध्रुवक की टेक देते हैं, बीच में लंका सुन्दरी और हनुमान का संवाद और नृत्य चल रहा है । युद्ध और चुनौती का दृश्य अभिनय द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है । विजयी होने पर हनुमान हर्ष से तीव्र गति से नाचने लगते हैं और उत्साह के आवेग में बड़ी-बड़ी प्रतिज्ञायें करते हैं ।[१८६] यह सारा रास भावपूर्ण

१८५ सीस व सुकइहे जसु विक्खिरन्ति । ३१।६।४

१८६ इस रास के स्वरूप को समझने के लिए सांकेतिक दृष्टि से कुछ पंक्तियां उद्धृत की जा रही हैं—

त णिसुणेप्पिणु, कुद्दय किसोयरि ।
चडिय महारहें, लंका सुन्दरि ॥ तेन तेन तेन चित्ते । ४८।८।४।१
धणुहर हत्थिय, वाणु गाविरि ।
सहुँ सुर चावेंण, ण पाउस सिरि ॥ तेन तेन तेन चित्ते ।८।४।२
धुरे अइर परिट्ठिय रहु पयट्ठ, परवल विणासु अखलिय मरट्टु ॥ ८।४।३
तहिं चडेवि पधाइय रणे पचण्ड, मायरुहो करिणिव सोण्ड ॥ ८।४।४

घत्ता

न णिसुणेवि भड कडमद्दणेण, णिब्भच्छिय पवणहो णन्दणेण ।
ओसरु म अग्गए थाहि महु, कहे कहिमि जुज्झु कण्णाए सहुँ ।८।४।६

(६)

हणु वहो वयणहिं, पवर धणुद्धरि ।
हसिय स विब्भमु, लंका सुन्दरि ॥ तेन तेन तेन चित्ते ।४।१
हउँ परियाणमि, तुहुँ बहु जाणउ ।
एणालावेण, पवरि अयाणउ ॥ तेन तेन तेन चित्ते ।४।२
एउ काई पविउ पई दुव्वियड्ढ, कि जलण—तिडिक्के तरु दड्ढ ॥ ४।३।४६।१
सुरवह पयणाणन्दयरु (न-स-म-म-म-म-नि-नि नि स-स नि-धा ।१॥

(२) विजयोपरान्त ४ तक

सुमण दुमइ सुमरन्तिया
सहुँ वलेण सहरिसणच्चिया ॥१॥
अच्छइ रामचन्दु आरुट्ठउ, ण पचाणणु चित्ते दुट्ठउ । २
अच्छइ अज्जु किल्ले सचल्लमि, पलय समुद्दु जेंम उत्थल्लमि ॥

अभिनय योग्य और नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से रसात्मक तथा संगीतात्मक है। इसे 'हनुमन्निका सुन्दरी नाटक' कहा जा सकता है।

छन्द-प्रयोग

कवि ने अपने पउमचरिउ को (उसी के कथानुसार) रड्डाबंध में प्रस्तुत किया है। रड्डाबंध का अर्थ है—किसी छन्द में कड़वक और घत्ते के रूप में द्विपदक या द्विपदी (वह किसी प्रकार की हो)।[187] कड़वक वाले अंश में ८ पंक्तियाँ या चरण होनी चाहिए। इस नियम का उसने सामान्यतः पालन किया है।

अपभ्रंश के छन्दों की चर्चा करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने कुछ विचार प्रकट किए हैं जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—"संस्कृत साहित्य में श्लोक का उदय नई साहित्यिक मोड़ की सूचना है।' 'उसी प्रकार गाथा का उदय दूसरी सूचना है और दोहा की तीसरी।'[188] जिस प्रकार गाथा प्राकृत का प्रतीक हो गया है उसी प्रकार दोहा अपभ्रंश का।[189] 'अपभ्रंश को दूहा विद्या कहा गया है।[190] जहाँ दोहा है वहाँ संस्कृत नहीं, प्राकृत नहीं, अपभ्रंश है।[191] दोहा वह पहला छन्द है जिसमें तुक मिलाने का प्रयत्न हुआ,[192] यह छन्द नवीं-दसवीं शताब्दी में लोकप्रिय हो गया था।[193] आचार्यजी ने तुक मिलाने की परम्परा को (गद्य-या-पद्य में) ईरानी का प्रभाव और छठी-सातवीं शताब्दी के आस-पास उसका काल माना है।[194] विक्रमोर्वशीय के एक छन्द की सामान्य रूप से चर्चा की जाती है—इसे दोहा कहा जाता है और भाषा अपभ्रंश मानी जाती है। आचार्य जी ने भी उसे, इसी सामान्य मान्यता के कारण, स्वीकृति देते हुए उद्धृत किया है—

मइँ जाणिअँ मिग लोअणी, णिसअरु कोइ हरेइ।
जाव ण णव जलि सामल, धारा हरु वरिसेइ। विक्रमोर्वशीय। ४।८।१२

इस छन्द को दोहे का शुद्ध उदाहरण नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसके तृतीय चरण में केवल बारह मात्राएँ हैं। विक्रमोर्वशीय के उसी चतुर्थ में अंक में कुछ ऐसी पंक्तियाँ हैं जो चौपाई के विशुद्ध रूप को प्रकट करती हैं—

१८७ द्रष्टव्य—स्वयंभू छंद—सं० प्रो० एच० डी० वेलणकर—राजस्थान प्राच्य विद्या संस्थान, जोधपुर प्र० सं० १९६२, पृष्ठ ५७ पर 'रड्डा'
१८८ हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ ९७,
१८९ वही, पृष्ठ ९८
१९० वही, पृष्ठ ९९
१९१ वही, पृष्ठ ९८
१९२ वही, पृष्ठ १००
१९३ वही, पृष्ठ १००
१९४ वही, पृष्ठ १००

'दूर विरहिअ समहरवी। दिट्ठी पिअ पइँ गन्तु करी।
विक्रमो० ४.६५

'ता रसणे विणु करिमि सिभर्री। पुण एइ मेल्लइ ताए गइरी।
विक्रमो० ४।६६॥

इनमें तुक भी है और चौपाई के सामान्य रूप और लक्षण के अनुसार प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ हैं तथा अन्तिम वर्ण गुरु भी है।

तुक को बाहरी प्रभाव विशेषत ईरानी-प्रभाव मानना किसी भी परिस्थिति में उचित प्रतीत नहीं होता। कालिदास को अधिक से अधिक चौथी शताब्दी तक नीचे खींचा जा सकता है, उस समय तक या कालिदास के ग्रन्थों पर, ईरानी प्रभाव मानना एक निराधार तथ्य को स्वीकार करना मात्र ही होगा। तुकों के कारण छन्द में स्वाभाविक संगीतात्मकता उत्पन्न होती है। गेय होने के कारण ये तुक स्वाभाविक रूप से ही आये हैं।

अपभ्रंश-कालीन छन्द-सम्बन्धी इन विचारों की पृष्ठभूमि पर यदि 'पउम चरिउ' के छन्द-प्रयोग पर ध्यान दिया जाय तो कुछ और महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं। कडवकों में तो सैकड़ों पंक्तियाँ ऐसी हैं, जो चौपाई के विशुद्ध रूप को ही नहीं प्रकट करती, अपितु एक साथ कई-कई अर्धालियाँ भी प्रयुक्त हुई हैं।[१६६] आरम्भ से सुन्दर काड के अन्त तक छप्पन संधियों का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि दोहा छन्द का घत्ते के रूप में प्रयोग केवल एक सन्धि (५४) में हुआ है, किन्तु पादाकुलक या सोलह मात्राओं के समछन्द का प्रयोग कडवकों में भी हुआ है और घत्ते के रूप में भी। तुकान्त और गुर्वन्त होने के कारण अधिकांश चौपाई ही हैं। पादाकुलकों का उपयोग घत्तों के रूप में तीन सन्धियों में हुआ है[१६७] जहाँ तक अपभ्रंश के प्रबन्ध-

१६५ कालिदास ग्रन्थावली में यही दोहा निम्नलिखित रूप में दिया गया है—
मइँ जाणिअँ मिअलोअणी, णिसअरु कोइ हरेइ।
जावणु णव तलि सामल, धाराहरु वरिसेइ॥ विक्रमो० ४।८
ग्रन्थावली के सपादकों ने इसे प्राकृत के समीप रखने के लिये ग, च के लोप में अ लोप रखा है। अ के स्थान में य का पुनरागमन परवर्ती है।

१६६ द्रष्टव्य—ण छन्द हो णिग्गय गायत्ती। ण सद्द हो णीसरिय विहत्ती।२३।६।४
णाइ कित्ति नप्पुरिस विमुक्की। णाइँ रम्भ णिय थाणहो चुक्की।६।५
सुललिय-चलण-जुयल मल्हन्ती। ण नय थड-भड-थड विहडन्ती।६।६
णेउर हार डोर गुप्पन्ती। बहु तम्बोल पँके खुप्पन्ती॥६।७
और—
केसरि-नारिचण्ड उम्मघट्टा। कोकण-मलय-पण्डियाणट्टा।३०।२।८
गुज्जर-गङ्ग-वङ्ग-मालाला। पहविय वारिवत्त-पचाला।२।६
सिन्धव का मल्ल गम्भीरा। तज्जियनपररती नीय-भरा।२।१० आदि

१६७ द्रष्टव्य—३४,३५, ३७ संधि, तथा चौपइ के लिये ६,२७,४८ संधि जिसे उस काल में पारणक कहा जाता था। संधि १८ में यह घत्ते के रूप में भी प्रयुक्त है।

काव्यों का प्रश्न है दोहे की स्थिति दुर्बल है चौपाई की प्रबल है। पउमचरिउ में पज्झटिका का प्रयोग घत्ते के रूप में अधिक संधियों में हुआ है।[१९८] दुवई का घत्ते के रूप में (४०।१२।१५) में भी उपयोग हुआ है और कडवकों के प्रारम्भ में (१३) भी, विशेषत जहाँ कवि ने एक ही संधि के कडवकों में विविध प्रकार के छन्दों का उपयोग किया है। मात्राक्रम ६-१३, ६-१४ और १४-१३ वाले छन्दों का उपयोग चार-चार सन्धियों[१९९] में घत्ते के रूप में हुआ है, जिनके नाम उन्होंने अपने छन्द-ग्रन्थ में क्रमश. अभिसारिका, कुसुम निरतर और कुसुमित केतकी दिये हैं। ११-१२ के मात्रा क्रम वाले अरविन्दक का तीन (५, २३, २४) संधियों में घत्ते के रूप में प्रयोग हुआ है। घत्ते के रूप में सहकारमजरी, कवि को पज्झटिका के बाद सर्वाधिक प्रिय लगी है, इसका उपयोग पाच (८, ११, १९,-२१, ४०) संधियों में हुआ है।

कवि ने विभ्रम विलम्बित वदनक नाम से रोला का भी प्रयोग किया है।[२००] कुछ छन्द. शास्त्रियों ने रोला की तरह ही चौबीस मात्राओं वाले छन्द को बारह-बारह मात्राओं या चरण मानकर सम छन्द रूप में शालभंजिका नाम दिया है। स्वयंभू ने छियालीसवीं सन्धि की कडवकों के आरम्भ में इसका उपयोग किया है—

१९८ द्रष्टव्य—संधि—४,१७, २०,२६,३०,३१,३७,४२

१९९ अभिसारिका-संधि—७,४१,४२,५४, कुसुम-निरतर—२२,३६,३८,४६
कुसुमित केतकी—१३,४४, ४८, ५६ में।

२०० तावेत्तहु निज्झाइय थाविय मणोयर मालिणी।
हेम वण्ण म-रयणोज्जल मणहर णाई कामिणी।४२।१०।१
घउ दुवार घउ गोउर चउ तोरण घणिया।
चम्पय-तिलय-बउल-णारंग-लवंगय छण्णिया ॥१०।२॥
तहि पएसे वइदेहि ठवेप्पिणु गउ दसाणणो।
झिज्जमाणु विरहेण विसण्णु विमणु दुम्मणो ॥१०।३॥
मयण-वाण जज्जरियउ जरिउ दुवार-वारओ।
दूई आउ आवंति जन्ति मयवार-वारओ ॥१०।४॥
वयणएहिं पर-महुरेहिं मुहु मूसइ विसूरए।
छोहें छोहें णिवडन्तएँ जूआरोव्व जूरए ॥१०।५
सिरु धुणेइ कर मोडइ अंग वलेइ कम्पए।
अहव लेविणिज्झायइ कामसरेण जम्पए ॥१०।६।
गाइ गाइ उव्वेल्लइ हरिस-विसाय दावए।
वार वार मुच्छिज्जइ मरणावत्थ पावए ॥१०।७।
चन्दणेण सिञ्चिज्जइ चन्दण लेउ दिज्जए।
चामरेहिं विज्जिज्जइ तो वि मणेण झिज्जए ॥१०।८॥
घत्ता—कि रावणु एक्कु, जो जो गरु भइँ गज्जियउ।
जिण धवलु, मुएवि, कामें को ण परज्जियउ ॥१०।९॥

> अवरु चाउ सिर गेरहइ जाम महिन्द णन्दणो।
> मर सुएण विद्धलिउ ताव सरेहिं नन्दणो ॥४६।६।१

यह ध्वन्यात्मकता मे रोला सदृश ही है। जब विराम बारह-बारह पर हो तो शालभंजिका, ग्यारह-तेरह पर हो तो रोला का चरण बन जाता है। स्वयभू ने ध्वन्यात्मकता पर अधिक ध्यान दिया है यति पर कम। जैसे—

> अन्नणार्ण जणणेण तिलक्खोहुय चित्तेण।
> गयविमुक्क भामेप्पिणु, कोवाणल पलित्तेण ।४६।८।१

यहा प्रथम पक्ति मे ११, १३ पर यति है जबकि दूसरी पक्ति मे १२, १२ पर॥

स्वयभू ने अति बरवै का जम कर प्रयोग किया है, सख्या की दृष्टि से नही पर अनुकूल भावात्मकता की दृष्टि से। इसका प्रथम बार प्रयोग कवि ने प्रत्येक कडवक के आरम्भ मे, उन्नीसवीं सन्धि मे उस समय किया है, जब अजना का पति पवनजय, रावण की सहायता के लिये, वरुण से होने वाले युद्ध मे चला गया है और सत्-धर्मा अजना को उसकी सास लाछित कर घर से निकाल देती है। जगल मे अजना के विलाप के समय बरवै का प्रयोग कवि की काव्यात्मक सूझ और छन्द-प्रयोग की कुशलता का परिचायक है।[201] पवनजय और अजना, दोनो के विरह मे इस छन्द का प्रयोग हुआ है। दूसरी बार पैतालीसवीं सन्धि मे कडवकों के आरम्भ मे ही हुआ है जिसमे हनुमान, राम के यहा से अगुलीयक और सन्देश लेकर चलने का उपक्रम करते है।[202]

इस सक्षिप्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार से लौकिक *सस्कृत का आरम्भिक अनुष्टुप् ही, मानो सगीत-तत्त्व के अन्वेषण से शार्दूलविक्रीडित,*

२०१ सूर वीरे परिमतए रवि मत्थन्तओ।
    मज्जणाय सेग्ग दुम्मुव मनहन्तओ ॥१६।२।१
    मोवि स्म पडिपुच्छिउ पुणु वद्धावओ।
    मइ तुरग कइ स्वर पो वीनावओ ॥४।१
    मासु माए गुण्हाए अणे गुणसिद्धइ
    एवानेक्क पइगइं मगाइ-णिबद्धइ ॥५।१
    यार यार मामाउ, रोवइ मन्नणा।
    का नि माहि मई जेही दुक्खहं भायणा ॥६।१
    हा ममीर पवणञ्जय मणिम पहुत्त जणा।
    हरि रियउ दन्तरे पट्टइ मन्नणा ॥८।१॥
२०२ हण्मिणोवि सुग्गीवहो हरि दिय स्थाहो।
    रिट्ठ मन्ति जिन वओ हि जिण सिक्खन्तगो ॥४५।२।१॥

शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता आदि की ओर उन्मुख हुआ और बुद्ध के समय से प्रचलित गाथायें हाल के समय लौकिक गाथाओ और काव्य-शृंगार तथा गीति-तत्त्वो से युक्त गाथाओ मे बदल कर प्राकृत मे अधिक प्रयुक्त हुईं, वे ही गाथा-परम्परायें अपभ्रंश के दुवई रूप मे अपभ्रंश काव्यो मे दिखाई पडती है। गाथाओ के दुवई के रूप मे परिवर्तित होने, या दुवई के विविध प्रयोगो मे घुलमिल जाने की कहानी सगीतात्मकता की उपलब्धि के लिये उत्सुकता और खोज की कहानी है। तुको की उपलब्धि तो मार्ग मे, यात्रा-पथ मे ही हो गई है। दोहा केवल दुवई के अनेक रूपो मे से एक है। स्वयभू ने मध्यकाल मे आगे चल कर प्रयुक्त होने वाले अधिकाश छन्दो—चौपाई, दोहा, रोला, बरवै, गीत—[२०३] आदि का प्रयोग किया है। ढूढने पर सोरठे का रूप भी मिल जाता है।[२०४] महाकाव्य या चरित-काव्य के स्वरूप, वर्ण्य-विषय, अलकार, रस और छन्द प्रयोग आदि सभी दृष्टि से उनके सकेतित और व्यवहृत काव्य-सिद्धान्त अत्यन्त मूल्यवान है और परवर्ती कवियो के लिए अनुकरणीय भी रहे हैं।

२ संदेश रासक मे उपलब्ध काव्य-तत्त्वो के सकेत

लोक-प्रचलित प्रेमकथा को आधार बनाकर प्रस्तुत किया जाने वाला यह प्रथम प्राप्त रासक है। अन्य रास जैन-धर्म से सम्बन्धित है। इसके रचयिता अद्दहमाण है। सदेश-काव्यो का आरम्भ कालिदास के मेघदूत से हुआ, यद्यपि सदेश-सम्बन्धी काव्याश वैदिक-साहित्य, रामायण आदि मे भी उपलब्ध होते है। मेघदूत का यक्ष-विरह परवर्ती कवियो के लिए दूत-काव्यो के विरह-वर्णनो का प्रेरणा-स्रोत रहा है।[२०५] सदेश-रासक के पूर्व सस्कृत की सदेश या दूत-काव्य-परम्परा मे जिनसेन-कृत पार्श्वाभ्युदय और धोयी कवि कृत पवनदूत (बारहवी शती) ही उपलब्ध लोकप्रिय कृतिया

२०३ लगुड रास मे गीतो के उपयोग की परम्परा रही है। उनके द्वारा प्रयुक्त कुछ तालध्वनिया देखिए—

डउं डउं-डउं-डउं डमरूअ सद्दे हि। तरडक तरडक तरडक णद्दे हि।
घुम्मुकु घुम्मुकु घुम्मुकु तालेहि। र र-रु-रुञ्जन्तव मालेहि।
तक्किस तक्किस-सरेहि मणोज्जेहि। दुणिकिटि-दुणिकिटि थरिमदि—वज्जेहि।
गेंगदु गेंगदु गेंगदु घाएंहि। एयाणेय भेय सधाएहि ॥५६।१।८-११।

२०४ सीय सलक्खणु रामु, पणमिउ णरवर विन्देहि।
त वन्दिउ अहिसेउ, जिणु बत्तीसहि इन्देहि ॥२३।१२।६
ओहर मयर रउद्द, सा सरि णयण कडक्खिय।
दुत्तर दुप्पइ सार, ण दुग्गइ दुप्पेक्खिय।२३।१३।६
जिह णक्खत्तेहि चन्दु, जेम सुर लोए।
तिहतुहुँ भुञ्जहि रज्जु, परिमिउ बन्धव लोए ॥२४।६।६
(मध्य पदो मे तुक के लिए तुकान्तमयी भाषा=२१।१।१ पूरा कडवक)

२०५ हिन्दी साहित्य कोष, पृ० ७६१

दिखाई पड़ती हैं। अपभ्रंश में इससे पूर्व का कोई भी न तो संदेश-काव्य प्राप्त है, न रासक, परन्तु स्वयंभू के पउमचरिउ में सीता का विरह-वर्णन भी है, और हनुमान का दूतत्व भी। अंजना-विलाप भी अत्यन्त मार्मिक है। बारहवीं शती में अनेक 'रास' मिलते हैं किन्तु किसी का सम्बन्ध शृंगार-परक विरह से नहीं है।

'संदेशरासक मसृण गेय-रूपक है। इसके प्रयोग में नर्तकियां विचित्र ताल-लय के साथ योग देती होंगी।[206] संदेश रासक की भूमिका में विश्वनाथ त्रिपाठी ने रास के विकास पर प्रचुर प्रकाश डाला है और उसकी परम्परा की उपलब्धि का संकेत हरिवंश पुराण से किया है।[207] 'रास और रासान्वयी काव्य' में भी इस पर बहुत-कुछ लिखा है। संदेशरासक उसमें भी संकलित है।[208]

हेमचन्द्र ने बारहवीं शती में प्रबन्ध-काव्य के दो भेद—पाठ्य और गेय—में से गेय के अन्तर्गत, डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, शिंगक, भाणिका, प्रेरण, रामाक्रीड, हल्लीसक, रासक, गोष्ठी, श्रीगदित और राग का समावेश किया है।[209] हेमचन्द्र के समय ये सभी गेय-रूपक थे अन्यथा उन्हें प्रेक्ष्य-गेय के अन्तर्गत नहीं रखा जाता। हेमचन्द्र ने चर्चरी की चर्चा नहीं की, जबकि इसी समय के आस-पास जिनदत्त ने एक चर्चरी की रचना की। आठवीं शती में स्वयंभू ने चर्चरी का उल्लेख किया है। कर्पूरमंजरी में हल्लीसक नृत्तबन्ध का उल्लेख हुआ है, यह दसवीं शती की रचना है। हेमचन्द्र ने हल्लीसक और रासक का पृथक्-पृथक उल्लेख दोनों में अन्तर के कारण किया है। छठी शताब्दी और उससे पूर्व की कृतियों में रास, रसायण, रासमंडल, चक्रवाल नृत्य आदि का तो उल्लेख मिलता है, पर हल्लीसक का नहीं, अतः यूनानी इलीसियन नृत्यों के साथ ईस्वी सन् के आस-पास इस शब्द का उद्गम मानना भी दूरारूढ़ कल्पना मात्र है। गोष्ठी रास की भी चर्चा मिल जाती है। वस्तुतः सखियों का सामूहिक नृत्य ही हल्लीसक है और हल्लीसक के निर्माण में 'हला' (सखि) का योगदान ही मुख्य है। इन गेय रूपकों के वास्तविक स्वरूप एवं रास के साथ इनके सम्बन्धों के स्पष्टीकरण के लिये अभी और अनुसंधान की आवश्यकता है तथा कई नूतन तथ्यों की उपलब्धि भी इस अन्वेषण में सन्निहित है।[210]

२०६ हिन्दी साहित्य का आदि काल, पृ० ६५

२०७ संदेश रासक की भूमिका—हरिवंश पुराण, विष्णुपर्व ३५, विष्णुपुराण ५।४७-५०, भास नाटक चक्र पृ० ५३६, हर्षचरित, उ० ४, भागवत १०।३३।२-३,६,८,११, कर्पूरमंजरी ४।१० आदि।

२०८ रास और रासान्वयी काव्य, पृ० २४

२०९ काव्यानुशासन ८।४

२१० रास की परम्परा का आरम्भ सामूहिक नृत्यों से हुआ। दण्ड रास या लकुट रास का सम्बन्ध प्रस्थान या युद्ध-नृत्य से था। इसका प्राचीनतम रूप पउमचरिउ की अड़तालीसवीं संधि में दिखाई पड़ता है, जैसा मैंने स्वयंभू के काव्य-तत्त्व-विवेचन के सन्दर्भ दिखाया है। भरतेश्वर-बाहुबली रास इसी का एक रूप है। चर्चरी का सम्बन्ध तलरो या अन्तःपुरों

सदेश-रासक के 'रासक-काव्य' रूप को ही यहा आधार बनाया गया है, उसके नृत्य-गीत-समन्वित 'रासक' रूप को ही नही, क्योकि कवि के काव्य-सम्बन्धी विचारो को प्रस्तुत करना ही यहा लक्ष्य है।

सदेश-रासक के कवि ने विश्व रचयिता की वन्दना के उपरान्त अपने तन्तुवाय कुल मे उत्पन्न होने का सकेत किया है। इसके बाद ही उसने अपने काव्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। पूर्ववर्ती कवियो का स्मरण करते हुए वह कहता है कि उन्होंने सुन्दर छन्दो की सृष्टि की, वे शब्द-शास्त्र मे कुशल थे, अपभ्रश, सस्कृत, प्राकृत तथा पैशाची भाषा मे उन्होंने छन्द और अलकारो से युक्त सुन्दर कवितायें की।[२११] मेरी कविता शायद ऐसी न हो, फिर भी काव्य-रचना मे प्रवृत्त होने मे कोई दोष नही है। यदि भरत मुनि के बनाये रस, भाव और छन्द के अनुसार नवरग-चगिमा तरुणी नाचती है तो क्या गाव की गहेलरी ताली के शब्दो के साथ न नाचे? जिसकी जैसी काव्यशक्ति है, उसके अनुसार उसकी अभिव्यक्ति अवश्य होनी चाहिए, यह आवश्यक नही कि चतुर्भुज (रड्डाबन्ध के प्रवर्तक) ने कह दिया तो अन्य कुछ न कहे।[२१२]

कवि ने सन्देश-रासक को अनुरागियो के लिये रति-गृह तुल्य, कामी जनो के लिए मनोहर, मदन-मनस्को के लिए पथ-प्रकाशक, विरहियो के लिए आश्वासन-प्रद तथा रसिको के लिए रस-सजीवनी बतलाया है।[२१३] काव्य-नायिका के सौन्दर्य-चित्रण के समय पुनरुक्त दोष को परिहार्य बता कर उसका उल्लेख किया गया है।[२१४] त्रिभुवन मे सब कुछ देखा गया है, सुन्दर छन्दो से युक्त सरस विकट-बन्ध भी सुना गया है, फिर भी यह काव्य, रसिको द्वारा पढा ही जायगा।[२१५] यह पण्डितो के लिए कु-काव्य और मूर्ख तथा अरसिको के लिए दुष्प्रवेश्य भले ही हो, मध्यम जन तो इसे पढ़ेंगे ही। सुरति (शृगार) प्रसग मे विदग्ध जनो के लिए यह श्रवणामृत तथा

गेय था। हेमचन्द्र का रासाक्रीड उसी का अन्य नाम प्रतीत होता है। आठवी शती के चर्चरी और लगुड रास मिश्रित एव विविध रूपो मे विकसित होकर हेमचन्द्र के गेय-रूपक बने। भारतीय नृत्य-पद्धतियो—भरत नाट्यम्, कथाकली और कत्थक तथा मनिपुरी नृत्यो के विकास मे इनका प्रचुर योगदान है। गुजराती गरबा और पजाबी भागडा के जनक भी ये ही है। ताला रास, हल्लीसक और चर्चरी के आधुनिक रूप ये प्रतीत होते हैं। पात्रो द्वारा या पृष्ठभूमि से गाये जाने वाले गीत ही रास-काव्यो के जनक हैं। ये अन्वेषण के परीक्ष्य तथ्य हैं।

२११ सदेश रासक १।५-७
२१२ वही १।८, १५, १७
२१३ वही १।२२
२१४ वही २।४०
२१५ वही १।१८

इसका अर्थ, गम्य है।[२१६]

काव्य के बीच-बीच में भी कुछ ऐसे संकेत आए हैं जिनसे कवि के विचारों पर प्रकाश पड़ता है। जैसे—मनोहर छन्द से मधुर, प्राकृत, अनेक रूपों में निबद्ध रासक का भाष्य, रामायण का अभिनय या उसकी निर्दोष कथा, पद-वर्ण-निबद्ध गीत, स्त्रियों का रास, सुललित प्राकृत, वसन्त राग के ताल से युक्त नृत्य, तथा गेय चर्चरी की तालबद्ध झन्कार।[२१७]

इन विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि बहुअधीत या बहुश्रुत है। एक ओर वह भरत की रस-भाव परम्परा से परिचित है तो दूसरी ओर पिंगलमुनि की छन्द-परम्परा से। रामायण, महाभारत, नल चरित आदि का वह स्पष्ट उल्लेख करता है। कालिदास के काव्यों से भी वह परिचित है।[२१८] प्राकृत साहित्य की गीति-परम्परा के अतिरिक्त अपभ्रंश की काव्य-परम्परा के प्रमुख कवियों के चतुर्मुख स्वयंभू, त्रिभुवन एवं लीलावती कथा[२१९] से उसका घनिष्ठ परिचय है। वह उस समय के प्रचलित रासक चर्चरी आदि नृत्य-गीत समन्वित गेय रूपकों की चर्चा करता है।

कवि ने अपभ्रंश काल के कथा और चम्पू काव्यों की पद्धति का अनुसरण करते हुए विस्तृत रूप से कवि-प्रेरणा (उल्लास), काव्य-प्रयोजन (रसिक-जन रंजन), काव्य हेतु (व्युत्पत्ति), काव्य-प्रवृत्ति (छन्द-बन्धन) एवं प्रयुक्त रस (शृंगार विप्रलम्भ) का स्वयं उल्लेख कर दिया है। मंगलाचरण तो है ही, संयोग का आश्रय लेकर लोकपरम्परा के अनुसार नायक के आगमन का संकेत कर इसे सुखान्त बनाते हुए उसने भरत वाक्य भी दे दिया है। उसके काव्य का रसास्वादन वही सहृदय कर सकता है जो पाण्डित्याभिमान और मूर्खता से परे हो। विप्रलम्भ के लिए ऋतु-वर्णन का आधार लिया गया है। उसने दूत-काव्यों की परिपाटी (एक ही प्रकार के छन्द प्रयोग) का अनुसरण न कर अपभ्रंश की काव्य-बन्ध-परम्परा का अनुसरण किया है। छन्द-परिवर्तन के साथ ही प्रयुक्त छन्द का उसने नामोल्लेख कर दिया है। २२३ छन्दों के इस सन्देश-काव्य में बाईस प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है।[२२०] छन्दों में रासा, पद्धडिया, वत्थु या वत्थु, कामिणी-मोहन, खणिज्ज और रड्डा का मूल ग्रन्थ में नामोल्लेख नहीं है, अतः कवि ने केवल १६ छन्दों का ही नामोल्लेख किया है। रास और रासान्वयी के सम्पादकों ने खडहडउ और भ्रमरावली

२१६ वही १।२१,२३

२१७ वही २।४३, २।४४, २।४५, ३।१६७, ३।१८३ तथा ३।१७६

२१८ नायिका की पार्वती से तुलना सदेशरासक २।४०

२१९ संदेश रासक १।८

२२० सदेश रासक की भूमिका पृष्ठ ४४-५५, प्रयुक्त छन्द हैं—रासा, चउपइय, नकोडय, मडिल्ला, मडिला, पद्धडिया, वत्थ या वत्थु, कामिणी मोहन, दुवई, खणिज्ज, गाहा, दोहा, चूडिल्लय, फुल्लय, डोमिल्लय, रड्डा, छप्पय (वत्थु), खडहडय, खप्रय, मालिनी, नदिणि (तोटक) और भ्रमरावली।

को एक मानकर मनहर चन्द्रायग का पृथक् उल्लेख किया है। षट्पद वत्थु मे चार पक्तिया रोला की होती ही हैं, इसमे अति वरवै का प्रयोग भी द्रष्टव्य है।[२२१] सस्कृत काव्य-परम्परा मे प्रयुक्त अर्द्धम्, कुलक् और युग्मको का भी प्रयोग किया गया है[२२२] अद्दहमाण ने अपने सन्देश-रासक को सारस-रसित सरोवर कहा है।[२२३]

३ कीर्तिलता में विद्यापति के काव्य-सकेत

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कीर्तिलता को चरित और प्रशस्ति-काव्यों की पृष्ठभूमि पर रचित एक ऐतिहासिक काव्य माना है, ऐसा ऐतिहासिक काव्य, जिसमे ऐतिहासिक तथ्य कल्पित घटनाओं या सभावनाओ के द्वारा धूमिल नही हो गया है। इसमे न तो काव्य के प्रति पक्षपात है, न इतिहास की उपेक्षा।[२२४] कीर्तिलता मे गद्य और पद्य दोनो का प्रयोग हुआ है, इसमे कुछ सस्कृत के श्लोक भी हैं, अतः इसका काव्य-रूप चम्पू है। इसके रचयिता विद्यापति (१३५०-१४३८ ई०) सम्कृत के प्रकाड पडित थे, यह उनके 'पुरुष-परीक्षा' नामक सस्कृत ग्रन्थ से स्पष्ट हो जाता है। चौदहवी शती तक अनेक चम्पू काव्यो का सृजन सस्कृत मे हो चुका था[२२५] और विद्यापति उनसे परिचित थे। मैथिल पडितो द्वारा कई सस्कृत के चम्पू काव्यो के सृजन से भी उस क्षेत्र मे इनकी लोकप्रियता सिद्ध होती है। विद्यापति ने अपने हाथ से भागवत लिखकर समाप्त किया था।[२२६] भागवत के कई स्थल चम्पू-काव्य के उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करते है,[२२७] इसका प्रभाव भी उन पर पडा होगा। कीर्तिलता अवहट्ठ का चम्पू काव्य है और इस पर चम्पू काव्य की पृष्ठभूमि पर ही विचार किया जाना चाहिए। अवहट्ठ, 'अपभ्रश' का ही अपभ्रशरूप है, किसी अन्य प्रकार के अपभ्रश या भाषा का रूप नही है। सदेश-रासक मे भी अपभ्रश के लिए अवहट्ठ का ही प्रयोग किया गया है।[२२८]

विद्यापति ने कीर्तिलता के मगलाचरण मे गणेश के रोने, शिव के मुस्कराने और पार्वती के कौतूहल द्वारा काव्य के वर्ण्य-विषय, नायक की विपत्ति, शिव की प्रसन्नता और युद्ध का सकेत कर दिया है। सरस्वती की वन्दना मे उसे अर्थ-बोध के लिए जिह्वा-रूपी रगस्थली की नर्तकी कहा है।[२२९] उसे तत्त्व को आलोकित करने

२२१ रोला के लिए १०७वा तथा अतिवरवै के लिए १०३वा चन्द द्रष्टव्य।

२२२ अर्द्धम् छद सख्या ६३, १०३, १२५, १६८, २०७, २२०, कुलक १२१-१२५, युग्मक १३५-३४, १६८-३६

२२३ सदेश रासक, छन्द ५३

२२४ हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ७६-८०

२२५ चम्पू काव्य का आलो०, पृ० १०१-१२८

२२६ विद्यापति की पदावली, बेनीपुर, पृ० १३

२२७ भागवत का आग्नीध्र वर्णन ५।२

२२८ सदेश रासक—अवहट्ठय-सक्कय पाइयमि। १।६

२२९ कीर्तिलता १।१-२

वाली विदग्धता का विश्राम-स्थल, शृगारादि रसो की निर्मल लहरियो की मन्दाकिनी और कल्पान्त तक स्थिर रहने वाली कीर्ति की प्रिय सखी भी कहा गया है।[२३०]

वदना के उपरान्त उसने काव्य की लोकप्रियता, श्रोता तथा रस-मर्मज्ञता का उल्लेख किया है। रसज्ञ एव कवि-कीर्ति सिंह के लिए उसने यह काव्य लिखा।[२३१]

सस्कृत के आरम्भिक पाच श्लोकों के उपरान्त विद्यापति ने काव्य की मूल भाषा अवहट्ठ का प्रयोग प्रारम्भ किया है, किन्तु अपने काव्य-सम्बन्धी विचारो की अभिव्यक्ति का क्रम अविच्छिन्न रखा है। ये विचार हैं—अक्षर-रूपी स्तम्भ पर बधे (काव्य-रूपी) मच पर कीर्ति-लता फैलती है। दुष्ट काव्य की निन्दा करते हैं और सज्जन प्रशसा।[२३२] विद्यापति की भाषा बालचन्द्र (द्वितीया के चन्द्र के समान निष्कलक है। कला-विज्ञ सहृदय ही भ्रमर-सदृश काव्य-रस ले पाता है। सम्कृत और प्राकृत के दुर्बोध होने से देशी वाणी (अवहट्ठ) सबको प्रिय है।[२३३]

कथा का आरम्भ भृङ्ग-भृ गी के सवाद से हुआ है। अपभ्रश कथाओं में यह प्रवृत्ति तो दिखलाई पडती है कि पति-पत्नी के सवाद से कथा का प्रारम्भ हो, किन्तु कुछ चम्पू काव्य भी इसी प्रकार सवादो से आरम्भ हुए हैं। विद्यापति के कुछ काल बाद के मैथिल पडित पद्मनाभ मिश्र ने अपने ऐतिहासिक वीरभद्र चम्पू को विभीषण और उनकी पत्नी मदोदरी के सवाद-रूप में ही प्रस्तुत किया है।[२३४]

काव्यनायक शूर, उदार, कीर्तिसम्पन्न और धर्मपरायण होना चाहिए, कीर्ति-सिंह ऐसे ही हैं। कीर्तिलता एक वीर पुरुष की 'काहाणी (कथानिका)' है। इस काव्य का श्रवण फल है पुण्य और सुख।[२३५]

अन्य स्थलो पर विद्यापति ने कीर्ति को कुसुम सदेश, वीरसिंह को कविता मे कालिदास, नाटक और काव्य द्वारा समय-यापन, काम के लिए अन्य पुरुषार्थो का त्याग, तेलग, वग, चोल और कलिंग की भाषा, अक्षर रसज्ञ का अभाव, कथा के श्रवणामृत रस, राग मारू आदि के उल्लेख द्वारा भी कुछ सकेत प्रस्तुत किए है। अन्त मे इन्होंने अपने काव्य को माधुर्य की प्रभाव-स्थली और यश विस्तार मे अत्यन्त सक्षम बतला कर अपनी वाणी की अमरता की कामना की है।

कीर्तिलता मे व्यक्त विद्यापति के उक्त विचारो से स्पष्ट है कि वे काव्य और विविध भाषाओ के मर्मज्ञ है, व्युत्पत्ति सम्पन्न हैं। निर्मल भाषा-प्रयोग पर गर्व निजी प्रतिभा पर आत्म-विश्वास का द्योतक है। कीर्ति और धनार्जन काव्य-सृजन

२३० कीर्तिलता १।३
२३१ वही १।४-५
२३२ कीर्तिलता, पृ० ७६
२३३ कीर्तिलता अपभ्र श पद १।४-८
२३४ प्राच्यवाणी, कलकत्ता, वाल्यूम ६ में प्रकाशित, दिस० १९५२
२३५ कीर्तिलता, प्रथम पल्लव, पक्ति ३६-३७

के मुख्य प्रयोजन हैं और वीर चरित का गान लक्ष्य है। मुख्य रस वीर है और गौण श्रृगार। मगलाचरण, दाता की प्रशसा, सज्जन स्तुति, खल निन्दा, कथा-श्रवण फल आदि के समावेश मे काव्यरूढि का पालन किया गया है। नायक सफल-साहसी वीर है। कवि की यह रचना कीर्तिलता है अत इसका विभाजन पल्लवो मे किया गया है। इसमे चार पल्लव है।

कीर्तिलता मे दोहा, चौपाई, रड्डा, जदौ, छप्पद, वाली (मणवहला), गीतिका, पद्मावती, निशिपाल, (खजा), पज्झटिका, मधुभार, नाराच अरिल्ल, पुमानरी तथा रोला के अतिरिक्त भुजग प्रयात, विद्युन्माला, मालिनी, अनुष्टुप्, शार्दूल-विक्रीडित, रथोद्धता, स्रग्धरा और पृथ्वी छन्द का भी प्रयोग हुआ है। छन्दो के परिवर्तन मे वर्ण्य-विषय, की अनुकूलता का ध्यान रखा गया है।

गद्य-प्रयोग

गद्य-प्रयोग मे विद्यापति ने प्रचलित चम्पू-काव्य-शैली का पूर्ण अनुकरण किया है। समास-बहुलता, अलकारो की छटा और वृत्तगन्धिता से सम्पन्न गद्य-समुच्चयो का प्रयोग इसमे भी हुआ है—

समास-बहुला-पदावली : प्रवल-शत्रुवल-सघट्ट-सम्मिलन-सम्मर्द-सजात-पदाघात-तरलतर-तुरग-खुर-क्षुन्न-वसुन्धरा-धूलि-सभार-घनान्धकार-श्याम समर-निशाभिसारिकाप्राय-जय लक्ष्मी कर-ग्रहण करेओ।१।८१।२३॥

ऐसी ही समास-बहुला पदावली असलान को धिक्कारते हुए प्रयुक्त की गई है—

अरे ! अरे ! असलान ! प्राण-कातर-अवज्ञात-मानस-समर-परित्याग-साहस-धिक्-जीवन मात्र-रसिक की जासि।४।२४४-२४५॥

वृत्तगन्धिता वृत्तगन्धिता उत्पन्न करने के लिए दो शैलिया अपनाई जाती थी—पहली तो समान कृदन्त-प्रत्ययो वाले समविभक्तिक और समवचन वाले शब्दो के प्रयोग से वृत्तगन्धिता उत्पन्न की जाती थी—जैसे, कुर्वन्त, गच्छन्त, खादन्त आदि रख कर, दूसरी शैली थी गद्य के प्रवाह मे छन्दो के चरणो को रख देने की। पहली प्रवृत्ति का रूप तो सस्कृत के गद्य-काव्यो मे भी उपलब्ध हो जाता है। इन शैलियो के कारण गद्य मे भी ध्वन्यात्मकता (अनुरणनात्मकता) या सगीतात्मकता उत्पन्न हो जाती थी। वह शुष्क और नीरस न रह कर सरस एव प्रवाहयुक्त बन जाता था। इस शैली के कारण ही गद्य के मध्य मे भी तुक दिखाई पडता है। डा० शिवप्रसाद सिंह ने लिखा है अन्तर्पदीय तुकान्त की प्रवृत्ति निस्सदेह विदेशी है। मुसलमानो के सपर्क मे आने पर

फारसी तुको की तरह निर्मित मालूम होती है। हिन्दी गद्य के आरम्भ मे ऐसी प्रवृत्ति दिखाई पडी थी। खडी बोली के बहुत से नाटको मे भडौवा तर्ज के अन्तर्तुकान्त गद्य मिलेंगे। रासो की वचनिकाओ मे भी यह प्रवृत्ति लक्षित होती है'।[२३६] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तो केवल इस बात की सभावना मात्र का सकेत किया है कि 'हो सकता है कि यह तुक मिलाने की नवीन जातियो के सपर्क का फल हो'।[२३७] डा० सिंह ने इसे निरर्थक पुष्ट करने का प्रयास किया है। वस्तुत अन्तर्तुक की प्रवृत्ति का मूल सस्कृत की गद्य-शैलियो मे निहित है। हिन्दी गद्य के विकास की प्रारभिक अवस्था मे ही सस्कृत की गद्य-शैली के आधार पर उसके परिमार्जन का प्रयास किया गया। मैथिली और राजस्थानी ने इस प्रवृत्ति के प्रतिकूल अपने को नही पाया और गद्य का विकास होने पर इन दोनो मे सस्कृत के चम्पू काव्यो अथवा गद्य-काव्यो की भांति गद्य-प्रयोग देखने को मिलता है। वचनिकाओ मे इसीलिए अन्तर्तुक मिलता है। ब्रजभाषा मे ही नही अपितु खडी बोली हिन्दी मे भी सस्कृत गद्य शैलियो को अपनाने का प्रयत्न किया गया, परन्तु इन दोनो की प्रकृति उन शैलियो को पचा न सकी, अत अन्तर्तुक या वृत्तगन्धि शैली इनमे धीरे-धीरे क्षीण होती गई और उनके विकास की या परिमार्जन की दिशा भिन्न हो गई। इशाअल्ला न तो भाड थे न रानी केतकी की कहानी मे प्रयुक्त गद्य भडौवा है। नाटको मे सवादो की वृत्तगन्धिता, उस शैली के प्रयुक्त अवशेष मात्र हैं। अन्तर्पदीय तुकान्त का प्रयोग सगीतात्मकता, तालबद्धता या सम-ध्वनि-सयोजन के द्वारा प्रवाह उत्पन्न करने के लिए किया जाता था। चम्पू काव्यो मे यह प्रवृत्ति दिखाई पडती है—

(१) भिन्न प्रकोष्ठा. कर्ण कुण्डलानि, परेत कीकसमणय. कण्ठभूषणानि, परासुनलरसा शरीर वर्णकानि, गतजीवित करका करक्रीडा कमलानि। यशस्तिलक—पृ० ५०।

(२) विकच कर्णोत्पल स्पर्धि तरलेक्षणा, केलि तलिक्वणत्कनकमयककणा, सरसनखराजि विच्छुरित भुजमडला, काचिकोल्लासवशदर्शितोरुस्थला ॥ यशस्तिलक—प्रथम आश्वास।

प्रथम उदाहरण तो समविभक्तिक प्रयोग का है ही, दूसरे उदाहरण मे अन्तर्तुकान्त पद्य-प्रवृत्ति के साथ वृत्तगन्धिता भी है। डा० ए० वेंकट सुब्बिया का कहना है कि यह तेलुगु और कन्नड मे प्रयुक्त होने वाला 'ललित रगड' नामक छन्द है।[२३८]

२३६ कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, पृ० ४८
२३७ हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० १००
२३८ द्रष्टव्य—जर्नल आव ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास वा० ६ (१९३५ ई०) पृ० ४६ पर लेख 'सस्कृत मे अल्पप्राप्य कुछ छन्द'।

विद्यापति सस्कृत की वृत्तगन्धिता उत्पन्न करने की शैली और दक्षिण की इस छन्द-परम्परा, दोनो से परिचित है। सस्कृत के प डित तो वे थे ही, कन्नड या तेलुगु छन्द-परम्परा से वे जोगिनीपुर दरवार मे परिचित हुए, जिसका सकेत उन्होने निम्न-लिखित पक्तियो मे किया है—

तेलगा बगा चोल कलिंगा राजा पुत्ते मण्डीआ ॥
निअभासा जम्पइ साहस कम्पइ जइ सूरा जइ पण्डीआ ॥

विद्यापति ने इस वृत्तगन्धिता के लिए सस्कृत गद्य की दोनो शैलियो का प्रयोग किया है—

(१) अगणेय गुण ग्राम, प्रतिज्ञा पद पूरणैक परसुराम,
मर्यादा मगलावास, कविता कालिदास, ॥ (समविभक्तयन्त) १।पृ०३२

(२) कटक चागरे चागु, वाकुले वाकुले वचने,
काचले काचले नअने, ऑटले ऑटले वाधा, तीखे तरले काधा ॥
(सममात्रिक) ४।८० पृ० ५६

वस्तुत द्वितीय उद्धरण की पक्तिया डा० वावूराम सक्सेना और डा० शिव प्रसाद सिंह ने गद्यवत रखकर इन्हे गद्य ही माना है। यह 'ललित रगड' का एक भेद 'उत्साह छन्द' भी हो सकता है। प्रत्येक चरण मे २४ मात्रा का छन्द उत्साह होता है। यह छन्द वर्ण्य-विषय के अनुकूल भी है।

कीर्तिलता की भाषा को विद्यापति ने अवहट्ठ कहा है, केवल इसीलिए इसे हिन्दी का चम्पू काव्य न मानना उचित नही है। यह देशी वाणी तो है ही, सस्कृत की तत्सम पदावली के प्रचुर प्रयोग से भी यह अपभ्र श की मूलवृत्ति से पृथक् है। अपनी गद्य-शैली एव कथा-प्रवाह मे गद्य-पद्य दोनो के समान उपयोग के कारण यह सस्कृत चम्पू काव्य की प्रवृत्तियो से पृथक नही है। सदेशरासक को हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रथो मे स्थान मिल सकता है तो उससे दो सौ वर्ष वाद की लिखी गई और हिन्दी-भाषा के अधिक समीप कीर्तिलता का अधिकार तो कही और भी अधिक है।

कीर्तिलता का सृजन, चम्पू काव्य का विकासशील भाषा मे नूतन अवतरण एव प्रथम प्रयोग था। इनकी अपूर्ण उपलब्ध कृति कीर्ति-पताका भी चम्पू शैली मे ही प्रस्तुत की गई है।

४ निष्कर्ष

सस्कृत के महाकवि कालिदास ने कविता और काव्य को आश्रमो से निकाल कर दरवारो तक पहुचाया और शृ गार रस को प्रमुखता दी। निसर्ग-कन्या शकुन्तला की भाति ही वह राज-दरवारो मे पहुच कर भी प्रकृति से अपना ममत्व न तोड सकी। भाव-विभोर होते हुए भी वह कविता कभी अलकृत और कभी निरलकृत रूप मे जन-

मन को अनुरजित करती रही। यौवन और प्रणय की उद्दाम-प्रवृत्ति कविता मे महज और जीवन की स्वाभाविक अभिव्यक्ति बन गई। कविता के दरबार मे पहुचते ही वाणी मे अर्थगौरव का समावेश हो गया। राजनीति की भाति वाग्विदग्धता को महत्व प्राप्त हुआ। वीर रस का महत्त्व व्यावहारिक दृष्टि से शृ गार के समकक्ष हो गया। काव्य-प्रयोजन मे अर्थ-प्राप्ति और यशार्जन की इच्छा अधिकाधिक समाविष्ट हो गई। रसिको का महत्त्व बढा और रुचि-भेद ने कवि और श्रोता दोनो को नूतनता की प्राप्ति के लिए प्रेरित किया।

संस्कृत की गद्य-कथाओ ने तथा नाटको ने काव्य और जनरुचि का समन्वय किया। कविता का क्षेत्र इन कथाओ के माध्यम से जन-जन का विषय बना। कौतूहल वृत्ति को जगाने के साथ-साथ अलकारो को वाग्सौदर्य का अप्रतिम अ ग मान लिया गया। कादम्बरी की अनन्य प्रणय-कथा ने सौंदर्य की एक विशिष्ट प्रतिमा स्थापित की। चम्पू-काव्यो ने गद्य-पद्य का समन्वित आनन्द प्रदान किया। सोमदेव ने काव्य-सम्बन्धी निजी दृष्टिकोण को विस्तार के साथ स्पष्ट किया।

कवियो ने प्रसग-वश तो काव्य-सम्बन्धी निजी धारणाओ को स्पष्ट किया ही, एक विशेष-परम्परा का अनुपालन करने की दृष्टि से भी आरम्भ मे अपनी कृति के प्रेरक तत्त्वो, प्रयोजनो, काव्य-रूपो और विनम्रता आदि के सम्बन्ध मे कुछ न कुछ कहना प्रारम्भ किया और इसने मध्यकाल मे एक महत्त्वपूर्ण तथ्य का रूप प्राप्त कर लिया। किसी भी कृति की वास्तविक समीक्षा के लिए इस तथ्य को ध्यान मे रखना अपरिहार्य बन गया।

प्राकृत कृतियो ने लोक-जीवन और अभिरुचि को काव्य मे अधिक प्रश्रय दिया। सस्कृत-काव्य-परम्परा से हटकर काव्य को उपयोगितावादी सीमा मे आवद्ध करने का कार्य जैन-कवियो ने किया। धर्म-प्रचार एव काव्य को धर्म-दृष्टि प्रदान करने तथा धार्मिक सिद्धान्तो के प्रतिपादन के लिए काव्य का प्रचु र उपयोग किया गया।

महाकवि स्वयभू ने अपने पउमचरिउ मे अनेक प्रकार के मात्रिक छन्दो का प्रयोग किया। काव्य के लिए सन्धियो एव कडवक शैली की स्थापना की। राम का एक आदर्श रूप महाकाव्य के अ श रूप मे प्रथम वार समाविष्ट कर परवर्ती कवियो का उन्होंने पथ-प्रदर्शन किया। स्वयभू की काव्य-दृष्टि का व्यापक प्रभाव परवर्ती कवियो पर पड़ा। सदेशरासक ने लोक और शिष्ट काव्य का समन्वित रूप प्रदर्शित किया।

विद्यापति ने कीर्तिलता के रूप मे सर्वप्रथम अवहट्ठ मे चम्पू काव्य का सृजन किया। तुकयुक्त गद्य एव दक्षिण भारत के छन्द प्रयोगो को भी उन्होंने प्रस्तुत किया। यह एक नूतन प्रयोग था। राजस्थानी की वचनिकाओ मे तो इस शैली का विकास

हुआ, परन्तु हिन्दी की अन्य उपभाषाओ मे इस प्रयोग की ओर कम ध्यान दिया गया।

काव्य-सकेतो की इस परम्परा के अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आता है कि सस्कृत, प्राकृत अपभ्र श और अवहट्ठ (देशभाषा) की कृतियो के कवि के समान रूप से एक दूसरे के काव्य-सम्बन्धी प्रयोगो और दृष्टिकोणो से परिचित होकर काव्य-सृजन मे प्रवृत्त होते थे। भाषा कोई भी हो, सभी कवि भारतीय-काव्य-शास्त्रीय-दृष्टिकोण की मर्यादा के भीतर निजी प्रयोगो का समावेश करते थे। उनकी कृति और काव्य-दृष्टि निजी व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करते हुए भी एक विस्तृत काव्य-धारा की विविध मनोरम तरगें प्रतीत होती है।

४

हिन्दी के आदिकवियो के संकेतित और व्यवहृत काव्य-सिद्धान्त

१. चंद बरदायी के पृथ्वीराज रासो में काव्य-सिद्धान्तों के संकेत और प्रयोग

पृथ्वीराज रासो के मूल स्वरूप के सम्बन्ध में अब तक निर्विवाद निष्कर्ष नहीं निकल सका है। विविध विद्वानों के मत से यह विशालकाय रासो भी है और अल्पकाय 'रासउ' भी। यह ऐतिहासिक काव्य भी है और अनैतिहासिक भी। यह एक कविकृत भी है और अनेक कविकृत विकसनशील महाकाव्य भी। हिन्दी का यह आदि महाकाव्य, हिन्दू धर्म के ब्रह्म की भांति ही परस्पर-विरोधी गुणों का समन्वय माना जाता है। यदि साहित्य के इतिहासकारों और काव्य के आलोचकों द्वारा इसके सम्बन्ध में परस्पर-विरोधी विचार व्यक्त होते रहे हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? इसे महाभारत की भांति विकसित महाकाव्य मान लेने पर भी उन कवियों के नाम अज्ञात हैं, जिन्होंने अपने कवियश को चन्द के यश के साथ मिलाकर एकाकार कर दिया है। इस सम्बन्ध में प्रायः सभी विद्वान एक मत हैं कि इसका वृहत् उपलब्ध रूप सोलहवीं शताब्दी से पूर्व ही आकार पा चुका था।[1]

सामान्यतः पृथ्वीराज रासो पर उसकी ऐतिहासिकता और अनैतिहासिकता पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। गार्सां द तासी के अनुसार 'चन्द का काव्य अपने युग का पूर्ण इतिहास है।[2] टॉड के अनुसार 'कवि के काल का यह पूर्ण इतिहास है।[3] ग्रियर्सन इसके काव्य-सौन्दर्य पर मुग्ध हैं।[4] जेम्स मोरिसन इसे जाली ग्रन्थ मानते हैं।[5]

१ द्रष्टव्य—हिन्दी काव्यधारा, पृ० ४३४. राहुल जी—चन्द का समय—१२०० ई०, हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल—पृथ्वीराज रासो की रचना सं० १४०० के लगभग हुई ही मानी जा सकती है, इससे पूर्व नहीं—पृ० ४६-५४ 'पृथ्वीराज रासउ' की भूमिका में माता प्रसाद गुप्त—आइने अकबरी से पूर्व पृथ्वीराज रासो की रचना हो चुकी थी—पृष्ठ १६८

२ चन्द बरदायी और उनका काव्य, पृ० ३५२ से उद्धृत

३ वही, पृ० ३५४ पर

४ वही, पृ० ३५५ पर

५ वही, पृ० ३५५ पर

ये विचार कुछ यूरोपीय विद्वानो के हैं। हिन्दी साहित्य के विद्वानो के भी तीन वर्ग है। एक वर्ग उसे जाली समझता है, दूसरा उसे प्रामाणिक रचना मानता है और तीसरा वर्ग उसके कुछ अश को प्रामाणिक और कुछ अश को अप्रामाणिक या प्रक्षिप्त मानता है। जिन अशो की प्रामाणिकता निर्विवाद समझी जाती है, उन अशो का पृथक सपादन डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने 'पृथ्वीराज रासउ' के नाम से किया है, गुप्तजी का विचार है कि 'रासो सम्पूर्ण रूप से ऐतिहासिक रचना नही है, उसके अनेक उल्लेख या विस्तार अवश्य ही कल्पना-प्रसूत हैं और इतिहास से समर्थित नही हैं। यह कहना अनावश्यक होगा कि हमे सम्पूर्ण रचना को प्राय उसी दृष्टि से देखना चाहिए जिस दृष्टि से हम मध्य युग मे लिखे गये एक अच्छे से अच्छे ऐतिहासिक महाकाव्य को देख सकते हैं।'[६] 'रासो की चरित्र-कल्पना ही उसकी सबसे बडी विशेषता है जैसा कि प्रत्येक महाकाव्य की हुआ करती है। पृथ्वीराज इस महाकाव्य का नायक है। उसके समस्त कार्य धर्म-बुद्धि से होते हैं।[७] जयचन्द और शहाबुद्दीन पृथ्वीराज के अच्छे और समर्थ प्रतिद्वन्दी है।[८] 'रासो 'साहित्य-दर्पण' के काव्य-लक्षणो के अनुरूप अवश्य नही पडता है और उसका कारण यह है कि महाकाव्य होने के साथ-साथ यह छन्द वैविध्यपरक रासो-परम्परा की रचना है।[९]

पृथ्वीराज रासो पर अब तक तीन दृष्टियो से विचार किया गया है—(१) ऐतिहासिक रचना की दृष्टि से (२) ऐतिहासिक महाकाव्य की दृष्टि से, और (३) छन्द-वैविध्य-परक रासो-परम्परा के काव्य की दृष्टि से। पृथ्वीराज रासो ऐतिहासिक नही है, अत उसमे इतिहास-विरुद्ध तथ्यों का होना आश्चर्यजनक नही है। एक ऐतिहासिक महाकाव्य के लिए यह आवश्यक हैं कि उसमे ऐतिहासिक घटनाओ और तथ्यों को विकृत न किया जाय। कल्पना का योग इन सत्य घटनाओ को सुन्दर और काव्यात्मक रूप देता है, उनको विकृत नही करता। निस्सन्देह पृथ्वीराज रासो मे इतिहास-विरुद्ध तथ्य है, फिर इसे ऐतिहासिक काव्य मानने का भी मुख्य आधार छूट जाता है। ऐतिहासिक तथ्यो के अनुकूल बनाने के लिए समग्र पृथ्वीराज रासो के कुछ अशों को ही एक रूप देकर पृथ्वीराज रासो कहना भी उपलब्ध सम्पूर्ण काव्य के प्रति अन्याय ही है। छन्दो की विविधता, चन्द के काव्य-युग की शैली-सम्बन्धी विशेषता है, अत उसके आधार पर कुछ अश को ही प्रामाणिक मानने का कोई आधार उपलब्ध नही होता। सम्पूर्ण पृथ्वीराज रासो मे यह छन्द-वैविध्य दृष्टिगोचर होता है। आज कुछ साहित्य के इतिहासकार इस काव्य की उपेक्षा कर 'भरतेश्वर बाहुबली रास' को हिन्दी साहित्य का आदिकाव्य सिद्ध करने लगे है अत यह आवश्यक है कि पृथ्वीराज

६ पृथ्वीराज रासउ, पृ० ११२
७ वही, पृ० १८६
८ वही, पृ० १६७
९ वही, पृ० २१७

रासो को इस श्रेय से वंचित करने के पूर्व इसके समग्र रूप पर एक बार गहरी दृष्टि डाली जाय। इस सम्बन्ध में पृथ्वीराज रासो के कवि का विचार किसी भी आलोचक के मत से अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है, जिसकी ओर अब तक ध्यान नहीं दिया गया है।

(क) पृथ्वीराज रासो एक पौराणिक काव्य

स्वयं चन्द ने इसे 'प्रथिराज काव्य' या पुराण कहा है।[10] पौराणिक काव्य का नायक अवतारी पुरुष होना चाहिए। देव और दानव के अवतार ही पौराणिक काव्य के नायक-प्रतिनायक तथा अन्य पात्र होते हैं। पृथ्वीराज को विशिष्ट अवतारी पुरुष सिद्ध करने के लिए चंद ने 'ढुंढा' राक्षस की कल्पना की और उसी की ज्योति से पृथ्वीराज, उनके शूर-सामन्त तथा संयोगिता आदि की उत्पत्ति का प्रसंग प्रस्तुत किया है। यह दानव बाद में सिद्ध बना और उसने काशी में अपने को हवन कुण्ड में जला दिया और पृथ्वीराज आदि के रूप में अवतरित हुआ।[11] बावन वीर, योगिनी, देवी आदि की सिद्धि के प्रसंग काव्य को पौराणिक रूप ही देते हैं। पृथ्वीराज के अवतार होने का उल्लेख कवि ने अनेक स्थलों पर किया है।[12]

पृथ्वीराज रासो के जिस अन्तिम युद्ध को प्रामाणिक माना जाता है वह भी पौराणिक शैली में ही है। यह युद्ध—(१) चन्द्र और उनकी पत्नी, (२) शिव और यक्ष तथा (३) संयोगिता और गिद्धिनी या डाकिनी के संवाद रूप में ही वर्णित है। वक्ता और श्रोता का सन्निवेश पौराणिक विशेषता रही है। मध्ययुग के प्रायः सभी प्रबन्ध काव्य इस शैली का अनुसरण करते हैं। तुलसी का रामचरित मानस भी इस का अपवाद नहीं है।

एक पुराण में सर्ग, प्रलय, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित का वर्णन अपेक्षित होता है, किन्तु किसी पौराणिक काव्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह सर्ग, प्रलय और मन्वन्तर का भी वर्णन प्रस्तुत करे। आदर्श चरित्र, सदाचार-सम्पन्न और यशस्वी राजाओं का वर्णन ही पुराण भी करते हैं, एक पौराणिक काव्य के लिए भी ऐसे ही राजा या राजाओं का चरित्र अपेक्षित है। इस सम्बन्ध में भागवत का यह कथन साक्षी है—

> 'कथा इमास्ते कथिता महीयसां, हिताय लोकेषु यशः परे युषाम्।
> विज्ञान-वैराग्य-विवक्षया विभो, वचो विभूतिर्न तु पारमार्थ्यम्।' १२।३।१४

१० षट्भाषा पुराण च कुरान कथित मया। पृथ्वीराज रासो १।८३
सोमपान् तेम नेम उच्चरन प्रथिराज काव्य कृत पृ० रा० १।८०

११ इस मानव उद्धार करि दनन लियो भुअ भाद।
सो मृत्त त नवि घट करि वन्यो नविन वनाय। पृ० रा० १।५७८

१२ द्रष्टव्य—पृ० रा० १।६, १६।२४८ आदि।

महान् और यशस्वी चरित ही वर्ण्य होने चाहिएँ। चन्द ने महान्, यशस्वी और अवतारी पुरुष पृथ्वीराज सहित अनेक यशस्वी सामन्तो के चरित और उनकी वीरता को अपना वर्ण्य बनाया है।

चन्द, रामायण और महाभारत सहित पुराणो के मर्मज्ञ थे। महाभारत को तो वे जैसे वीरता का आदर्श ग्रन्थ मानते थे और जहा कही उन्हे काव्य मे अवसर मिला है, अपने काव्य-पात्रो की तुलना उसके पात्रो से करने लगते हैं।[13] पार्थ और दुर्योधन दोनो की ही वीरता और रणनीति के कारण चन्द बार-बार इनका उल्लेख करते हैं। पृथ्वीराज रासो का आदर्श एव प्रेरक महाभारत ही रहा है।

आबू के यज्ञकुण्ड से चार क्षत्रिय कुलो की उत्पत्ति तथा पृथ्वीराज, सयोगिता और गोरी आदि के जन्म की अद्भुत कथा का वर्णन काव्य को पौराणिक रूप देने के लिए ही प्रस्तुत किया गया है। पुराणो को पुराण का रूप उसके बीच-बीच मे आने वाले उपाख्यान ही देते हैं। पृथ्वीराज रासो मे भी भागीरथी माहात्म्य (समय ६१), जयचन्द की रानी जुन्हाई की उत्पत्ति-कथा (समय ६१), अतातायी चौहान की उत्पत्ति-कथा (समय ६१) तथा स्वप्न (अन्तिम युद्ध ८,९) और शकुन (समय ६१।७०, ६५।१०२) आदि[14] का वर्णन उपाख्यान शैली पर ही हुआ है। जिस प्रकार किसी पुराण से उसके उपाख्यानो को निकालकर मूल कथा के अश को ही ग्रहण करना अभीप्ट नही होता, वैसे ही पृथ्वीराज रासो से उसके इन स्थलो को पृथक् नही किया जा सकता।

युद्ध क्षेत्र मे वीरो की मृत्यु पर अलौकिक दृश्यो की व्यजना केवल अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन मात्र नही है, वह पौराणिक शैली की अनुरूपता लाने का प्रयत्न भी है—

> गग डोलि ससि डोलि, डोलि ब्रह्मंड राक्र टुल।
>
> अप्ट थान दिगपाल, चाल चचाल त्रिचल थल ॥६१।१४६३॥

गोरी के साथ पृथ्वीराज के अन्तिम युद्ध को तो चन्द ने असुर-सुर युद्ध भी घोषित कर दिया है—

> धर धक्कि धमक्किनि धारन।
>
> मिलि असुर सूर प्रहारन ॥६६।१५४३॥

१३ द्रप्टव्य—पृ० रा० १।७२७, ५७।८८, ५।१०१, ५१।२०२ आदि।

१४ अन्य उपाख्यानो के लिए—परीक्षित का तक्षक दशन, जनमेजय का नागयज्ञ तथा आबू पर्वत का उद्धार (समय १), शरवधुनि योगियो की कथा (समय ६१) अतातायी चौहान स्त्री से पुरुष बना था। एक ही कनवज्ज खड मे महाभारत की भाति गई सामन्त सेनापतित्व ग्रहण करते हैं।

पौराणिक काव्य मे काव्य के पठन का फल-निर्देश भी अवश्य होता है। चन्द ने पृथ्वीराज रासो की विशेषताओं को गिनाते हुए इसे मुक्ति और ज्ञान का प्रदाता, पार उतारने वाला राजनीति रूपी जहाज, तर्क-वितर्क-सम्पन्न, राज सभा के उपयुक्त तथा कवियो के लिए आदर-प्राप्ति का साधन माना है।[१५] भक्ति और चतुर्थ पुरुषार्थ-मुक्ति अनेक पुराणो के पाठ का भी फल है।

स्थान-स्थान पर शास्त्रीय उक्तियों और धार्मिक उपदेशो के समावेश से भी पृथ्वीराज रासो के पौराणिक स्वरूप की पुष्टि होती है। ये उक्तिया कही तो विधि-ग्रन्थो से ज्यो की त्यों उद्धृत कर दी गई है, कही उनका रूपान्तर कर दिया गया है।[१६] किसी काव्य को पौराणिक-काव्य कहने का यह अर्थ नही है कि उसमे महाकाव्य के तत्व या उसकी विशेषताए नही है। ऐतिहासिक तथ्यो के अन्वेषण के समय उनकी अनुपलब्धि पर किसी काव्य को ही जाली मान लेना एक पौराणिक काव्य की मूल-प्रवृत्ति के साथ अन्याय ही हो सकता है।

(ख) चन्द का सबल व्यक्तित्व

पृथ्वीराज रासो मे चन्द भी स्वय एक पात्र है। इसकी अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओ से उसका स्वय भी सम्बन्ध रहा है। महाभारत के व्यास की भाति ही वह काव्य का प्रणेता और पात्र दोनो ही है। वह अवतारी पुरुष महाराज पृथ्वीराज का सखा, परामर्शदाता, मित्र, सामत, योधा, दूत, पथप्रदर्शक, उपकारक और अन्तिम समय मे उद्धारक भी था। इसके साथ ही वह कवि भी था, दरबारी कवि, जिसकी वाणी दरबार के वीर सामन्तो को काव्यामृत से अमरत्व प्रदान करती थी। चन्द की कविता मे स्थान पाने के लिए वीर-सामत रणक्षेत्र मे मरण के खेल खेला करते थे। चन्द के लिये स्थान-स्थान पर प्रयुक्त विशेषणो और अन्य पात्रो द्वारा की गई उसके लिए प्रशसात्मक उक्तियो मे उसके कवि-व्यक्तित्व की झलक दिखाई पडती है।

चन्द द्वारा बावन वीरो की सिद्धि के उपरान्त पृथ्वीराज ने उसकी प्रशसा करते हुए, उसको तीनों लोको मे अगम, नट, भट्ट, नाटिक्कनर, संसार-समुद्र के लिए बोहित तथा देवी से वर-प्राप्त कहा है।[१७] कवि चन्द से जब कभी कोई प्रश्न किया जाता था तब उसके 'वरदाइ' और बुद्धिमान होने का सकेत अवश्य किया जाता था।[१८] चन्द मे अदृष्ट वर्णन की क्षमता थी। पृथ्वीराज द्वारा चुनौती दिये जाने पर उसने भरे दरबार मे कैमास-वध का रहस्य उद्घाटित कर दिया था[१९]। पृथ्वीराज के इस कुकृत्य का

१५ द्रष्टव्य, पृ० रा० १।८५ 'मुगति समप्पन ग्यान'।

१६ य कर्म क्रियते प्रानी सो प्रानी तत्र गच्छति ॥ पृ० रा० ६४।३२०
तथा द्रष्टव्य अन्यस्थल—२।५१४, ७।७६४, ६१।१८२५, ६४।१६८, ३११-३२०

१७ पृ० रा० ६।४८

१८ द्रष्टव्य—पृ० रा० १।३०, ६।१४४, ७।१०८, २२।४ आदि स्थल।

१९ द्रष्टव्य—पृ० रा० समयो ५७॥

वर्णन सुनकर अन्य सामत क्रुद्ध एव खिन्न हो गए। पृथ्वीराज स्वय लज्जित हो गया। पृथ्वीराज के साथ कन्नौज दरवार मे प्रवेश करने से पूर्व भी उसकी अदृष्ट-वर्णन की क्षमता की परीक्षा ली गई थी और उसमे वह पूर्ण सफल रहा।[20] उसके अदृष्ट-वर्णन की क्षमता की प्रशसा करते हुए जयचन्द के कवियो ने कहा कि चन्द की काव्य मे गति और उक्ति-विचार की प्रतिभा समिधाग्नि के प्रकाश तुल्य है। वह अपने आश्रय-दाता नरेश्वर के लिए सुखप्रद सम्पत्तितुल्य है और अन्य के लिए उसके शरवाक्य वीर-वर अर्जुन के शर-प्रहार के अनुरूप हैं।[21] अदृष्ट-वर्णन के लिए प्रस्तुत होते ही सरस्वती मानो उसके मानस-चक्षुओ के समक्ष प्रत्यक्ष हो जाती थी। तीनो लोको मे व्याप्त उन की शक्ति से स्वय चन्द को भी उदय से अस्त तक सब कुछ दृष्टिगोचर होने लगता था। उसकी कवि-प्रतिभा का सचार तीनो कालो मे अव्याहृत था।[22] स्वय चन्द को अपने 'वरदाइ' होने और अदृष्ट-वर्णन की क्षमता पर गर्व भी था।[23]

चन्द ६ भाषाओ का ज्ञाता और नव रसो मे काव्य-रचना-निपुण था। छन्द-प्रवन्ध पर उसका पूर्ण-प्रभुत्व था। चन्द के समय सस्कृत, प्राकृत, अपभ्र श, मागध, पिशाच और शौरसेनी का ज्ञान एक उच्च कोटि के कवि के लिए अनिवार्य माना जाता था।[24]

चन्द की वाणी सरस थी। वह यशस्वी और गुणो का समुद्र था। उसकी सूक्तिया लहरियो के समान थी। युक्तिपूर्ण कविता उसकी मर्यादा थी और प्रखर व्यग्य-पूर्ण वाक्य ही उसके रत्न थे। वह गुण से कसी हुई प्रत्यचा वाला अक्षय धन्वी था। कीर्ति-वाक्य ही उसका तरकस था और सरसता ही उसका सर-समूह, अभिलाषाए उसके हाथ थी। उससे गर्व करने वाला कवि दलित हो जाता था।[25]

पृथ्वीराज के दरवार मे चन्द को राजा के सम्मुख ही स्थान प्राप्त होता था तथा युद्ध-यात्रा के समय वह सेना के मध्य मे चलने वाले राजा के साथ ही रहता था। वह सामत, मत्री और मित्र होने के कारण पृथ्वीराज से प्रचुर धन और सम्मान प्राप्त कर चुका था। विश्वसनीय होने के कारण वह महत्वपूर्ण अवसरो (भीम से युद्ध-योजना, हाहुली हमीर को मनाना) पर दूत का कार्य भी करता था। कन्नौज-युद्ध मे उसने स्वय भाग लिया था। चन्द कवीन्द्र था और वाद-विवाद मे अनेक कवियो और राजाओ को उसके सामने मौन हो जाना पडता था। जयचन्द द्वारा यह पूछे जाने पर कि—

२० द्रष्टव्य—पृ० रा० ६१।५१३
२१ द्रष्टव्य—पृ० रा० ६१।५१५ एव उसके आगे का वर्णन।
२२ द्रष्टव्य—पृ० रा० ५८। २२५, ६१। ५५४, १। ३०।
२३ द्रष्टव्य—पृ० रा० ५८। १२६, ६१। ५५०
२४ वही, १। ८३, ६१। ७४४, ६७। १८६
२५ वही—६१। ५३६-५३६

मुह दरिद्र अरु तुच्छ तन, जगलराव सुहद्द।
बन उजार बन-पशु चरन, क्यों दुबरो बरद्द ॥६।१५८०

उसने पृथ्वीराज की प्रशसा मे जो उक्तिया प्रस्तुत की उससे जयचन्द जल-भुनकर रह गया।

चन्द के सबल-कवि-व्यक्तित्व को व्यक्त करने वाले अनेक स्थल पृथ्वीराज रासो मे उपलब्ध हैं। क्या ये उक्तिया अन्य कवियो द्वारा बाद मे जोड दी गई हैं? इस प्रश्न का उत्तर 'नहीं' मे दिया जा सकता है। एक पौराणिक-काव्य के निर्माता को त्रिकालज्ञ और अदृष्ट-वर्णन मे सक्षम होना ही चाहिये। चन्द, व्यास की भाँति ऋषि नही था। वह राजकीय ऐश्वर्य से सम्पन्न था। बावन वीरो और सरस्वती की सिद्धि के कारण वह ऋषि-तुल्य था। चन्द की वाणी मे स्थान पाने के लिए वीर सामत लालायित रहते थे। चन्द, काव्य का स्वय एक पात्र है अत जिस प्रकार उसने अन्य सामन्तो का वर्णन किया है, स्वय अपना वर्णन भी किया है। इसके मूल मे अपनी कीर्ति को स्थिर रखने का प्रयोजन भी निहित था, जिसे चन्द ने स्वय स्पष्ट किया है।

(ग) स्वामि-धर्म की प्रतिष्ठा ही प्रयोजन

प्रत्येक पुराण किसी विशेष प्रयोजन से निर्मित हुआ है। पौराणिक-काव्य उन प्रयोजनो मे से किसी एक को लक्ष्य बनाकर चलते हैं। चन्द ने पृथ्वीराज रासो की रचना उस समय की जब पृथ्वीराज और गोरी का अन्तिम युद्ध भी समाप्त हो चुका था। वह एक उच्चकोटि के कवि को सुलभ धन, ऐश्वर्य, सम्मान और यश आदि सब कुछ प्राप्त कर चुका था। पृथ्वीराज और गोरी के अन्तिम युद्ध के समय वह हाहुलि हमीर की कैद मे था जिसे मना कर सहायता देने के लिए प्रेरित करने को पृथ्वीराज ने चन्द को दूत रूप मे भेजा था। हाहुलि की कैद से मुक्त होकर जिस समय चन्द दिल्ली पहुचा, उस समय तक युद्ध समाप्त हो चुका था। पृथ्वीराज-विहीन दिल्ली के नगरवासियो ने आसुओ ने कवि का स्वागत किया। स्वय चन्द विह्वल हो उठा। पृथ्वीराज और उसके वीर सामन्तो का साहचर्य और प्रेम उसे बार-बार स्मरण हो आता था।[26] पृथ्वीराज और उसके सामन्तो की प्रशसा करते हुए चन्द ने पहले भी बहुत कुछ लिखा होगा। समय-समय पर लिखे गए इन अशो को वस्तु-क्रम मे सजाकर स्वय चन्द ने अपनी पत्नी की प्रेरणा से एक प्रबन्धात्मक रूप दे दिया, अन्यथा दो मास आधे दिन मे इतने विशालकाय काव्य की रचना असम्भव ही लगती है।[27] इन अशो मे बहुत सा अश वह भी होगा जो केवल मनोरञ्जनार्थ लिखा गया होगा और जिसमे ऐतिहासिक तथ्यों को ढूंढने का प्रयत्न करने पर भी कुछ नही मिलता, जो केवल कल्पना पर ही

२६ द्रष्टव्य—पृ० रा० ६६। १३०७।
२७ वही, ६७।४०-४१।

आश्रित है और रासो के आलोचक जिसे प्रक्षिप्त मान लेते है। एक ही कवि के समय-समय पर लिखे गए काव्याशो के स्वरूप मे प्रौढता-अप्रौढता के भी दर्शन हो सकते हैं।

चन्द ने स्वय यश की महिमा का बखान किया है और अपनी पत्नी से स्वय यशस्वी बनने की बात कही है।[२८] पृथ्वीराज सहित उसके वीर सामतो को यशस्वी बनाना ही चन्द का उद्देश्य था। यश ही कवि की दृष्टि मे अमरता का प्रतीक है। यश की स्थिरता, किसी काव्य-नायक या उसके वीर-पात्रो की वीरतापूर्ण गाथा और महान गुणो के काव्य-निबद्ध होने पर ही निर्भर करती है। कवि का यह परम धर्म है कि वीर पात्रो को अपनी कविता मे जीवित रखे। चन्द का प्रयोजन वीरो को अपने छन्दो मे जीवित रखना ही था। 'सुकवि छन्द चन्दे जिआ' जैसी उक्तिया इसकी साक्षी हैं। मरणोपरान्त कीर्ति ही शेष रहती है।[२६] चन्द, युद्ध-क्षेत्र मे स्वय वीरो के यश-अयश का साक्षी रहता था—

हों भट्ट चन्द जस अजस पढि भरो सापि सूरह समर ।६६।६६७ ॥

अन्तिम युद्ध मे पृथ्वीराज के सामतो ने स्वामिधर्म का पालन करते हुए प्राणोत्सर्ग कर दिया था। चन्द को यह अवसर न मिला। उन्होने पृथ्वीराज रासो के निर्माण द्वारा न केवल इस धर्म का पालन किया अपितु पृथ्वीराज का उद्धार कर उन्हे अमर भी बना दिया।

सामन्तवादी व्यवस्था भारत मे प्राचीनकाल से ही चली आ रही है। चन्द का युग तो सामन्तवादी युग था ही। राजा इस पृथ्वी पर 'महती देवता' समझा जाता था। शिशु राजा की भी अवज्ञा करना वर्जित था। राजा के प्रति इस अन्ध-विश्वासी श्रद्धा को बद्ध-मूल करने मे धर्मशास्त्र और नीति-शास्त्र के ग्रन्थो ने प्रचुर योग दिया। राजा की इच्छा पर सैनिक प्राण-पण मे युद्ध करने को तत्पर हो और या तो विजय प्राप्त करें या मरण का वरण, इसके लिए उनके सामने एक निश्चित आदर्श प्रस्तुत किया गया। यही आदर्श था 'स्वामि-धर्म'। धार्मिक पृष्ठभूमि पर इस आदर्श की प्रतिष्ठा होते ही स्वर्ग, नरक और मुक्ति का विधान आवश्यक हो गया। स्वामि-धर्म का पालन करने वाले सैनिक और सामत को स्वर्ग और मुक्ति की उपलब्धि सुलभ हो गई और इस धर्म से च्युत होते ही नरकवास भी निश्चित हो गया। कौटिल्य ने तो राजा के लिए न लडने वाले सैनिक या सामत को श्राद्ध-जल से वचित ही नही घोषित किया, उसे नरक जाने का शाप भी दे डाला है। चन्द ने न केवल स्वामि-धर्म का पालन करते हुए स्वय प्राण विसर्जित किया अपितु पृथ्वीराज रासो मे उन्होंने इस धर्म के पालन के लिए अन्य सामतो को प्रेरणा भी दी।

२८ वही, ६७। २२।
२६ वही, ३१। ६, ३१। १०, ६६। ३८३।

स्वामि-धर्म के पालन के साथ क्षत्रिय-धर्म का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। चन्द के शब्दो मे जो क्षत्रिय खड्ग-धर्म (युद्ध) का पालन नही करता उसे नरकवास मिलता है और जो विजय की कामना मे प्राण देता है उसे सूर्य-मडल मे तेजोलोक मिलता है—

> षगधार ध्रम्म षत्री तनौ चूकै नूक्क निवासियै।
> जै काम सूर साधन चले घू धू मडल्ल वासियै ॥ ३६ । ६७६ ॥

सुरलोक के साथ यश और नरक के साथ अयश बधा हुआ है। तलवार ही मुक्ति का मुख्य साधन है[30]। स्वामि-धर्म के साथ ही मुक्ति और यश बधे हुए है—

> सा ध्रम्म मुक्ति बन्धै खन सामि-ध्रम्म जस मुगतिवर।
> अब किति कित्ति करतार कर, नरक चूक झुभझोति नर ॥ ६६ । ६६२ ॥

चन्द की दृष्टि मे वे ही क्षत्रिय धन्य है जिनकी बुद्धि धर्म मे हैं। जो स्वामी के सकट मे पडने पर भी स्वामि-धर्म नही छोडते उन्हें ही राव-श्रेष्ठ समझा जाना चाहिये —

> वरदाय चद चिंतनु करे, धनि छत्री जिन ध्रम्म मति।
> मुक्कहिं न स्वामि सकट परे, ते कहिये रावत्त पति ॥ ६१ । ५३६ ॥

क्षत्रिय की मुक्ति और सूर-मण्डल मे निवास स्वामि-धर्म के पालन से ही सभव है। सामतो मे सिंह वही है जो अपना मन इसी मे लगाकर शीघ्र मुक्ति और सुगति के लिए प्रयत्न करे। चन्द ने सामती-जीवन के इस आदर्श पर स्थान-स्थान पर पूरा बल दिया है।[31]

चन्द ने 'स्वधर्मे निधन श्रेय.' का पूर्ण पालन किया है। बारहवी शताब्दी तक प्राचीन परम्पराओ की मर्यादा मे अधिक बल नही रह गया था। बाहरी आक्रमणो के आरम्भ होने पर परस्पर सघर्परत सामन्तो और राजाओ की शक्ति क्षीण होने लगी थी। सभवत निरन्तर युद्धो मे सैनिक और सामन्त ऊब गये थे और उनमे एक नई प्रेरणा भरने की आवश्यकता थी। सैनिक किसी आदर्श के लिए ही युद्ध-क्षेत्र मे प्राण विसर्जित करता है। राष्ट्र-भावना तब थी नही, अत कौटिल्य-युगीन क्षत्रिय-धर्म और स्वामि-धर्म की प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया गया। पौराणिक काव्य पृथ्वीराज रासो इसी आदर्श की प्रतिष्ठा का प्रयत्न करता है। इस धर्म के पोषण के लिए उसने जीवन की क्षणभगुरता का स्थान-स्थान पर निर्देश किया है।

भारतीय परम्परायें आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत रही हैं। इस नश्वर जीवन से

३० द्रष्टव्य—पृ० रा० ६६। ६८१।
३१ वही, ६१। ६५३-६५६।

परे भी कुछ है, उसकी सत्ता आरम्भिक काल से ही भारतीय मनीषियो ने स्वीकार कर ली थी। स्वर्ग-नरक और इनसे भी पर मुक्ति की कल्पना पारलौकिक सत्ता की स्वीकृति पर ही निर्भर रही। उत्तम कर्मो से स्वर्ग, हीन कर्मो से नरक तथा मानव-जीवन के लिए निश्चित आदर्श के प्रति तन-मन-धन के पूर्ण समर्पण से मुक्ति का विधान धर्म-शास्त्रीय ग्रन्थो मे किया जाने लगा। पुण्य और पाप तथा निष्काम कर्म की व्यवस्थाए सामने आयी। परलोक की सत्ता का स्वीकरण और जीवन की नश्वरता का परिज्ञान, मरणोपरान्त भी उत्तम की उपलब्धि के लए प्रेरणाप्रद सिद्ध हुए। एक पौराणिक परम्परा का पालन करते हुए पृथ्वीराज रासो मे जीवन की नश्वरता का अनेक स्थलो पर सकेत किया गया है। स्वामि-धर्म और कर्त्तव्य-पालन के लिए प्रेरक तत्व के रूप मे स्वय चन्द ने इसका बार-बार सकेत किया है—

> धिग धिग सुवीर वसुधा करै तौ न छुट्टै नर काल भ्रर ॥ ६६ । ६८६ ॥
> रजपूत मरन ससार वर ॥ ६१ । १५७६ ॥
> सा पुरुषा का जीवन थोडाइ है भल्हा ॥ ६४ । १६८ ॥

हाहुलि हम्मीर को समझाते हुए चन्द ने सासारिक सुखो की भर्त्सना की है और जीवन की नश्वरता का सकेत किया है—

> धिग्ग सुष्ष ससार धिग्ग मिष्ठान पान वर ॥ ६६ । ६८१ ॥
> पय लग्गानिय मीच मन को करै थियल को ॥ ६३ । ६८३ ॥
> ससार अथिर सामन मत ॥ ६६ । ३८३ ॥

ससार अस्थिर या क्षणभगुर है, यही एक सामत का मत या सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त को छोडकर वह इस नश्वर माया शरीर की ओर तभी उन्मुख होता है जब वह असत् मार्ग ग्रहण कर लेता है।

चन्द का कवि-व्यक्तित्व इतना सबल था कि वह अपने प्रभाव का उपयोग उस सामन्ती युग मे क्षत्रियत्व-सम्पन्न स्वामि-धम की पुनः प्रतिष्ठा मे कर सके। महाभारत ही पृथ्वीराज रासो का आदर्श रहा है। एक पौराणिक काव्य की अनेक विशेषताएँ इसमे उपलब्ध होती है। भारतीय परपरा के आधार पर जीवन की नश्वरता का बोध कराते हुए एक ऐसे निश्चित जीवनादर्श की प्रतिष्ठा इस पौराणिक-काव्य का प्रयोजन है जो उस युग-विशेष के लिए सर्वथा उपयुक्त और वाछनीय था। स्वामि-धर्म को स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप, यश-अपयश और चरम लक्ष्य मुक्ति से जोडकर चन्द ने इसकी महत्ता स्थापित की है। पुराणो का प्रभाव हिन्दू जीवन पर था ही, अपने काव्य को पौराणिक रूप देकर चन्द ने इसकी मान्यता को और भी प्रभावशाली बनाने का प्रयत्न किया है। यदि इन तथ्यो को ध्यान मे रखा जाए तो पृथ्वीराज रासो के अध्ययन की और अधिक आवश्यकता प्रतीत होगी। उसके सम्बन्ध मे जो कुछ कहा जा चुका है वही पर्याप्त नही है।

(घ) काव्य-तत्त्व सम्बन्धी चन्द के विचार

वैयाकरण शब्द को ब्रह्म मानते हैं। शब्द और अर्थ की संपृक्तता ही काव्य का मुख्य आधार है। चन्द के समय 'दण्डिन पद लालित्यम्'[32] जिस प्रकार प्रचलित था उसी प्रकार 'वाणोच्छिष्ट जगत्सर्वम्'[33] भी। चन्द दोनों से परिचित थे, इसी कारण उन्होंने अपने शब्दों को जब 'उचिष्ट' कहा तब उनकी पत्नी ने कहा कि ब्रह्म-सदृश शब्द 'उचिष्ट' कैसे हो सकता है? और चन्द ने इसे मान लिया कि उसी शब्द-ब्रह्म से वे काव्य-रचना करेंगे।[34] चन्द ने इस 'उचिष्ट' का प्रयोग पूर्व कवियों से बची हुई उक्तियों के लिए भी किया है।[35] व्याकरण और दर्शन की भांति काव्य में शब्द नीरस नहीं रह जाते। कवि के शब्द का वर्ण-वर्ण सरस होता है।[36]

चन्द के व्यक्तित्व को स्पष्ट करते हुए यह दिखाया गया है कि वह ६ भाषाओं का ज्ञाता, नव रस काव्य-रचना में निपुण, छन्द-रचना और काव्य-बन्ध में कुशल और त्रिकालदर्शी तथा अदृष्ट वर्णन में समर्थ था।[37] यह एक महाकवि का व्यक्तित्व है और चन्द के गुण ही एक महाकवि के लिए अपेक्षित गुण हैं।

काव्य-हेतुओं में चन्द को प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास सभी स्वीकार्य हैं। सहजा और आहार्या के अतिरिक्त औपदेशिकी को भी वह आवश्यक मानता है, क्योंकि उसके 'वरदायी' होने का अनेक स्थलों पर उल्लेख किया गया है। महाकवि को तत्त्व-वादी, स्पष्टवक्ता और निर्भीक भी होना चाहिए। उनकी कवित्व-शक्ति अप्रतिहत हो और वह तीनों कालों तथा उदय-अस्त तक तीनों लोकों के वर्ण्य-विषयों को मानस-प्रत्यक्ष करने में समर्थ हो, तभी एक कवि, कवीन्द्र या महाकवि बन सकता है। उसमें सूक्तियों और अन्योक्तियों-सहित रसधार बहाने की क्षमता भी होनी चाहिए।

कवि की व्युत्पत्ति के लिए आवश्यक है कि वह धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र के साथ व्याकरण, कथा, नाटक, छंद-विधान, अलंकार-बंध और अमरकोश आदि का भी अध्ययन करे। उसे कोक-कला सहित चौरासी कलाओं से भी परिचित होना चाहिए।[38] पूर्ववर्ती कवियों के काव्यों का अवेक्षण भी चन्द ने आवश्यक माना है और स्वयं व्यास, शुकदेव, हर्ष, कालिदास और दण्डमाली (दण्डी) का उल्लेख किया है। लोक-व्यवहार का सूक्ष्म निरीक्षण भी कवि के लिए आवश्यक है। चन्द का दौत्य-

३२ सत दण्डमाली सु लालिय कवित्त । १ समयो।
३३ उचिष्ट चंद छंदह वयन। ..क्यों उचिष्ट कवियन कहै।१।
३४ तिहि सवद ब्रह्म रचना करौं। स० १।
३५ तिनै की उचिष्टी कवी चन्द भक्खी।१।
   सन कहिते जो उब्बरी। सोव कहौं करि छंद।१।
३६ जिनि सरस सह कवि। अन्तिम युद्ध, छ० ११७। सरसो ब्रम्म रसान। स०१।
३७ पृथ्वीराज रासो ६१।५५४-५५७
३८ सीषी कला दस अट्ठ च्यारि। पृ० रा० १।६७-६८

कार्य उनकी व्यवहार-निपुणता का परिचायक है। उनकी लोकोक्तिया भी इस निपुणता की पुष्टि करती हैं।[३९]

गुरु के समीप अभ्यास भी अपेक्षित है और चन्द ने अपने काव्यगुरु की प्रसन्नता का सकेत किया है।[४०]

चन्द को पृथ्वीराज रासो के सृजन की प्रेरणा अपनी पत्नी से मिली, किन्तु इससे भी अधिक प्रेरणा उन्हे गोरी से पराजित दिल्ली की दुर्दशा, वहा के लोगो की आखो से बहते आसू, अपने आश्रयदाता एव अन्तरग पृथ्वीराज के विरह, मित्र और अनेक युद्धो के साथी सामन्तो की स्मृति से मिली। करुणा के इस आवेग मे ही कवि ने ढाई मास की एकान्त-साधना द्वारा इस वृहत् काव्य का सम्पादन-सृजन किया।[४१]

स्वामि-धर्म की प्रतिष्ठा[४२] और कवि द्वारा उसका निर्वाह ही पृथ्वीराज रासो का मुख्य-प्रयोजन है। चन्द ने पृथ्वीराज रासो को एक पौराणिक काव्य का रूप इसीलिए दिया कि वह उस सामन्ती-युग मे एक जीवनादर्श की प्रतिष्ठा करना चाहता था। जीवन की क्षणभगुरता का ज्ञान, स्वामि-धर्म का पालन और युद्ध मे वीर-गति प्राप्त कर अमरत्व या अक्षय कीर्ति की उपलब्धि ही उस जीवन की मुख्य दिशा है। कवि ने अपनी स्त्री से स्वय भी यश प्राप्त करने की बात कही है। यश ही कवि की दृष्टि मे अमरता का प्रतीक है। जो यशस्वी है, वही अमर है। यश की स्थिरता किसी काव्य-नायक या उसके वीर पात्रो की वीरतापूर्ण गाथा और महान् गुणो के काव्य-निबद्ध होने पर निर्भर करती है।[४३] कवि का एक प्रयोजन अपने छन्दो द्वारा वीरो की अमर-कीर्ति को प्रतिष्ठित रखना भी था।[४४]

अपने जीवन-काल मे कवि को प्रचुर सम्पत्ति और सम्मान प्राप्त हुआ था। वह असाधारण कवि था, अत असाधारण याचक भी। उसका उद्देश्य धनार्जन नही था। पृथ्वीराज रासो को उसने 'राजनीति-बोहित' अवश्य कहा। अनेक प्रकार के लोक व्यवहार की शिक्षा भी उससे मिलती है, पर ये तो गौण प्रयोजन है। जिस पृथ्वीराज रासो नामक पुराण-कुरान की उसने विशिष्ट लक्ष्य की पूर्ति के लिए रचना की उसके पठन-श्रवण का फल भी उसने ज्ञान और मुक्ति को ही माना।[४५] यही अन्य पुराणो का भी पाठ-फल है।

३९ दामि चरावति कग्ग। पृ० रा० ५७।८५, मानो उरग छछोदरी डारै वनै न पाय। ५८।४८ जल मेंह ज्यो गति जोक। ५८।१६१ तथा अन्य ५७।६०, ६१।१०१ आदि।

४० गुरु प्रसाद सरसै प्रसन। पृ० रा० १।५

४१ पृ० रा० ६७।४०-५०

४२ वही ६१।९५३, ५८-५९

४३ वही, ६७।२२

४४ वही, ६६।३८३, ९१, ३१।९, १०, १२, ६६।६९७, १९।२४८

४५ सुगति समप्पन ग्यान, पृ० रा० १।८५

(ड) छन्द-बन्ध की दृष्टि

संस्कृत महाकाव्यों की परंपरा—एक सर्ग एक छन्द के नियम को तो अपभ्रंश-काव्यों ने ही तोड दिया था। अपभ्रंश-काव्य घत्ते से संयुक्त कडवकों मे निबद्ध होते थे। छन्द-सम्बन्धी एकरसता को अस्वीकृत करने के कारण छन्द-वैविध्य उनकी विशेषता बन गई थी। 'पउमचरिउ' जैसे वृहत्प्रबन्धों मे छन्दों की विविधता को देखकर छन्द-प्रयोग की कुशलता ने कवि के लिए अनिवार्य गुण के रूप मे मान्यता प्राप्त कर ली। कवि चन्द ने भी छन्द-बन्ध को काव्य का अनिवार्य तत्त्व माना है।[४६] चन्द ने अपने को पिंगल-नाग के लिए गरुड कहा।[४७] चन्द के समय छन्द-विद्या की परीक्षा कवियों के लिए अनिवार्य थी और अनेक यंत्र-तंत्रों के साथ चंद ने मर्कटी का भी उल्लेख किया है, जिसके द्वारा छन्द-परीक्षा की जाती थी।[४८] वेदोक्त छन्द और छन्द-विधान का भी इन्होंने उल्लेख किया है।[४९]

पृथ्वीराज रासो कवित्त, साटक, गाथा और दोहे का तो कवि ने आरम्भ में नामोल्लेख किया है, किन्तु अनेक ऐसे छन्द भी हैं जिनके नाम के साथ-साथ उनके लक्षण भी उपलब्ध होते है। ऐसे छन्दों मे मालती (६६।२७२), दुमिला (२४।७३), उघोर (१८।४१), मालती (प्रथम से भिन्न ३३।७५), माधुर्य (६६।४३) भुजंग-प्रयात (१।५) नाराच (२१।५०), भ्रमरावलि (१२।३६०) कंठशोभा (२७।३६) तथा कंठभूषण (५२।१७६) उल्लेखनीय हैं।[५०] श्री विपिन बिहारी त्रिवेदी का मत है कि छन्दों का लक्षण क्षेपककारों की देन है तथा उसने छन्द के नामों का उल्लेख नही किया।[५१] प्रबन्ध-काव्यों मे छन्दों का लक्षण अनुपयुक्त अवश्य लगता हैं, परन्तु संदेश-रासक मे छन्दों के नाम-निर्देश की पद्धति मिलती है। छन्द-लक्षण निकाल देने पर भी पृथ्वीराज रासो के कथा-प्रवाह मे कोई बाधा नही पडती, परन्तु यही स्थिति छन्दों के नामोल्लेख के सम्बन्ध मे नही है—

> प्रथम भुजंगी सुधारी ग्रहनं, जिनें नाम एकं अनेकं कहनं। १।५।
>
> परट्ठि सेन सज्जि वीर, वज्जए निसानयं, नाराच छंद चंद जपि
>
> पिंगल प्रमानयं। २१।५०

४६ छन्द-प्रबन्ध कवित्त यति, साटक गाह दुहत्थ।
लहु गुरु मंडित खंडियहि, पिंगल अमर भरत्थ। स० १।

४७ वित्त कवित्त जु छंद लौं पग-सम पिंगल नाग। पृ० रा० ६१।५५६

४८ मोहनसिंह द्वारा संपादित—पृ० रा० ६१।२०७

४९ पृ० रा० १।६५, ६७ तथा १।२४, २६

५० उदाहरणार्थ—कंठय भूषन छंद प्रकासय, बारह अच्छरि पिंगल भाषय।
अट्ठय सगुन मत्त प्रमानय, कंठय भूषन छंद वषानय॥ ५२।१७६॥

५१ चन्द वरदायी और उनका काव्य पृ०—२५४

इन पदो मे प्रयुक्त भुजगी और नाराच छदो का नामोल्लेख प्रस्तुत विषय के वर्णन के साथ हुआ है; इसे क्षेपक नही माना जा सकता। इसके अतिरिक्त चद ने इन लक्षणो को जान-बूझकर प्रस्तुत किया है। जहा-जहा जिन छन्दो का चद की दृष्टि मे नूतन प्रयोग हुआ है, वहा ही उन्होने ये लक्षण भी दे दिये है। उदाहरण के लिए चन्द ने दो प्रकार के मालती और दो प्रकार के भ्रमरावली छन्दो का प्रयोग किया है। एक प्रकार के लक्षण पिंगल ने नही दिये है, चन्द ने दोनो की भिन्नताए लक्षणो द्वारा स्पष्ट कर दी हैं। उघोर का लक्षण पिंगल-ग्रन्थो मे नही है, चन्द ने प्रयोग के साथ ही लक्षण भी निर्दिष्ट कर दिया है। लघु-गुरु के भिन्न-भिन्न प्रयोगो द्वारा उन्होने 'खडियहि पिंगल' को सार्थक किया है और नूतन छन्दो की सृष्टि की है। चन्द ने स्वय चेतावनी दी है कि उनके छन्द मे इन नूतन प्रयोगो के कारण कोई त्रुटि न मानी जाय, न लघु गुरु को कम-अधिक पढा जाय।[५२] चन्द-प्रयुक्त मालती हरिगीतिका है और भ्रमरा-वली, तोटक तथा मोतियदाम का मिश्रित प्रयोग। उघोर-छन्द प्रभाकर के अनुसार चौदह् मात्रा-चरण का सुलक्षण छन्द है।

विपिन विहारी त्रिवेदी के मतानुसार पृथ्वीराज रासो मे ६८ प्रकार के छन्दो का प्रयोग हुआ है।[५३] इनके अतिरिक्त उन्होने चार प्रकार के छन्दो का उल्लेख फुटकर मे किया है। ये हैं—चाल, जुतिचाल, वार्ता और वचनिका। इन चारो को ही उन्होने गद्य माना है। वार्ता और वचनिका का प्रयोग राजस्थानी मे किया गया है। ये दोनो ही गद्य-शैलिया है, पृथक् पृथक्। वार्ता का गद्य बोल-चाल का गद्य है और वचनिका का गद्य सानुप्रास एव तुकयुक्त तथा चम्पू काव्य की गद्य-शैली के अनुरूप है। चाल और जुतिचाल का प्रयोग नही मिलता।

चन्द की प्रतिज्ञा के अनुसार पृथ्वीराज रासो तो छद-प्रबन्ध है, फिर यह गद्य कहा से आ गया? इसका उत्तर चन्द के छन्द-प्रयोग की प्रवृत्ति मे निहित है। चन्द कई छन्दो के पृथक्-पृथक् चरणो को मिलाकर, मिश्रित एक नये छन्द का स्वरूप खडा कर देते है। अलग-अलग चरणो के एकत्र प्रयोग के कारण ये गद्य का स्वरूप प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु इन चरणो के दो-दो तुक मिलते है अत इनमे वृत्तगन्धिता उत्पन्न हो जाती हैं, और ये वृत्तगन्धि गद्य-शैली के रूप मे स्वीकृत हो गए है। चन्द की वार्ता और वचनिका के रूप मे अन्तर नही है —

वार्ता—

(१) अवहु ओ चहु आन गाजी, पलक तो पग राजी।
मेवास भार वाजी, पर्वतो सरन साजी।
मै मीन भूप त्रपेव, फल पत्र वद भषेव॥ १३।१० (कमघ ३६।२३५-३७ से तुलनीय)

५२ पृ० रा० १।२४, २६
५३ चद वरदायी और उनका काव्य, पृ० २१३-२८६ तक

(२) जब लगि मिष्टान पान सरसे। तब लगि अंबर दिनयर सरसे ॥

६१।८२३ के बाद।

प्रथम उदाहरण में प्रथम पंक्ति भिन्न प्रतीत होती है (१४+११ मात्रा) जबकि बाद की दो पंक्तियां (१२+१२) एक ही छन्द की हैं। द्वितीय उदाहरण में दोनों चरण समान मात्राओं (१६.१६) के हैं, परन्तु दोनों चरणों के छठे अक्षर में तथा आठवें अक्षर की गुरु-लघु भिन्नता से वे एक ही जाति के दो छन्दों के चरण बन गए हैं।

चालि-दिपि चावड, पिजि चावड, लोह चावट, चावड ॥

जुतिचालि—आले जसोदा मनिलाले, रस राले मुराले।
जसोननि नदौ गोपवदौ, कदौ गुट्टिगी बालचदौ।
दीनवदौ न वदौ, नमो वासुदेव नदौ ॥ २।५६६

चन्द ने इन दोनों के अतिरिक्त हनूफाल, बाधा, विअप्परी, मुरिल्ल, अर्ध-मालिची, उधोर, विज्जुमाला, दहमाली, कमध, तारक, कलाकल या मधुराकल, कंठ सोभा तथा कंठभूषन नामक नये छन्दों का प्रयोग किया है।

दिल्ली दरबार के प्राय सभी कवि दक्षिण भारतीय भाषाओं में प्रयुक्त छन्दों से परिचित थे। भाषा ग्रहण की अपेक्षा छन्द-बन्ध का ग्रहण सरल होता है। कीर्तिलता के काव्य-सकेतों में यह दिखाया जा चुका है कि विद्यापति भी ऐसे प्रयोगों से परिचित थे। सन् ११२९ ई० में विद्यमान् चालुक्यवंशी राजा सोमेश्वर तृतीय की कृति 'अभिलषितार्थ चिन्तामणि' में कन्नड, तेलुगु, मराठी और हिन्दी कविता के उदाहरण एक साथ मिलते हैं।[५४]

जहां तक चन्द के छन्द-प्रयोग का प्रश्न है, वे कन्नड के सुप्रसिद्ध छन्द शास्त्री नागवर्मा (समय १०४० ई० के लगभग) की कृति 'छन्दोम्बुधि' से परिचित थे। चन्द ने छन्दों के प्रसग में कई स्थलों पर पिंगल के साथ नाग का उल्लेख किया है।[५५] नागवरम् ने छन्दों के चार ब्रह्मगण, आठ विष्णुगण और सोलह रुद्रगण माने हैं। ये अट्ठाइस गण मिश्रगण हैं, जो न तो वर्णगण हैं, न प्राकृत पैंगलम् के त, थ, द, ध, न आदि मात्रा-गण। इन मिश्रगणों के प्रयोग में अनेक प्रकार के मात्रिक छन्दों का निर्माण होता है। इस प्रकार के मिश्र छन्दों के चरणों में मात्रा-भेद भी ग्राह्य है।[५६] विपिन बिहारी

५४ हिन्दी को मराठी सन्तों की देन—पृ० ५५

५५ पद सम पिंगल नाग। ६१।५६६, प्रति पग कही पन्ना जोर १८।४१, नाग पग मिलि-चित हरै। ३४।४५ नाग वाग ममोहरे। ६१।४३ आदि।

५६ चरणों में मात्रा-भेद-

क्षेत्रभूमि पचगोणिरपि यत गोणिराशीन्महाफला।
तत्र पाति पार्थिवे क्ष्नवीर्ये सूनौ कृतात्मनि ॥ रावणार्जुनीय ५।२५ ॥
इसके रचयिता भट्ट भीम न इस प्रकार के सत्तर छन्द लिखे हैं.

त्रिवेदी द्वारा चन्द के छद-प्रयोग के सम्बन्ध मे उठाई गई सभी शकाओ का समाधान छदोम्बुधिसे प्राप्त हो जाता है।

पृथ्वीराज रासो के छन्द-प्रयोग मे कोई क्रम नही दिखाई पडता, कवि की रुचि और वर्ण्य-विषय की अनुकूलता की दृष्टि से परिवर्तन होता चलता है। कवित्त, साटक, गाहा और दोहा का विशेष प्रयोग किया गया है। मुख्य वर्णन कवित्त और दोहो मे है। ऋतु, प्रकृति एव कोमल वर्णनो मे साटक, काव्य तथा उपदेशादि के लिए गाहा का प्रयोग प्राय अधिक हुआ है।

निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि चन्द की दृष्टि मे एक महाकवि के लिए आवश्यक है कि वह छन्द-बन्ध के प्रयोगो मे अत्यन्त निपुण हो, गुरु-लघु के प्रयोग मे एक मात्रा की भी त्रुटि न करे। दक्षिण से उत्तर तक प्रचलित सभी छन्दो के प्रयोग को सफलतापूर्वक कर सके, मिश्रित या नूतन छन्दो के निर्माण मे कुशल हो तथा वर्ण्य-विषय के अनुरूप छन्दो मे परिवर्तन करता चले। रूढिया उसके नूतन प्रयोग मे बन्धन नही बन सकती।

(च) उक्ति-युक्ति-संकेत

चन्द ने पृथ्वीराज रासो मे विशाल उक्ति-धर्म की चर्चा तो की ही है, अनेक स्थलो पर 'उगति-जुगति' का एक साथ उल्लेख किया है।[५७] इनमे युक्ति का प्रयोग तो सामान्य अर्थ युक्ति के रूप मे ही किया है, चाहे वह युक्ति योग, राजनीति, छद-बध, अलकार-बन्ध अथवा सुन्दर उक्ति-कथन की युक्ति हो[५८] परन्तु चन्द द्वारा सकेतित यह उक्ति, कही लोकोक्ति, कही प्रौढोक्ति, कही श्लेष-वक्रोक्ति और कही पूर्ववर्ती कवियो की उक्ति के लिए प्रयुक्त हुई है। चन्द की यह उक्ति, सामान्य कथन से भिन्न चमत्कारपूर्ण उक्ति के लिए प्रयुक्त हुई है। वह 'उक्तिन वयन विनोद' से स्पष्ट कर देता है कि श्रोताओ का मनोविनोद ही इनका लक्ष्य है।[५९] चन्द ने उक्तियो को रसमय माना है।[६०]

कवि की दृष्टि मे युक्ति, युक्त और अयुक्त अथवा उचित और अनुचित के विचार का साधन मात्र है। तर्क, उतर्क (उत्तर्क, उत्कृष्ट तर्क) और वितर्क इस उक्ति के पोषक हैं, इनसे उक्ति मे वैचित्र्य आता है और काव्य मे सरसता की वृद्धि होती है।[६१]

५७ उक्ति धर्म विशालस्य ।१।२५ तथा १।२, १।२६ आदि।
५८ पृ० रा० १४।५६, १८।२१, ६१।६५६, ६६, ८६१, ६७।१६६
५९ उक्तिन वयन विनोद, मोद श्रोतन मन हरनन। पृ० रा० १।२४
६० वही १।२६
६१ वही १।२६

(छ) गूढ़ोक्ति या व्यग्यार्थ

चन्द की दृष्टि मे काव्य का अर्थ न तो ढका हुआ होना चाहिए, न अत्यन्त खुला हुआ—नग्न। अत्यन्त खुला अर्थ होने पर चमत्कार नही रहेगा और गूढ अर्थ होने पर स्वारस्य के ग्रहण मे कठिनाई होगी। जिस प्रकार चतुर स्त्री के वक्ष पर पडे हार की शोभा कुछ खुले और कुछ ढके रहने पर ही होती है, उसी प्रकार अर्थ की दीप्ति भी होनी चाहिए।[६२] स्पष्ट है कि चन्द वाच्यार्थ और गूढ व्यग्यार्थ को प्रश्रय देना नही चाहते।

चन्द की उक्ति-युक्ति कुन्तक की वक्रोक्ति भी नही है, यह केवल वाग्विदग्धता का पर्याय मात्र है। स्वय चन्द के शब्दो मे उक्ति का अर्थ निम्नलिखित छन्द से स्पष्ट हो जाता है—

> स्रवननि लगन कटाच्छ जनु पवन दीपक अदोलित।
> मुसकनि विकसिन फूल मधुर वरमनि मुप वोलति।
> इठलनि अलसनि लसनि, सुरनि सागर उद्धारनि।
> रति रंभा गिरिजादि पिषि ता तन मन हारनि।
> तिहि अग-अग छवि उक्ति वहु, छद-बध चदहु कहिय।
> जीरन जुग महि अजर इह, वलू एक कीरनि रहिय॥
>
> पृ० रा० १४।५६॥

कीर्ति का यह सौंदर्य-वर्णन भी कवि की दृष्टि मे उक्ति है। समुद्र से निकले चौदह रत्नो—रभा, लक्ष्मी, अमृत आदि का सयोगिता के अगो मे परिगणन कवि की जिह्वा रूपी समुद्र की देन है।[६३] यह चमत्कारिक सौंदर्य-वर्णन है।

चन्द ने वक्रोक्ति का प्रयोग किया है, पर श्लेष-वक्रोक्ति के रूप मे ही। 'क्यो दूवरो वरद्द' मे 'वरद्द' का बैल और वरदायी दोनो ही अर्थ है।

चन्द ने उक्ति-प्रयोग मे लोकोक्तियो का भी समावेश कर लिया है। जम कग्गद चटि हथ्थ (६१।१०१), काग जाइ मुत्तिय चरै हरति हस का होइ(५७।६०), जव फुट्टै आकास कौन थिगरी सूरथ्थै (६६।७०२) तथा 'दूध दझौ ज्यौं पियै फूकि-फू कि कै छच्छ (६६।६५७) जैसी लोक-प्रचलित सूक्तिया भी प्रयुक्त हुई है और जव कछु देषि दिपाइये, रासभ ओपम गाइये (६४।११७) तथा वन्दर जेम नचाइहीं (६४। १२०) जैसी मुहावरेदार उक्तिया भी। नलकार प्रयोगो मे भी ये उक्तिया दिखाई पडती है, जैसे, जनो कि नाग लद्दी मनी (६४।१८६)।

६२ अति ढँक्यो न उघार।१२४ चतुर स्त्री हारय जेम। १।३३
६३ अन्तिम युद्ध, ३०

चन्द ने सस्कृत की सूक्तियो का भी खूब प्रयोग किया है—

(१) कौन मरै जीयै कवन, कौन कहा विरमाय।
प्रानी वपु तरु पषिया, तरु तजि अनतरु जाय। ६४।३१४।
एक वृक्षे यथा रात्रौ नानापक्षि समागम।
प्रातर्दशदिश यान्ति तद्वद् भूत समागम।
चाणक्य राजनीति शास्त्रम् ६।६६।

(२) ज्यौ जीरन परधान तजि, नर जन धरत नवीन।
यों प्रानी तजि कायपुर और धरै वपु पीन। ६४।३१५
वासासि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि अन्यानि सयानि नवानि देही। गीता २।२२

निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि चन्द न ध्वनिवादी है न वक्रोक्तिवादी, उनकी उक्ति-युक्ति प्रत्येक ऐसे कथन या वर्णन के लिए प्रयुक्त हुई है जो चमत्कारपूर्ण हो, तर्क-वितर्क से सम्पन्न लोक और शास्त्र से स्वीकृत हो, काव्य-सौंदर्य और रस की पोषक तथा अर्थ को गौरव प्रदान करने वाली हो तथा अवसरानुकूल औचित्ययुक्त होकर वाग्चातुर्य को अभिव्यक्ति प्रदान करती हो।

(ज) अलंकार-बन्ध के संकेत

चद ने छद-बध के समान ही अलकार-बध को भी महत्व दिया है, किन्तु साधन रूप मे ही।[६४] अलकार का चमत्कारपूर्ण उक्ति और काव्याडम्वर से घनिष्ठ सम्वन्ध है। चद तो अपने वाह्य-जीवन मे भी आडम्वर को अधिक महत्व देते थे,[६५] फिर काव्य ही उससे क्यो वचित रहता ? अलकारो मे चद ने उपमा, रूपक और पुनरुक्ति का ही नामोल्लेख किया है।[६६] उपमा का प्रयोग कही सादृश्य और कही उपमान के अर्थ मे हुआ है।[६७]

पूर्व कवियो द्वारा प्रयुक्त एव सर्वज्ञात उपमानो का प्रयोग करते हुए चद उसे छिपाते नही है—

सुकवि चद वरदाय कहिय उप्पम श्रुति चालह।
मनो मयक मन मध्य चद पूज्यौ मुत्ताहय। ६२।८८॥

'श्रुति चालह' का अर्थ परपरागत ही है। रूपक को चद सर्वाधिक महत्व देते है और 'सहस सत' रूपको का समावेश अपने काव्य मे वतलाते हैं। अपने पूर्ववर्ती

६४ अविधान दरस अलकार वध, । पृ० रा० १।६७
३५ आडवर विन भट्ट कवि पुनगार मेट धुति। ६१।५६। तथा ६१।४८७
६६ पुनरोक्त १।२६, सहस सत रूपक सरस—६७।५० वरने नख की उपमा कविता। २१।८६
६७ उपमा—१४।५१-५२, २२।७७, २१।१५, ६२।१०८, १२४, ६६।२१३, ७।४३

महाकवि स्वयभू और परवर्ती तुलसीदास की भाति चन्द भी प्रबन्ध-काव्य को सरोवर की भांति मानकर साग-रूपक द्वारा स्पष्ट करते हैं कि 'विश्वकर्मा के सदृश्य मैंने भी काव्य के नव रस एव सरस रस से पूर्ण काव्य-सरोवर का निर्माण किया है। कविता के चरण नींव है, लघु-गुर के नियमो से अलकृत सुन्दर वर्ण ही पत्थर हैं, सगीत के स्वर, गौरवपूर्ण उक्ति, रस और युक्तिया घाट की सीढिया है। पृथ्वी मेधा-मडित है; यशस्वी शब्द, घने तर्क-वितर्क, यति आदि विविध चित्र-रगो से वह सज्जित है। शैवाल से कुछ कुछ ढके जल सदृश अर्थाभिव्यक्तिया हैं।[६८]

चद अलकारवादी नहीं हैं, अत उनके इस विशालकाय काव्य पृथ्वीराज रासो मे अलकार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति छद-प्रदर्शन की प्रवृत्ति का शताश भी नही है। स्वाभाविक रूप से आने वाले अलकारो मे सभी प्रकार के शब्दालकार और सादृश्य-मूलक अर्थालकार ही मुख्य हैं। भाषा पर सशक्त अधिकार रखने वाले कवि की कविता मे अनुप्रासादि का समावेश स्वयमेव हो जाता है। स्वाभाविक वर्णनो का झुकाव सादृश्य की ही खोज करता है। चन्द ने भी अनुप्रास (२०।४०), पुनरुक्ति प्रकाश (५६।६४) शब्दानुप्रास (४५।६०), यमक (२०।४८) और वक्रोक्ति (६१।५८०) का प्रयोग किया है। अर्थालकारों मे उपमा (५।५६), प्रतीप (३६।२०१), स्मरण (६६।१७०२), सदेह (४६।३५), अतिशयोक्ति (६१।१०२८) दृष्टान्त (६१।१३०६) तथा अन्योन्य, स्वभावोक्ति, अर्थान्तरन्यास आदि का अनेक स्थलो पर प्रयोग किया है।

चन्द के प्रिय अलकार उत्प्रेक्षा और रूपक ही है। उत्प्रेक्षाओ मे अनेक अप्रसिद्ध उपमानो का प्रयोग किया गया है। जैसे मणिजटित शीशफूल के लिए अर्ध-रात्रि मे उदित गुरु (२१।७०), मणिबन्ध के लिए कालीनाग पर कृष्ण-नृत्य (६६।१६३) कपोलो की चमक के लिए सूर्य के मध्य चन्द्रमा (२२।७७) गले की त्रिवली के लिए कृष्ण गृहीत पाचजन्य (२१।७६) खोपडी फटने के लिए ग्वालिन के मटके का फूटना (५।२५२) आदि। कई उत्प्रेक्षाए अत्यन्त अनोखी हैं—

(१) न्हे न ग्गा सो बत्त वग मानो दु स ट्पान। ६।१३८

(२) पय मटिहि अमु घरे उलटा, ननो त्रिटय ढेपि च्लै कुलटा। २७।३५

उत्प्रेक्षाओ मे लोक-दृश्यो को उपमान के रूप मे प्रस्तुत करने मे वे निपुणता दिखाते हैं, जैसे शत्रु का पाव पकडकर पटकने के लिए शिला-पट पर धोबी के वस्त्र पटकने को प्रस्तुत किया गया है।६१।२२६७॥

उत्प्रेक्षा के बाद साग और निरग रूपकों का प्रचुर प्रयोग हुआ है, जैसे—

रूप समुद्र तरग दुति, मछि नरकां नलि आन।
गुन-मुक्ताहल आपि दे बस किन्नो चहुआन ॥ ३२।१८६ ॥

६८ पृ० रा० १।२०-२३

चन्द अलकारो को अपनी 'उगति-जुगति' का पोषक मानते थे, अत इसी उक्ति-युक्ति के लिए वे जीवन की अनुभूतियो एव लोक-निरीक्षण से सकलित नये नये अप्रसिद्ध उपमानो को भी समेटने एव प्रयोग करने से नही चूके।

(झ) रस-संकेत

चन्द ने स्वय अपने काव्य को सरस कहा है। छन्द-बन्ध, उक्ति-युक्ति एव अलकार-बन्ध इसी सरसता को मूर्त रूप देने वाले तत्त्व है। उनके बहु-प्रयुक्त सत्त-सहस रूपक भी नख से शिख तक सरस है। नव रसो से सम्पन्न होने के कारण ही पृथ्वीराज रासो अमृत के समान है। इसी मिठास के लिए उन्होने इस रासो की रचना की है। इस सरस काव्य पर खल जनो की हसी कुत्ते के भौंकने के समान है।[६६] उन्होने नव रसो का अनेक स्थानो पर नामोल्लेख कर अपने काव्य को इनसे सम्पन्न कहा है।[७०] छन्द-बन्ध से भी अधिक रुचि इन्होंने रस-चमत्कार के प्रदर्शन मे ली है। यद्यपि यथा-वसर इन्होने अलग-अलग सभी रसो का प्रयोग किया है किन्तु वीर और शृ गार के प्रयोग के अवसर पर इन्होंने नवो रसो को एक साथ प्रस्तुत कर दिया है,[७१] इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वीर और शृगार ही इनकी दृष्टि मे प्रमुख रस हैं और अन्य रस इनके सहायक हैं।

चन्द ने छन्दानुरोध से शृगार को विलास रस (३३।८१) दरसन रस (१।२, १।७४८), वीर को ताम रस (६१।१७३५) तथा अभिसार-उत्साह को अभिसार-रस (अन्तिम युद्ध ११७) आदि भी कह दिया है।

(ञ) रस-प्रयोग

चन्द के रस-प्रयोग मे पूर्णता है। यहा इनके वीर और शृगार का ही विश्लेषण किया जा सकता है—

१ वीर रस

हयगय सजे भर निसान बज्जि दू मर।
न फेरि वीर बज्जई, मृदग झल्लरी नई। ७।३५
सुनन्न हंस रज्जई, तनीस राग सज्जई।
सुमेरि मु कय घन, अवन्न फूटि झर्झन। ७।३६
उपाह मध्य ते चल, सगुन्न बढि जे मल।
ससूर सूर य कल, दिन, सु अष्टमी चल। ७।५४ आदि।

६६ सरस काव्य रचना रचौं, खलजन सुनि न हसत।
जैसे सिंधुर देखि मग, स्वान सुभाव भुकत॥ १।१७

७० पृ० रा० ६७।५५६, ६२।१४३, १२।३६०, २५।३८१, ६१।२३५, १४।६२ आदि।

७१ वही, ६१।१०४२,४३१, १२।३६०,२५।५०१,३३।८१ आदि।

यहा शत्रु नाहर राय आलवन, कन्या-विवाह सम्बन्धी उसका अस्वीकृति-पत्र उद्दीपन, सामन्तो का क्रोध और अपने पराक्रम का बखान अनुभाव, गर्व तथा धृति सचारी और आक्रमण का उत्साह स्थायी भाव हैं। यही उत्साह वीर रस मे परिणत हुआ है।

२ शृंगार रस

काव्य-नायक पृथ्वीराज वीर भी हैं और रति प्रेमी भी। चन्द के रति-वर्णनो मे उत्तान-शृगार के चित्र भी मिलते हैं, जो उस युग की सामती विलासिता को स्पष्ट करते हैं। इस दिशा मे चन्द तो पृथ्वीराज को कही कामदेव और कही इन्द्र कहते हैं। शृगार के पोषक रूप-चित्रण (६६।२१६, ६।३०) के अनेक स्थल तो हैं ही, नायिकाओ के अनेक भेदो को भी चन्द ने प्रस्तुत किया है।[७२] उद्दीपन मे ऋतु-वर्णन प्रस्तुत किया गया है।[७३] नख-शिख और मान-विलास के विविध चित्र अनेक स्थलो पर उपलब्ध होते हैं। अलकृत और मनोरम रूप-चित्रण मे चन्द की समता शायद ही कोई कवि कर सके।[७४]

चन्द-प्रयुक्त सयोग शृगार के वर्णन तो अनेक स्थलो पर उपलब्ध हो जाते हैं। वहा ही पूर्व रागजन्य विरह की व्यजना भी हुई है किन्तु शृगार के वियोग पक्ष का मार्मिक चित्रण पृथ्वीराज के रण-प्रयाण के उपरान्त सयोगिता की दशा प्रस्तुत करते हुए किया गया है—

> नृप पयान भामिनि परषि, घटि साहस घटि पक।
> सुक्रथ केलि पियूष पिय जनन करहि सखि केन ॥
> जतन करहि सखि वेक हाय करि जय जय जंपहि।
> इत कष्ट कर मोंडि, थरकि थरहरि जिय कपहि ॥
> इह प्रयान नृप करत, परी मजोगि धरा धपि ॥ ३३।६३३
> सखी करत सत्र जतन, चलत पयान तहा नृप ॥ ६६।६३३ ॥

७२ कामशास्त्रीय भेद—पद्मिनी २५।१२६, हस्तिनी २५।१२७, चित्रिणी २५।१२८ शखिनी २५।१२६

काव्य-शास्त्रीय भेद—स्वाधीन पतिका परकीया ७।३२, ज्ञात यौवना, विश्रब्ध नवोढा, स्वकीया ३६।२३१, अभिसारिका ६१।३२३, स्वकीया मे परकीयादि बोध ६२।७१ आदि।

७३ षड् ऋतु वर्णन वसन्त से आरम्भ ६१।६।७२

७४ नख-शिख और शृगार, १२।२४८-५६, १४।४८-६०, १२७ १६२, १६।४-६, ३२।६-२० ३६।१५४-१६०, १६१-१६४, ४७।६०-७३, ६१।२५१४-२२, ६२।५१ ६४, १०४-१२६, १५३-६६, ६६।२००-२१६ आदि।

यहा आलवन के-अतिरिक्त केक-काकली उद्दीपन, हाथ मलना अनुभाव, शरीर और हृदय-कप सात्विक तथा मूर्छा सचारी आदि का समावेश कर विप्रलम्भ शृगार को भी सागोपाग बनाया गया है। सयोगिता का विरह द्वितीया के चन्द्र की तरह बढता रहा और सयोगावस्था मे प्रिय लगने वाली सभी वस्तुए अप्रिय बन जाती है।[७५] कवि द्वारा प्रस्तुत यह विरह-वर्णन भी उत्तरोत्तर मार्मिक होता गया है।

अन्य रस

इन दो प्रमुख रसो के अतिरिक्त रौद्र रस (६।४५) बीभत्स रस (२३।६१, ३६।६६), भयानक रस(१।५८०,६६।४२६-३२) हास्य (६१।५८०, ५८५), अद्भुत (२४।४५८), करुण रस (४६।२६६, ६३।२) तथा शान्त रस (६४।३१६-३२०) के प्रयोग भी स्थल-स्थल पर उपलब्ध होते है।

(ट) रस-चमत्कार

चन्द ने नव रस-प्रयोगो मे बडी कुशलता का प्रदर्शन किया है। एक ही छन्द मे नव रसो का समावेश उनकी रस-चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति और क्षमता का द्योतक है। यहा केवल दो स्थलो पर वर्णित इस चमत्कार-प्रदर्शन का उदाहरण देखा जा सकता है—

(१) भयौ सुख वीर सु भूप नरिंद, भयो रस कारुन कहत कध।
भयौ अदभूत भयानक अत्त, भयो रस हास उमा कन पत्त।
भयौ रस रुद्र अदम्भूत युद्ध, भयौ तिन मध्य सिंगार विरुद्ध।
भयौ रस सत भई तिन मुत्ति, दिपै जनु पल्लव लालित गत्ति।
टग टग चाह रहे पल हार, उठे तहा हक्कि सुवीर हकार॥ १२।३६०

(२) मान कु अरि शशिवृत्त, नैन शृ गार सु राजै।
वीर रूप सामत, रुद्र प्रथिराज विराजै।
चद अदम्भुत जानि, भए कातर करुनामय।
वीभछ अरिन समूह, सान उप्पनो मरन भय॥
उप्पज्यो हास अपछर अमर, भौ भयान भावी त्रिगत्ति।
कूरभ रव प्रथिराज वर, लरन लोह भिने तरनि॥ २५।५०१

ऊपर के दोनो उदाहरणो मे क्रमश परिस्थिति और पात्र (आश्रय) भेद से[७६] विविध रसो की उपस्थिति व्यक्त की गई है। वीर रस का विरोधी शृगार है, इस

७५ पृ० रा० ६६।६४४-४५ आदि।
७६ तुलनीय तुलसी के 'जाकी रही भावना जैसी' से।

तथ्य से अपना परिचय 'भयौ तिन मध्य सिंगार विरुद्ध' कहकर चन्द ने व्यक्त किया है। केवल वीरता या युद्ध के अवसर पर ही चन्द ने नव रसों को एकत्र नहीं किया है, अपितु सेज-रमण या सुरति-वर्णन के समय भी उन्होंने सभी रसों (३३।८१) को एकत्र कर दिया है। जयचन्द के दरबार में करनाटी के द्वारा पृथ्वीराज को देखते ही घूंघट खींच लेने पर भी चन्द को नव-रस समागम करने का अवसर मिल गया है ६१।७२०॥ रसौचित्य का ध्यान न रखकर वीर में शृंगार और शृंगार में वीर का समावेश चमत्कार-प्रदर्शन की रुचि को ही व्यक्त करता है।

परंपरानुसार प्राय प्रत्येक युद्ध-वर्णन के समय वीर एवं उसके सहायक रौद्र, भयानक और वीभत्स को भी उपस्थित किया गया है। इन रसों के स्थायी भावों के परिपाक का कार्य प्राय· आलंबन, उद्दीपन या अनुभाव से लिया गया है।[७७] एक व्यापार से अनेक भावों की अवतारणा संस्कृत-काव्य-परम्परा में भी चली आ रही है।[७८]

(ठ) अदिठ रस

चंद ने अनेक स्थलो पर नव रस का ही उल्लेख एवं विधान किया है, किन्तु एक स्थल पर उन्होंने दस रस का भी उल्लेख किया है—

भाषा परिछा भाष छह, दस रस दुम्भर भाग।६१।५५६

इस दस के स्थान पर पाठान्तर भी माना जा सकता था, किन्तु ठीक उससे पूर्व चन्द ने यह स्पष्ट कर दिया है कि नव रस तो निश्चित हैं, पर एक और अदिठ रस भी है—

नव रस सुनिहिठ अदिठ रस, भाषा जपि नृपाल।
सदद पत्तकु पत्त लिखि, गुन दरसीं त्रयकाल॥६१।५५८

चन्द के इस रस के संकेत से ऐसा आभास मिलता है कि यह नव रसों से विलक्षण एवं त्रिकालदर्शी वर-प्राप्त कवियों द्वारा ही सृज्य या उत्पाद्य है। चंद भी यह मानते है कि उद्भूत भावों को सुन्दर काव्य रूप में प्रस्तुत किया जाय,[७९] किन्तु अदृश्य-वर्णन के लिए कवि को चुनौती दी जाती है और यह वर्णन दूसरों के आग्रह पर किया जाता है। पृथ्वीराज रासो में तीन स्थलों पर अदृश्य-वर्णन उपलब्ध होता है—

(१) रणथंभोर युद्ध की समाप्ति पर पृथ्वीराज ने स्वप्न में एक स्त्री का आलिंगन किया। चंद ने उस स्वप्न-फल का वर्णन करते हुए बतलाया कि वह स्त्री

७७ विरोधी रस-योग, ७।४३, ६६।८०४, सह रस-प्रयोग, ३८।६२-६७, ६६।८३२-८६६ आदि।

७८ मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्। भागवत ७।४३।१०

७९ पृ० रा०, मो० ६१।१५५

पृथ्वीराज की भावी पत्नी हसावती है। पृथ्वीराज के आग्रह पर उसने हसावती के रूप, रग, अवस्था आदि का वर्णन किया।[८०]

(२) पृथ्वीराज ने करनाटी वेश्या के कारण अपने वीर मन्त्री कैमास को गुप्त रूप से मार कर गाड दिया। चन्द को देवी ने यह सूचना दी। दरबार मे कैमास की अनुपस्थिति पर पृथ्वीराज ने चन्द को चुनौती दी कि या तो वह इस अनुपस्थिति का कारण बतलाये या अपनी वरदायी होने का गौरव छोड दे। सरस्वती की कृपा से कैमास-वध की सारी घटना ज्यो की त्यो सुना दी। इसे सुनकर राजा सकुचित तथा सारे सामत सतप्त एव विकल हो गए।[८१]

(३) जयचन्द के दसौधी द्वारा पूछे जाने पर जयचन्द का वर्णन और दरबार मे जयचन्द द्वारा पूछे जाने पर पान लाने वाली दासियो के रूप-रग और नख-शिख का वर्णन।[८२]

इन तीनो स्थलो मे से प्रथम दो, हसावती और दासियो का नखशिख-वर्णन शृगार के अन्तर्गत आ जाता है। जयचन्द के राजसी ठाठ-बाट का वर्णन चन्द के दरबारी वातावरण के परिज्ञान का सूचक है, किन्तु कैमास-वध की घटना का वर्णन महत्त्वपूर्ण अवश्य है। स्वप्न, सरस्वती का दर्शन, उनके द्वारा चन्द को घटना का ज्ञान कराना, दरबार मे पृथ्वीराज की चुनौती, चन्द द्वारा कैमास-वध की घटना का प्रत्यक्षदर्शी की भाति वर्णन तथा पृथ्वीराज और उसके दरबारी सामतो के विविध अनुभाव और उन पर पडे प्रभाव आदि का क्रम, एक मनोवैज्ञानिक और रसात्मक बोध की प्रक्रिया अवश्य सामने लाता है।

यहा कैमास-वध की अदृश्य एव गुप्त घटना आलबन है। पृथ्वीराज द्वारा वर्णन के लिए दी गई चुनौती उद्दीपन है। अदृश्य-वर्णन के सुनने की तत्परता से उद्‌भूत चिन्ह अनुभाव तथा औत्सुक्य, जडता आदि सचारी है। सुनने के उपरान्त पृथ्वीराज का सकोच या लज्जा स्थायी भाव है। पात्र-भेद से चन्द को अदृश्य-वर्णन से गर्व तथा सामतो को अनुताप होता है और पृथ्वीराज के प्रति वितृष्णा जाग्रत होती है।

रस के आश्रय की अस्पष्टता से तथा प्रभाव-भेद के कारण अदिठ रस के आश्रय का निर्णय कठिन है। यदि कवि स्वय है, तब घटना आलबन, वर्णन की चुनौती उद्दीपन, सरस्वती के वर्णन की तत्परता तथा वर्णन की प्रक्रिया मे उद्‌भूत अनुभाव ही अनुभाव, चपलता, आवेग, उग्रता आदि सचारी तथा गर्व स्थायी भाव, बनते

८० वही ३६।८६-६८ ऐन वयन रूपह रवन, इन गुन इन अनमान।
घोस्तन पू जत्त चर, सुनहु तो कहू प्रमान ॥ ३६।८८

८१ पृ० रा० ५७।३६-२४८

८२ वही ६१।५१५-७१२

है। भोज ने उद्धत रस की चर्चा की है, और गर्व को उसका स्थायी भाव कहा है।[८३] यदि पृथ्वीराज को आश्रय माना जाय तो सकोच या लज्जा को स्थायी भाव मानना पडेगा, उस स्थिति मे इसे व्रीडनक रस के समकक्ष रखना पडेगा। गर्व और लज्जा सचारी भावो के अन्तर्गत परिगणित है। कुछ आचार्य यह स्वीकार करते है कि सचारी भाव भी अपनी प्रबलता मे आस्वाद्य बन सकते है और उन्हे रस की सज्ञा दी जा सकती है।[८४]

जयचन्द के कवियो के सामने उनके महाराज का अदृश्य-वर्णन कर चन्द स्वयं गर्वित तथा जयचन्द के कवि लज्जित हुए थे। महल की 'असूर्यं पश्या' स्त्रियो का वर्णन सुनकर जयचन्द ने चन्द से पूछा था कि तुमने उनका वर्णन कैसे किया। चन्द ने उत्तर दिया था—

> कछुक सयन नयनह करिय, कछु किय वयन वषान।
>
> कछु इक लछन विचार किय, अति गंभीर सुजानि॥ ६१।६८६

नयनो के सकेत, शब्द या वाणी-श्रवण तथा स्त्री-लक्षण आदि के द्वारा उत्पन्न गंभीर ज्ञान से कवि चन्द अदृश्य-वर्णन मे समर्थ था। उदय से अस्त तक उसके मानस-चक्षु के समक्ष प्रत्यक्ष हो जाता था। सुलतान गोरी के पहरेदार के पूछने पर चन्द अपना परिचय सर्वज्ञ कवि के रूप मे देता है। यह सर्वज्ञता पूर्ण प्रतिभा जन्य होती है।

चन्द का यह अदिठ रस आलवन और आश्रय की दृष्टि से विचित्र है। इस रस का व्यापक प्रभाव तो पडता है किन्तु इस प्रभाव का अन्य रसो के प्रभाव सदृश साधारणीकरण नही होता। इस अदिठ रस का प्रभाव पात्र या आश्रय-भेद से भिन्न-भिन्न दिखाई पडता है। चन्द गर्वित होता है, पृथ्वीराज सकुचित होते हैं, यदि सामत दुखी और अनुतप्त होते हैं तो कुछ इस अदृश्य वर्णन को सुनकर विस्मित भी होते हैं। प्रभाव-साम्य अन्य रसो का वैशिष्ट्य है किन्तु पात्र-भेद से प्रभाव-वैषम्य अदिठ रस का चमत्कार है। एक वर्णन से नव रसो का प्रभाव उत्पन्न करना, यही इसकी विशेषता है, अत इसमे नव रस सुनिहित भी हैं, पर यह उनसे भिन्न भी है। यह सचारियो को आस्वाद्य-स्थिति पर पहुचाने की चन्द की क्षमता का भी प्रतीक है।

(ड) निष्कर्ष

पृथ्वीराज रासो महाकवि चन्द का एक पौराणिक-महाकाव्य है। इसके नायक पृथ्वीराज अवतारी पुरुष हैं। नायिका सयोगिता भी अनुरूप है। अनेक उपाख्यानो एव ज्ञान-वर्धक सूक्तियो तथा अनेक वर्णनो एव पात्रो द्वारा इसे स्वय कवि द्वारा यह

८३ सरस्वती कठाभरण ५।१६४
८४ शृगार प्रकाश १।११-१२

काव्य-रूप प्रदान किया गया है। कवि का आदर्श राजनीति-परक पौराणिक काव्य महाभारत है। चन्द का कवि-व्यक्तित्व अत्यन्त सबल है। वह त्रिकालदर्शी है, सर्वज्ञ है और उनमें ये गुण वर प्राप्त करने के कारण उद्भूत हुए हैं। वह स्वयं भी सब प्रकार की प्रतिभा से सम्पन्न है, प्राचीन ग्रन्थों का उसने अध्ययन किया है और गुरु के समीप काव्याभ्यास किया है। लोक और शास्त्र के ज्ञान के कारण वह ऋषि नहीं तो ऋषिवत् है। वह अनेक भाषाओं का ज्ञाता है और उसके मानस-चक्षु द्वारा सब कुछ दृष्ट बन जाता है, अतः वह सर्वद्रष्टा है। उसकी वाणी सरस्वती का प्रत्यक्ष रूप है। अपनी वाणी या कविता के प्रभाव से सबको मुग्ध एवं वाक्चातुर्य से किसी को भी मौन रहने पर विवश कर सकता है।

अन्य पुराणों की भांति पृथ्वीराज रासो की रचना करने या पौराणिक काव्य के रूप में उसे ढालने का एक विशिष्ट प्रयोजन दिखाई पड़ता है, और यह स्पष्ट प्रयोजन है—स्वामि-धर्म की प्रतिष्ठा। महाभारत के रचयिता के समान अपने लिए तथा उसके नायक एवं विविध पात्रों के समान पृथ्वीराज और उसके सामन्तों के लिए अमर कीर्ति का अर्जन उसके काव्य का अपरलक्ष्य है।

काव्य-तत्त्वों के सम्बन्ध में उसके विचार स्पष्ट रूप से व्यक्त हुए हैं। शब्द ब्रह्म स्वरूप है, अतः वह कभी उच्छिष्ट नहीं होता। एक महाकवि को तत्त्ववादी, स्पष्टवक्ता और निर्भीक होना चाहिए तथा किसी एक नहीं, अपितु प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के समान्वित साधन से सम्पन्न होना चाहिए। करुणा और संवेदना कवि हृदय को काव्य-सृजन की प्रेरणा देती है। कवि सामान्य नहीं, असाधारण याचक होता है।

छन्द-प्रबन्ध काव्य को आकार देने का प्रमुख साधन है। कवि को प्रचलित छन्दों का ज्ञान तो होना ही चाहिए, नये-नये छन्दों के प्रयोग की क्षमता भी उसमें होनी चाहिए। अन्य भाषाओं एवं क्षेत्रों में प्रचलित छन्दों का प्रयोग नूतन छन्द-सृष्टि के लिए आवश्यक है। नूतन छन्द-प्रयोगों का लक्षण भी दे देना चाहिए, इससे अन्य कवियों को प्रयोग करने में सुविधा होती है। वर्ण्य-विषय के अनुकूल छन्दों में परिवर्तन करते चलना चाहिए, रूढ़ि पालन आवश्यक नहीं है। छन्द-प्रयोग में एक मात्रा की त्रुटि भी अक्षम्य है और पाठक को शुद्ध-शुद्ध पढ़ना चाहिए।

उक्तियों को युक्ति-पूर्वक प्रस्तुत करना चाहिए और तर्क-वितर्क द्वारा निर्धारित उक्तियां रस की वृद्धि करती हैं। उक्ति-वैचित्र्य वाग्विनोद भी है और मनोविनोद भी। अर्थ की दृष्टि से चन्द न वाच्यार्थ को महत्त्व देते हैं न गूढ़ व्यंग्यार्थ को, वह कुछ व्यक्त, कुछ अव्यक्त होना चाहिए। चन्द की उक्ति न कुन्तक की वक्रोक्ति है, न आनन्द वर्धन की ध्वनि-उक्ति। इस उक्ति का क्षेत्र चमत्कारपूर्ण उक्ति से लेकर लोकोक्ति तक विस्तृत है। प्रत्येक ऐसा कथन, जो चमत्कारपूर्ण हो, तर्क-वितर्क से सम्पन्न

हो, लोक और शास्त्र से स्वीकृत हो, औचित्य-युक्त एवं अर्थ को गौरव प्रदान करने वाला हो, वाक्कुशलता व्यक्त करे, काव्य-सौंदर्य को बढ़ाये और रस का पोषण करे· चन्द की युक्तिपूर्वक प्रयुक्त उक्ति है।

अलंकार-बन्ध भी काव्य के लिए आवश्यक है, पर यह स्वाभाविक होना चाहिए, सप्रयास नहीं। लोक-निरीक्षण से प्राप्त उपमान, भले ही नये हों, उनका प्रयोग काव्य में ग्राह्यता-अग्राह्यता का प्रश्न उपस्थित नहीं करता; क्योंकि लोक-स्वीकृत होने के कारण वे सहज-ग्राह्य होते हैं। सौंदर्य-चित्रण में उत्प्रेक्षा और कल्पना की वृद्धि करने में रूपक सर्वाधिक सफल होते हैं।

छन्द-बन्ध, उक्ति-युक्ति और अलंकार-बन्ध साधन हैं और काव्य की सरसता साध्य। चन्द की दृष्टि में यही काव्य की आत्मा है। महाकवि नव रसों के प्रयोग में तो निपुण होता ही है, वह अपनी वाणी एवं वर्णन द्वारा विविध पात्रों पर भिन्न-भिन्न प्रभाव भी डाल सकता है। आश्रय-भेद से प्रभाव-वैषम्य उत्पन्न करने में रस-सिद्ध कवि ही सफल होता है। यह प्रभाव-वैविध्य आस्वादन की परिपक्वता तक पहुंच सकता है और नव रसों को एक साथ विविध आश्रयों में उत्पन्न करने के कारण इन सबसे विलक्षण एक नया रस है। अदृश्य-वर्णन से उत्पन्न होने के कारण इसे 'अदिट-रस' कहा जा सकता है। अब तक विवेचित और व्याख्यात न होने के कारण भी यह अदृष्ट रस है। यह संचारियों को आस्वादन योग्य बनाता है, अतः यह निश्रित रस है।

चन्द ने रीति की चर्चा नहीं की है। उक्ति के औचित्य को तो उन्होंने स्वीकार किया है, पर परस्पर-विरोधी रसों के एक साथ प्रयोग करने के कारण रसौचित्य की स्थिति स्वीकार नहीं की है। केवल आलम्बन, उद्दीपन, आश्रय, अनुभाव, या संचारी द्वारा रस की व्यंजना ध्वनि सिद्धान्त के अनुकूल है, पर इसे रस-ध्वनि के अन्तर्गत ही गिना जाता है। चन्द का रस-ध्वनि से तो विरोध नहीं है, पर गूढोक्ति का विरोध कर ध्वनिवादियों से उन्होंने अपने को पृथक् कर लिया है।

वीर और शृंगार महाकाव्य के प्रमुख रस हैं; अन्य सहायक रस हैं। वह युग ही ऐसा था जहां वाम पार्श्व में वामा और दक्षिण हस्त में तलवार के सहज ही दर्शन हो जाते थे। जिनका जीवन में विरोध नहीं, उनको काव्य में विरोधी क्यों माना जाय ? अत: वीर और शृंगार सहयोगी हैं। भरत के नव रसों में भिन्न रस चमत्कार का प्रदर्शन रस-सिद्ध कवि ही कर सकता है।

२ बीसलदेव रासो का काव्य-रूप

तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध की रचना बीसलदेव रासो का कवि नाल्ह काव्य-रचना-मर्मज्ञ नहीं है। अनेक आलोचक इस कृति को काव्य-कोटि का भी नहीं मानते।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कथनानुसार, 'यह कोई काव्य-ग्रन्थ नही है, केवल गाने के लिए रचा गया था।'[८५] 'इसका विशेष साहित्यिक मूल्य नही है।'[८६] डा० उदयनारायण तिवारी की दृष्टि मे, 'न तो इसमे किसी प्रकार का साहित्यिक सौष्ठव है और न वर्णनो मे किसी प्रकार की रोचकता मिलती है।'[८७] यदि इन विचारो के साथ मोतीलाल मेनारिया का यह कथन और जोड लिया जाय कि 'बीसलदेव रासो गीति-काव्य नही है। यह राजस्थान मे कभी गाया ही नही गया, न आज गाया जाता है और न इसमे गीति-काव्य के कोई लक्षण मिलते हैं' तो आलोचको की समन्वित दृष्टि मे न तो काव्य ठहरता है न गीति-काव्य, फिर भी इसे पृथ्वीराज रासो के बाद एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है और प्रत्येक हिन्दी-साहित्य का इतिहास इसके परिचय के लिए कई पृष्ठ रग डालता है।

अन्त.साक्ष्य के आधार पर बीसलदेव रासो का रचयिता नाल्ह, हिन्दू एव निम्न-कुल[८८] का है। वह न तो भाट या चारण है और न ब्राह्मण। 'भाट', 'बाभण'[८९] का प्रयोग वह बडी उपेक्षा से करता है। वह गणेश और सरस्वती की वदना करते हुए स्वयं अपने आपको 'कवीसर'[९०] (कवीश्वर) कहता है, परन्तु साथ ही सरस्वती से अक्षर जोडने की प्रार्थना भी करता है। केवल इस कथन से ही नही अपितु बीसलदेव रासो के कई पदो मे भी उसकी छन्द-सम्बन्धी ज्ञान-शून्यता का आभास मिलता है। ऐसे 'कवीसर' से किसी उच्चकोटि के काव्य के सृजन की आशा भी नही की जा सकती।

(क) काव्य-प्रयोजन

नाल्ह की इस काव्य-रचना का कोई महान उद्देश्य भी नही है। वह तो लोक-गाथाओं मे भी अति सामान्य प्रयोजन (क) उलगाणा का गुण-वर्णन और (ख) स्त्री का चरित्र प्रस्तुत करने की इच्छा लेकर इसकी रचना करता है।[९१] स्त्री के वचन का एक ही अक्षर विनाश का कारण बन जाता है, जैसे एक ही अक्षर, वाक्य को विकृत कर सकता है। दावाग्नि का जला वृक्ष फिर से अकुरित हो सकता है, परन्तु वाणी का जला मनुष्य फिर हरा नही हो सकता—लोक-व्यवहार ही कवि का प्रयोजन है और यही जानकारी लोक-साहित्य का भी मुख्य आधार प्रस्तुत करती है।

८५ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३०
८६ सत्यजीवन वर्मा सपादित, बीसलदेव रासो, पृ० ४३
८७ वीर काव्य, पृ० ११६
८८ द्रष्टव्य, बीसलदेव रासो—तारकनाथ अग्रवाल सपादित, छन्द ४
८९ वही—छन्द १८
९० वही—छन्द १७
९१ वही—छन्द ५

(ख) काव्य-रूप

नाल्ह ने 'जूठउ कित्त कहइ कुलहीण' कह कर यह संकेत कर दिया है कि उस की यह काव्य-कथा नवीन नहीं है, या तो वह लोक-परंपरा से प्राप्त हुई है अथवा उसके काव्य-नायक की कीर्ति-कथा का वर्णन अन्य कवियों द्वारा किया जा चुका है। कीर्ति तो जूठी हो नहीं सकती, कीर्ति-कथा अवश्य हो सकती है। चंद ने भी 'उक्ति सेस उच्छिष्ट कवि चंद छंद' अवश्य कहा है, पर उन्होंने इस कथन से पूर्व जिन कवियों का नाम गिनाया है उनमें से किसी ने पृथ्वीराज की कीर्ति का वर्णन नहीं किया है, ये सभी उनके पूर्ववर्ती भी हैं अतः वहां 'गिरा सेप वानी कवी कव्वदस' कहकर उक्ति और काव्य-भेद की उच्छिष्टता का ही संकेत किया है। यहां नाल्ह ने 'जूठउ कीरति' द्वारा कीर्ति-कथा की उच्छिष्टता का ही संकेत किया है। संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश में ऐसी कोई रचना उपलब्ध नहीं है जो बीसलदेव रासो में वर्णित कथा का स्रोत सिद्ध हो सके। पति-पत्नी के कलह-वर्णन से यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि इसका कथानक लोक-प्रचलित दन्त-कथा का ही एक रूप है, जो बीसलदेव (नायक) और राजमती (नायिका) पर आरोपित कर लिया गया है। इसकी कथावस्तु के विश्लेषण से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है।

नेणारिया जी के इस कथन को सत्य मान लेने पर भी कि यह राजस्थान में गाया नहीं जाता, यह सिद्ध नहीं हो जाता कि यह विगत सात सौ वर्षों में भी कभी नहीं गाया गया। मौखिक साहित्य में लोक-गीत (विशेषतः प्रबन्धात्मक) गुरु-शिष्य या श्रवण-परम्परा से ही जीवित रहते हैं। इस परम्परा के टूट जाने पर न केवल वे काल के गर्भ में विलीन हो जाते हैं अपितु उनके अस्तित्व की साक्षी देने वाले तथ्य भी शेष नहीं रह जाते। महलों के खंडहर भी एक निश्चित काल-सीमा तक ही अपने अतीत की साक्षी देते रहते हैं। यदि ऐसे प्रबन्धात्मक लोकगीत लिपिबद्ध न हो जावें तो बिखरी ईंटों की भांति उन गीतों की कड़ियां भी धीरे-धीरे अपना अस्तित्व खो बैठती हैं। बीसलदेव रासो भी लिपिबद्ध हो जाने के कारण ही शेष रह गया है, गाने वालों की परम्परा आज भले ही टूट गई हो। बीसलदेव रासो गेय रास है। 'नाल्ह रसायण रस भरी गाइ' द्वारा कवि ने यह संकेत कर दिया है कि उसने इसे गाया है। रास रासउ और रासा की भांति ही 'रसायण' भी यहां रासो के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। पूर्व प्रचलित या किसी कवि द्वारा वर्णित कथा को आश्रित कर लिखे गये अनेक गेय रासको, रास या रासो की परम्परा आज उपलब्ध है। भरतेश्वर बाहुबली रास, चंदन बाला रास, नेमि स्वामी रास, गय सुकुमाल रास आदि रास, पूर्व परम्परा से प्राप्त कथाओं को आश्रित कर ही लिखे गये हैं। इस पृष्ठभूमि में 'जूठउ कीरति' और 'रस भरी गाइ' को देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि बीसलदेव रासो गेय रास है और उसकी कथा नाल्ह को लोक-परम्परा से प्राप्त हुई है। 'दूसरो कडवउ

गणपति गाइ' कहकर भी उसने सकेत कर दिया है कि 'कडवको' मे निवद्ध होने पर भी यह गेय ही है। 'पउमचरिउ' जैसे विशाल-काय प्रबन्ध-काव्य मे भी कडवक-निवद्ध एव गेय, स्थल उपलब्ध हैं जो अपभ्र श मे 'गेय रासो' के सृजन के पथ-प्रदर्शक सिद्ध हुए है।[६२]

(ग) काव्य फल : भरत-वाक्य

'सदेश रासक' के कवि ने 'तेम पढत सुणत यह जयउ अणाइ अणतु' कह कर अपनी कृति के अत मे उसे पाठ्य-रासक घोषित कर दिया है, पर 'वीसलदेव रासो' के कवि ने लोक-गाथाओ मे प्रचलित परम्परा का अनुसरण ही भरतवाक्य मे किया है— 'जिउ राजा राणी मिल्या। त्यउ नाल्ह कहइ मिलिज्यो सहु कोइ', अर्थात् जैसे राजा रानी मिले वैसे सव (विछुडे हुए) मिले। वाणी की कटुता भी विरह या प्रिय-वियोग का कारण वन जाती है यह कथा अपने प्रभाव द्वारा इस कटुता के निराकरण मे सहायता देती है। लोक-कथाओ या कथात्मक लोकगीतो के अन्त मे भी ऐसी भावना प्रकट कर दी जाती है। कथा भले ही राजा रानी की हो पर श्रोता तो सामान्य-जन ही होते है, अत- उनके प्रति शुभकामना की अभिव्यक्ति गायक की सदाशयता तो सिद्ध करती ही है इससे 'भरतवाक्य' की परम्परा का पालन भी हो जाता है।

(घ) छन्द-प्रयोग

छन्द-प्रयोग की दृष्टि से भी वीसलदेव रासो उच्च-साहित्य की कृति सिद्ध नही होती। सारा रासो एक ही प्रकार के छन्द से निर्मित है। प्रत्येक चरण की मात्राओ की सख्या मे साम्य का अभाव[६३] इसे विपम छन्द सिद्ध करता है। वैसे प्रत्येक चरण मे मात्राओ की सख्या ३२ से अधिक नही है। विपम छन्दो मे भी एक नियमितता रहती है। वीसलदेव रासो मे इस नियमितता का कही दर्शन नही होता। वस्तुत नाल्ह छन्द शास्त्र का ज्ञाता था ही नही। लोक-गायक यदि छन्द की मात्राओ का मूल्य नही जानता तो वह जिस विपय वृत्त का सृजन करता है उसे छन्द-शास्त्र के किसी भी विपय छन्द से तुलना के लिए उपस्थित नही किया जा सकता। वह मात्राओ की खीचतान से वृत्त-विपमता को गाते समय दूर कर लेता है। मात्रा-साम्य और यति-वन्धता के अभाव मे भी वीसलदेव रासो इसी प्रकार का गेय है। डा० तारक नाथ

६२ द्रष्टव्य, 'सप्तसिन्धु' मार्च १९६६ के अक मे मेरा लेख—'महाकवि स्वयभू की काव्य-दृष्टि', पृ० ५३

६३ द्रष्टव्य एव तुलनीय—गवर का नन्दन त्रिभुवन सार।१।१॥ सोलह मात्रायें॥
राजा जी उतरया नगर मझारि।१।२५॥अट्ठारह मात्रायें॥
इसके कडवक भी कही ६ चरण के (३१८) कही ८ चरण के (२३४) हैं। कुछ दोहे भी हैं (९८)॥

अग्रवाल ने भी यह माना है कि 'सगीत की दृष्टि मे भी यह लोकगीत के भीतर आता है।'[६४] डॉ० माता प्रसाद गुप्त के कथनानुसार 'सम्पूर्ण रचना गेय है यह स्पष्ट प्रगट है। रचना के प्रारम्भ में ही केदारा राग के अन्तर्गत इसके गीतिबद्ध होने का निर्देश किया गया है। यह रचना नृत्यगीत के साथ प्रस्तुत भी की जाती रही है, इसका प्रमाण हमें इसके एक प्रक्षिप्त छन्द में मिलता है।'[६५] यह काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित वीसलदेव रासो का ग्यारहवा छन्द है।

वीसलदेव रासो केदारा जैसे पक्के राग मे गाया जाता रहा हो अथवा लोक-गीतो के अपने राग मे, उसमे काव्य के अनुकूल छन्द-प्रबन्ध का प्रयोग नही किया गया हैं। गीत छन्द, डिंगल साहित्य मे अपनी विशेषता रखता है। डिंगल रीति-ग्रन्थो मे इसके पचासी प्रकार के लक्षण एव उदाहरण मिलते हैं।[६६]

(ङ) अलकार-प्रयोग

वीसलदेव रासो मे प्रायः वे ही अलकार मिलते हैं जो स्वाभाविक वर्णन-प्रक्रिया मे एक अप्रौढ कवि की रचनाओ मे भी उपलब्ध हो जाते हैं। लोक गीतो मे भी सादृश्यमूलक अलकार ही अधिक मिलते हैं। नाल्ह ने निम्नलिखित अलकारो का प्रयोग किया है—उपमा (छन्द १), वस्तूत्प्रेक्षा (छन्द १२८), अतिशयोक्ति (छन्द-१४२), रूपक (छन्द १४१)। ये अलकार चमत्कार-प्रदर्शन के लिए नही प्रयुक्त हुए हैं।

(च) रस-प्रयोग

नाल्ह के कथनानुसार उनकी वाणी सरस है और उनका यह 'रसायण' रस से भरा है।[६७] 'उलगाणा गुण ब्रनवउ' से स्पष्ट है कि इसमे शृगार, विशेषत शृगार रस की ही अभिव्यजना हुई हैं। यद्यपि अपनी वाणी को इस 'कवीसर' ने सरस और अमृतमय कहा है, पर यह रस, काव्य का नव रस न होकर लोक-जीवन का रस 'प्रेम की सरसता' ही है। वस्तु भी लोक-जीवन से गृहीत है। पिता को कन्या-विवाह की चिन्ता, वर की खोज, ब्राह्मण द्वारा लग्न भेजना, तिलक, बारात की तैयारी, यात्रा, अगवानी, कन्यादान, भाँवरी, दान-दहेज, वधू की विदाई, जन्मान्तर कथा, पत्नी की कटूक्ति, पति का प्रवास, पत्नी की विरह-व्यथा, सदेश, पति का प्रत्यावर्तन, योगी की पत्नी द्वारा सेवा, पत्नी का नैहर जाना पति द्वारा उसको वापस लाना आदि वर्णित

६४ वीसलदेव रासो की भूमिका में डा० अग्रवाल, पृ० ६४
६५ पृथ्वीराज रासउ की भूमिका, पृ० १७६
६६ जैसे 'रघुवर जस प्रकाश' में—वीसलदेव रासो भूमिका, पृ०, ८६।
६७ वीसल० छन्द ४,५, २४५

घटनाएं लोक-जीवन की व्यापक और सामान्य घटनाएं हैं। नायक बीसलदेव और नायिका राजमती राजकुल से सम्बद्ध हैं। सम्भवतः विवाह के उत्सव और दान-दहेज के वर्णन को अतिशयोक्तिपूर्ण बनाने के लिए ही कवि ने इन्हें राजकुल में ले लिया है, अन्यथा ये जन-जीवन के अन्य पात्रों की भांति ही होते तब भी वर्णन के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता। विवाह और संभोग ही लोक-जीवन की अधिक सरस और रमणीय घटनायें हैं। वैसे भी सम्पूर्ण उत्तरी भारत के लोक-जीवन में विवाह के अवसर पर राम और सीता तथा शिव और पार्वती के विवाह के गीत गाये जाते हैं। लोक-गीतों का सर्वाधिक मार्मिक पक्ष प्रिय के प्रवास से उत्पन्न विरह-सम्बन्धी भावों की अभिव्यंजना ही है। 'रस' में बीसलदेव रासो के कवि का उद्देश्य भी यही है।

दाम्पत्य-जीवन के निर्माण से लेकर उसकी खट्टी-मीठी कुछ घटनाओं को आधार बनाकर इसकी कथा का निर्माण हुआ है। प्रवास-हेतुक विप्रलम्भ का वर्णन पहले है और संयोग-पक्ष का वर्णन बाद में। नायकारब्ध-संभोग-शृंगार का वर्णन भी बीसलदेव रासो के एक छन्द में मिल जाता है।[६८]

ऋतु-वर्णन विप्रलम्भ शृंगार का एक आवश्यक अंग माना जाता है। डा० अग्रवाल ने नरपति नाल्ह को ही षड्ऋतु-वर्णन की परम्परा को हिन्दी साहित्य में आरम्भ करने का श्रेय दिया है।[६९] यह एक विवादास्पद निष्कर्ष है। स्वयंभू से लेकर चंद तक कई कवि इसके दावेदार बन सकते हैं। बीसलदेव रासो की गणना लोक गीतों के प्रबन्धात्मक रूप को ही ध्यान में रखकर की जानी चाहिए। नाल्ह ने बारहमासा का वर्णन किया है जो कातिक महीने से प्रारम्भ होता है :—

> चालयउ उलगाणउ कातिग मास।
>
> छोड्या मंदिर घरिक विलास ॥ ८६॥
>
> बारह मास वउलाविया नारि।
>
> दैव मेलउ धांयउ मउ धणि आरि ॥ ६५ ॥

षड्ऋतु वर्णन और बारहमासा वर्णन में पर्याप्त अन्तर होता है, यद्यपि बारह महीने, छः ऋतुओं में समाहित हो जाते हैं।

(छ) लोकगीत के रूप में

संगीत में शास्त्रीय-विधान की रक्षा का आग्रह तो होता ही है, वह स्वर-प्रधान होता है। स्वर का आरोह-अवरोह ही उसके मुख्य चमत्कारिक तत्त्व हैं। लोक-गीतों में न तो स्वर-विधान का शास्त्रीय आग्रह होता है, न उसके लिए वाद्य-यन्त्रों की

६८ वही, छन्द २३६

६९ बी० रासो भूमिका पृ० ७४

आवश्यकता होती है। इनमे अर्थ-विस्तार और भावाभिव्यंजन को ही प्रमुखता प्राप्त रहती है। वीसलदेव रासो वस्तु-चयन, उनके विन्यास और छन्द-विधान की दृष्टि से ही नहीं, भाव-सकलन और उसकी व्यजना की दृष्टि से भी लोकगीत ही सिद्ध होता है। इसके कई अंश[100] तो स्वतंत्र लोकगीत प्रतीत होते हैं —

(१) अस्त्री जनम कमद दीयउ रे महेस।
अवर जनम थारह घणा रे नरेस॥
वनहि सिरजी रोझड़ी।
धणिहीन सिरजी धवलीय गाइ।
वनिन सिरजी कोइली।
हउ बइसती आंवानइ चंपा की डाल।
मधनी दाष बिजोरडी।
तइ तउ काइ सिरजी उलगाणा की नारि॥ छन्द १३४॥

(२) दूध कटोरड पाटसु।
आछा चावल घणाँय निवात।
सुसतउ जीमे वीरा जोगिया।
हिवड हसि हसि कहउ, म्हारा पीय की वात॥ छन्द २२६॥

भाव-माधुर्य के लिए लय, और लय के लिए उपयुक्त वर्णों और मात्राओं की योजना आवश्यक है, पर लोकगीतों मे भाव-माधुर्य का सृजन, कथा-प्रवाह और पात्रों की आत्माभिव्यंजना पर अधिक निर्भर करता है। उसकी सूक्तियां और उपमान भी लोक-जीवन से अधिक लिए जाते हैं, साहित्यिक परंपराओं से कम। नाल्ह ने यही किया है—

एक ही अक्षर वचन विणास॥ ५॥
जीभ का दाधा नवि पाल॥ ७५॥
आंगुलिया को मूँदडी, ढलि करि आवइ हो धण कीय बाह॥ १४२॥
नरग हुयउ जगनाथ दुआरि॥४५॥
जोगणि होइ सेय वणवास॥ ७०॥
दिन गिणता नह घस्या॥१४३॥
मुगफली[101] जिसी आंगुलि॥ दव दाधी जिम लाकडी॥१५०॥

१०० अन्य स्थल—छन्द ७०, २२५

१०१ डा० तारकनाथ ने 'मूगफली' को हास्योत्पादक मान लिया है। वहां मूगफली का अर्थ मूगा है। पतली और लाल उँगलियों के लिए लोकगीतों मे यह सहज ग्राह्य उपमान है। इसका अर्थ खाद्य मूगफली नहीं है।

५ सूफी कवियों के काव्य-सिद्धान्त

१ मौलाना दाउद के चन्दायन में काव्य-तत्वों के सकेत

सूफी कवियों की उपलब्ध सम्पूर्ण कृतियों में चन्दायन प्राचीनतम है। इसकी रचना फसली सन् सात सौ इक्यासी में हुई थी।[1] इसमें लोरक और चाद की प्रेम-कथा वर्णित है। चौदहवीं शताब्दी की यह प्रेम-कथा न तो अपभ्रंश-काव्य-परम्परा से सर्वथा विच्छिन्न है और न परवर्ती सूफी कवियों की तरह उनके दार्शनिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों से बोझिल। इसमें आत्मा-परमात्मा या साधक-साधना की बात भी नहीं है न कवि की इस ओर रुचि है। सूरज और चाद के रूप मे काव्य के नायक-नायिका को प्रस्तुत करते हुए भी दाउद ने उन्हे साधारण प्रेमी-प्रेमिका के रूप मे ही चित्रित किया है।[2]

(क) प्रयोजन

चन्दायन मे काव्य-तत्वों के सकेत अधिक नही मिलते। चन्दायन की रचना का प्रयोजन श्रोताओ का मनोरजन करते हुए उन्हे रस-सिक्त करना मात्र है। दाउद ने अपने काव्य-श्रोताओं में सिराजदीन और नयन मलिक का नामोल्लेख भी किया है।[3]

(ख) काव्य-रूप

मौलाना दाउद ने चन्दायन को कही गीत, कही कथा-कवित्त और कही केवल कवित्त कहा है।[4] चन्दायन काव्य तो है ही, वह गेय भी है। उसमे अविच्छिन्न रूप

१ चदायन १७।१, फसली ७८१=ई० सन् १३७४
२ परमेश्वरी लाल गुप्त, चदायन की भूमिका, पृ० ६१
३ चदायन २७२। पक्ति ६-७, ३६०।५
४ वही, ३६०।१, ४, ६-७

> [illegible] ॥१७॥
> [illegible] ॥८०॥
> [illegible] ॥१८॥

आदि उक्तियां लोक-व्यवहार में सामान्य रूप से प्रचलित हैं।

लोकगीत साहित्यिक रूढ़ियों की मर्यादा स्वीकार नहीं करते, इसलिए वे काव्य के उपयुक्त प्रयोगों पर कम ध्यान देते हैं। औचित्य की उनकी अपनी सीमा होती है, अपनी मर्यादा होती है। राजा बीसलदेव ने राजमती के सौंदर्य की उपेक्षा कर 'भैंस के पागुर' वाली बात को—

> [illegible]।
> [illegible] ॥६६॥

साहित्यिक दृष्टि से यह रसाभास है, पर लोक-जीवन या लोक-गीत तो इसे भी आस्वाद्य मान लेता है।

प्रबन्धात्मक लोक-गीत की इसी पृष्ठभूमि पर बीसलदेव रासो की परख होनी चाहिए। 'संयोग और वियोग के गीत ही कवि ने गाये हैं'।[१०८] यही उसका उद्देश्य भी है। जन-मन-रंजन शृंगार भी जब लोक-साहित्य की सीमा में चला जाता है तब उसकी तरंगों का आकलन पर्वतीय उपत्यकाओं में प्रवाहित निर्झरों की लोल लहरों से ही करना उचित है जिनमें ऊंचाई कम, परन्तु वेग अधिक होता है। शिष्ट-साहित्य की मर्यादित किन्तु उत्ताल तरंगों से उसकी तुलना करना उचित भी नहीं है। मध्य-युग की उपलब्ध रचनाओं की संख्या सीमित होने के कारण पृथ्वीराज रासो के बाद इसे सर्वाधिक महत्व प्राप्त हो गया। साहित्य के अनुसंधान की विविध दिशाओं में लोक-साहित्य के अनुसंधान ने अपना एक विशिष्ट मार्ग निश्चित कर लिया है। लोक संस्कृति से परिचय के लिए उसका महत्व भी स्वीकार कर लिया गया है। बीसलदेव रासो भारतीय लोक-साहित्य की अविच्छिन्न और लम्बी शृंखला की एक मध्यकालीन सुदृढ़ कड़ी है।

१०८ हिन्दी साहित्य का इतिहास, शुक्ल, पृ० ८३।

से कथा चलती है। दाउद को संगीत से प्रेम था और वे गा कर ही इसे अपने श्रोताओ को सुनाते थे।[५] अपभ्रंश काव्यो की भाति दाउद ने किसी छन्द-विशेष का सकेत नही किया है और 'सिराजदीन सुनउ कब-छन्द' से इतना ही प्रतीत होता है कि उन्होंने काव्य मे उस समय प्रचलित छन्द (चौपाई-दोहा) का प्रयोग किया है। इसमे पाच यमक और एक घत्ता वाला कडवक प्रयुक्त हुआ है और मृगावती तथा मधुमालती मे इनके कवियो ने इस छन्द-बन्ध का अनुसरण किया है।

चन्दायन के आरम्भ मे ईश्वर, पैगम्बर, चार यार, गुरु, शाहे-वक्त आदि की प्रशसा की गई है और परवर्ती सूफी कवियो ने इस मसनवी शैली का अनुसरण किया है। कथा का आरम्भ नगर-वर्णन से होता है, जो सस्कृत-गद्य और चम्पू काव्यो की परम्परा मे उपलब्ध है। परमेश्वरी लाल गुप्त तो पद्मावत की कथा के उत्तरार्ध को चन्दायन की पूर्वार्ध-कथा का रूपान्तर मात्र मानते है। इनकी दृष्टि मे बाजिर, चाद और रूपचन्द के स्थान पर जायसी ने क्रमश राघव चेतन, पद्मावती और अलाउद्दीन का नाम भर परिवर्तित कर दिया है।[६]

यमको मे प्रयुक्त चौपाई छन्द तो अपने लक्षण के अनुरूप है, परन्तु घत्ते के रूप मे प्रयुक्त छन्द दोहे के वर्तमान लक्षणो पर खरे नही उतरते—

(क) चाद सहेलिन पूछि रस, धौरहरा लाइ।
सीन आह जिनु भरु, कहु कैसे रैन विहाइ॥ ५२।६-७

(ख) राइ भाट कह पठये, महर गढ अब गाउ।
एक एक सह झूझै, दूसर नर नहीं आउ॥ १२६।६-७

(ग) कहु रस वचन विरस्पत, जिहिं चित करउ मिठाइ।
रस के घडे भरावहु, दुख सताप तब जाइ॥१९८।६-७

इन उदाहरणो मे से प्रथम १३,६, १०,१३ द्वितीय १२,१०, १२,११ तथा तृतीय १२, ११, १२,११ मात्राओ के छन्द है। ये सभी छन्द घत्ते के रूप मे पउम चरिउ मे प्रयुक्त हुये है तथा दोहे की जाति के विविध प्रकार के छन्द है। गेय रूप मे खीचतान कर ये दोहे की ध्वनि उत्पन्न करने मे समर्थ है।

इस 'पिरम-कहानी'[७] को दाउद ने घटनाओ के आधार पर खडो मे विभाजित किया है। सूफी-साधना का मुख्य आधार प्रेम है और सूफी-काव्यो का आधार प्रेम-कहानी, दाउद भी प्रेम-समुद्र को अथाह ही मानते है। प्रेम-कहानी मे प्रयुक्त शब्द,

५ वही, ३७४।२
६ चदायन, भूमिका, पृ० ६६
७ रग राती लिखि पिरम कहानी। ३६४।१

उनका लेखक, उसका पाठ और उसका अर्थ-विचार, सब कुछ ही दाउद की दृष्टि में धन्य है।[८]

दाउद ने पूर्ववर्ती काव्यों में केवल रामायण का उल्लेख किया है, जिसकी कथा होती थी, किन्तु उनके समय में प्रचलित रास तथा गीत-नृत्य सहित पवारा और कवित्त आदि का भी संकेत उन्होंने दिया है।[९] चन्द ने रूपकों के लिए 'कवित्त' नाम का प्रयोग किया है। दाउद के समकालीन विद्यापति ने अपनी कीर्तिलता को 'कहाणी' नाम दिया है। अत दाउद की 'कहानी' प्रेम-कथा के अतिरिक्त उन छोटी-छोटी कृतियों की ओर भी संकेत करती है जो किसी प्रकार की विशिष्ट घटना को आधार बनाकर प्रस्तुत की जाती थी। रास को लोग जिन कथाओं को गाते या कहने-सुनते थे, उनका लोकगीतों के समावेश के कारण गद्य-पद्य मिश्रित रूप होता था, जैसा कीर्तिलता का है। कथा का प्रयोग चरित काव्य के लिए बाद में भी होता रहा है, अत दाउद ने भी कथा का प्रयोग चरित काव्यों एव कहानी का प्रयोग लोक या प्रेम-कथाओं के लिये किया है।

चौदहवीं शती के वैष्णव-रासों का प्रयोजन निशा-मनोरंजन था तथा वे प्रेक्ष्य होते थे।[१०]

(ग) रस-संकेत

सूफी कवियों ने प्रेम को ही अपने काव्यों का मुख्य आधार बनाया है। प्रेम या रति शृंगार का स्थायी भाव है। दाउद ने अनेक स्थलों पर प्रेम के अर्थ में ही 'रस' का प्रयोग किया है, जो प्रेम-रस या रतिरस का संकेत है।[११] दाउद का प्रेम-रस, शृंगार रस ही है।[१२] अपने पूर्ववर्ती कवियों की भांति दाउद ने भी शृंगार के प्रतीक रूप में 'भ्रमर-पुष्प' का प्रयोग किया है।[१३] प्रेमिका या नायिका रस की प्रतिमा है, जिसकी उपलब्धि पर ही नायक का रस-विलास निर्भर करता है।[१४] मैना जब लोरक को उपालम्भ देती है तब वह इसी रति-रस का संकेत करती है।[१५]

८ जिन समुद धनि अवगाहा। जो जल दूढ़ि न पावइ थाहा। ४४५।१
धनि ते सबद धनि लेखनहारा। धनि ते बोल धनि अरथ विचारा। ३६०।२
९ रामैं गावहिं सइ अठलावहिं। २३।४, औ नर गावहिं होइ पवारा। २३।५
गीत नाद सुर कवित कहानी, कथा कहु गावनि हार। ७२।६
१० हसि लोर मन बोला, राग रास गुआयव।
कौतुक रैनि बिहानि, लिहि देखत नैन न आयउ॥ ३३४।६-७
११ रस बिनु बातहि भाव बनावा। २४८।४ तथा २१८।६-७, ३६४।१
१२ लोर बिरान पिरम रस। २८८।६ तथा ५२।४
१३ भवर फूल पर रहेउ लोभाई। रस लै तासहि फिरि नहिं जाई। २२१।३
१४ चदायन, १८४।५-७, १८७।४, ५२।६-७
१५ घर न दाख रस पूरे, चर चर माठ पराइ। २४१।७

शृगार रस के अन्तर्गत भी सूफी कवियो ने इसके वियोग पक्ष पर अधिक वल दिया है। यह उनकी साधना का प्रमुख एव सवल पक्ष भी है। दाउद ने भी प्रणय की ज्वाला को व्यापक धरातल पर प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। सर्प-दश से चाद के वेसुध हो जाने पर लोरक के विलाप के अवसर पर उन्होने कहा है—

चिरग एक जो वाहर मारे, येहि विरम के झार।
भसम होइ जल धरती, निल एक सरग पतार॥ ३५३।६-७।

दाउद ने अपने चन्दायन मे एक नायक तथा दो नायिकाओ का समावेश किया है। प्रथम नायिका लोरक की विवाहिता पत्नी है और दूसरी प्रेयसी, जो वाद मे पत्नीत्व प्राप्त करती है। लोक-कथाओ मे यह स्थिति अपवाद रूप मे ही उपलव्ध होती है। इसे पूर्णत मुस्लिम परम्परा की देन भी नही माना जा सकता, क्योकि सस्कृत की नाटिकाओ मे ज्येष्ठा और कनिष्ठा नायिकाओ का विधान किया जाता रहा है और प्रेयमी कनिष्ठा वाद मे ज्येष्ठा की अनुकम्पा से पत्नी का पद प्राप्त करती है। लोरक की प्रथम पत्नी मैना और प्रेयसी चाद मे भी सुलह कराई गई है।[16]

जिस प्रकार चाद के विरह मे लोरक का विलाप वर्णित है, उसी प्रकार मैना ने भी लोरक के पास हल्दीपाटन मे एक पडित द्वारा अपना विरह-सदेश भेजा है।[17] यद्यपि लोरक द्वारा किए गए युद्धो मे वीर रस की झलक मिलती है, परन्तु काव्य का मुख्य प्रयुक्त रस शृगार ही है। शृगार के सयोग और वियोग दोनो पक्षो को उभारा गया है। दाउद ने सूफी प्रेम-काव्यो की एक मूर्ति को सर्वप्रथम आकार प्रदान करने का प्रयत्न किया है जिसमे सूफियो के प्रेम और भारतीय काव्य-जगत् के शृगार के स्थायीभाव रति को समानुरूपता प्रदान की गई है। दाउद सस्कृत काव्य-परम्परा से परिचित नही है। रामायण की कथा होती है और पडित 'रिग जदु साम अथरवन पढा' (४२०।५) होते है, यह श्रुत-ज्ञान है। चदायन की सीधी-सादी कथा मे अनलकृत रस की धारा प्रवाहित हो रही है। दाउद का यह प्रेम-रस, काव्य-शास्त्रीय शृगार रस नही अपितु उसका लोकागत परिवर्तित रूप है। कडवक की वन्ध-परम्परा उन्हे अपभ्र श-परम्परा से प्राप्त हुई है तथा इस गेय काव्य का मुख्य प्रयोजन लोक-जन-मन-रजन है। पूर्ववर्ती सदेश रासक और परवर्ती पद्मावत मे सर्वथा भिन्न, दाउद ने काव्य के मध्य मे ही चाद और लोरक के मिलन पर अपने श्रोताओ के प्रति शुभ-कामना व्यक्त कर दी है।[18]

१६ चदायन, २७१
१७ वही, विरह भाव सँ आम्रै, दमर भया न जान॥ ४२०।६
१८ चांद पराहि सूरज भावा, रैंग रामामी होइ।
पांच भूत आतमा सिराने, धम विरतो सव कोइ॥ २२५।६-७

जायसी ने अनेक स्थलों पर अपने लिये 'कवि' और 'मुहमद कवि' का प्रयोग किया है।[23] इस 'कवि' शब्द में निहित अर्थ को जायसी अच्छी तरह समझते थे। उन्होंने बड़ी विनम्रता और आदर के साथ पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख किया है। महाभारत के रचयिता व्यास को तो वे परम प्रामाणिक मानते हैं।[24] लोक-प्रसिद्ध प्रेम-कथाओं और पौराणिक-काव्यों का उन्होंने उल्लेख किया है। इनमें—दुष्यन्त-शकुन्तला, मधवानल-कामकन्दला, नल-दमयन्ती, भर्तृहरि-पिंगला, सपनावति, मुगुधावति, मिरगावति, मधु-मालति, प्रेमावति, उषा-अनिरुद्ध, भारत आदि का उल्लेख करते हुए जायसी ने इनकी कथा-वस्तु का भी संकेत कर दिया है।[25] प्रसंगवश रावण के अहंकार और राम के साथ उसके विरोध तथा दुर्गति का तो उन्होंने विस्तृत-संकेत कर दिया है।[26] रामायण और महाभारत के पात्रों की विशेषताओं और युद्ध-कौशल का उन्होंने दृष्टान्त या पद्मावत के पात्रों से सादृश्य के लिए उपयोग किया है।[27]

डॉ० जयदेव के मतानुसार जायसी की पाठशाला प्रकृति का व्यापक क्षेत्र थी, उनके शिक्षक सामाजिक घटनाएं और व्यापार थे। 'जायसी बहुश्रुत थे। कुशाग्र-बुद्धि थे। उन्होंने जो कुछ सुना, उसका प्रयोग यथावसर सुन्दर रीति से किया है।[28] इसी प्रसंग में उन्होंने जायसी को अनाथ और निरक्षर तक कह दिया है। ग्रियर्सन के इस विचार का भी उन्होंने खंडन कर दिया है कि 'जायसी संस्कृत भाषा के ज्ञाता थे'।[29] डॉ० जयदेव को तो इसमें भी सन्देह है कि जायसी इस्लाम धर्म से परिचित भी थे या नहीं, क्योंकि उन्होंने 'कुरान' को 'पुरान' कह दिया है।[30] इनकी दृष्टि में केवल बहुश्रुत

२३ तहां व्यास कवि कीन्ह बखानू। १।२३।१ मुहम्मद कवि जो बिरह भा। १।२३।८। पद्मा०
 गए नयन कवि मुहमद गुनी। १।२१।१ चारि मीत कवि मुहमद पाये। १।२२।१

२४ जौ लि न होइ भाँति सो मोजू। २४।८।१ जस कवि व्यास कहा बियान॥ १२।१०।६

२५ औ दुस्यन्तहि सकुन्तला। मधवानलहि काम कन्दला। भा बिछोह जस नलहि दमावति।
 २१।२।६-७॥

 दमनहि नलहि जो हंस मेरावा। २४।१७।७ जस भरथरी लागि पिंगला। २१।२।३
 विरम धमा प्रेम के धारा। सपनावति कह गयउ पतारा।
 मधू पाछ मुगुधावति लागी। गगनपूर होइ गा बैरागी।
 राजकुँवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कह जोगी भएऊ।
 साध कुँवर खंडावत जोगू। मधु मालति कर लीन्ह वियोगू।
 प्रेमावति कह सुरपुर साधा। ऊषा लगि अनिरुधवर बाधा।२३।१७
 भारत सोइ जूझ जो ओधा। २५।८।२ चक्राबूह अभिमनु ज्यों जूझा। २७।५।१

२६ द्रष्टव्य—रावन गरब विरोधा रामू। ॥ २५।१० पद्मा०।

२७ अंगद कोपि पाव जस रोपा। ५२।२।६। हनुवंत सरिस जंघवर जोरी। ५२।२।७।

२८ सूफी महाकवि जायसी—डॉ० जयदेव, भरत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, १९५७, पृष्ठ ४३

२९ वही, पृ० ४७

३० वहीं, पृ० ३५८

व्यक्ति साधारणत अव्यवस्थित विचारो के होते हैं, क्योंकि उनके समक्ष किसी भी भाव का स्वच्छ और स्पष्ट रूप नही आने पाता। यही कारण है कि जायसी के विचार नितान्त स्पष्ट नही हैं। कभी वे एकेश्वरवाद के समर्थक प्रतीत होते हैं, तो कभी अद्वैत के। वस्तुत वे इन दोनो के सूक्ष्म-भेद को समझने मे असमर्थ थे।[31] एक शोध-प्रबन्ध मे व्यक्त किये गए इन विचारो की सर्वथा उपेक्षा नही की जा सकती, यद्यपि ये विचार स्वय परस्पर विरोधी है। कुशाग्र-बुद्धि यदि सूक्ष्म-भेद न समझ सके, भावो और विचारो को स्पष्ट रूप से ग्रहण न कर सके तो उसे कुशाग्र-बुद्धि से अभिहित करना ही व्यर्थ है।

जायसी के कवि-व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के लिये उनकी कृतियो मे आये सकेतो का ही हमे आश्रय लेना है। ज्ञान से उत्तम व्यक्तित्व का निर्माण होता है। जायसी भी विविध प्रकार के लौकिक और शास्त्रीय विषयो से परिचित थे। किसी काव्य को प्रासगिक रूप से उल्लिखित विषय का सूक्ष्म विवेचन करने वाला ग्रन्थ नही समझा जा सकता, अत ज्ञान-सीमा के छोर का सकेत मात्र ही लिया जा सकता है।

जिन कृतियो का उल्लेख जायसी ने किया है उनके वस्तु-विषय की जानकारी जायसी को थी, यह उद्धरणो से ही स्पष्ट है। हिन्दूधर्म की जानकारी जायसी को थी इसके लिए निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) चार वेद और चौदह विद्यायें है—

चतुरवेद मत ओही पाहा। रिग जजु[32] साम अथरबन माहा।१०।१०।५। पद्मा०
चारिउ चखुरदसा, गुन पढे।१।२२।६।

(२) पाच बरस के हो जाने पर विद्यारभ होता है—

पाच बरस मँह भय सो बारी। कीन्ह पुरान पढै बैसारी॥

(३) अध्ययन के विषय, शास्त्र और वेद हैं—

रहहिं एक सग दोऊ, पढहिं सासतर-बेद। ३।५।८। पद्मा०

(४) 'पुरान' शब्द का जायसी-अभिहित अर्थ धार्मिक-ग्रथ है। द्वितीय उद्धरण मे 'कीन्ह पुरान' का अर्थ है धार्मिक विधि पूरी की और पढने के लिए बैठायी गई। पुरान के उक्त अर्थ के पोषक निम्नलिखित उद्धरण और देखे जा सकते है—

(क) जस पुरान मँह लिखा बखान्। १।८।१।

(ख) लिखा पुरान जो आयत सुनी। १।१२।४।

३१ सूफी महाकवि जायसी, पृ० ३६१

३२ यजु के लिए जुग के प्रयोग पर डॉ० जयदेव को आपत्ति है। म० जायसी, पृ० ४३ जायसी ग्रन्थावली मे शुक्ल जी ने जुग नही, जजु पाठ दिया है। यही शुद्ध पाठ है, अत डॉ० जयदेव की आपत्ति स्वय खडित हो जाती है

(ग) जो पुरान विधि पठवा, सोई पढ़त गरथ।
औरे जो भूले आवत, सो सुनि लागे पथ ॥ १।१२।८-९ ॥

(घ) कतहू पडित पढहिं पुरान्। धरम पथ कर करहिं बखान्। २।१५।३

(ङ) मा विद्वान पडित सब आये। काढ़ि पुरान जनम अरथाये। ३।३।२

ये उद्धरण स्पष्ट करते है कि उनकी दृष्टि मे पुरान का अर्थ—पुराण, कुरान, ज्योतिष-ग्रथ अर्थात् सामान्य रूप मे 'धार्मिक-ग्रन्थ' है। जब चन्द 'षट् भाषा पुरान च कुरान कथित मया', कहते है तब उनका उद्देश्य पृथ्वीराज रासो को कुरान कहना नही हो सकता। यह पहले दिखलाया जा चुका है कि चन्द, पृथ्वीराज रासो को एक पौराणिक या धार्मिक काव्य-ग्रन्थ की महत्ता प्रदान करना चाहते थे। यदि जायसी ने पुरान-कुरान को एक ही नाम दे दिया है, तब उनको अज्ञ मानना या इस्लाम धर्म से अनभिज्ञ मानना उचित नही है। यह कवि की समन्वयवादी दृष्टि की अभिव्यक्ति मात्र है।

(५) सामुद्रिक-शास्त्र एव ज्योतिष-शास्त्र[33] का ज्ञान—

कुवर बतीसो लच्छनी, अस सब माह अनूप[34] । २।२५।८॥ पद्मा०।
पडित गुनि सामुद्रिक देखा। देखि रूप औ लखन बिसेखा। ६।१।३
परिवा छट्ठि एकादसि नदा। दुइज सप्तमी द्वादसि मदा।
तीजि अष्टमी तेरसि जया। चौथि चतुरदसि नवमी खया।
पूरन पूनिउ दसमी पावै। सुक्रै नदै बुध भए नाचै ॥ ३।२।४

नदा, भद्रा, जया, रिक्ता और पूर्णा के रूप मे तिथियो का वर्गीकरण ज्योतिष-शास्त्र के अनुकूल है।

(६) सस्कृत-ज्ञान—

ज्योतिष और सामुद्रिकशास्त्र की भारतीय-पद्धति से जायसी परिचित थे, यह सस्कृत ज्ञान के अभाव मे सभव नही था। रत्नसेन विदाई-खड मे तो मुहूर्त देखने की भारतीय-पद्धति का ही ज्योतिष-शास्त्रीय वर्णन है।

सात सरग जो कागद करई। धरती समुद दुहू मसि भरई। १।१०

तो 'असित गिरि सम स्यात्कज्जल सिन्धु पात्रे'[35] का रूपान्तर है।

भवर जो पावा कवल कहं मन चीता बहु केलि।
आइ परा कोइ हस्ती, चूर कीन्ह सो बेलि ॥ २४।६।८-९॥

३३ ज्योतिष सम्बन्धी उद्धरण के लिए द्रष्टव्य—रत्नसेन विदाई खड

३४ कुवर बतीसो लच्छन राता। दसए लछन कहै एक बाता।
जानौ माहि गोपिचद जोगी। की सो आहि भरथरी वियोगी ॥ २०।१।५-६

३५ यही भाव 'आखिरी कलाम' के छठे दोहे की कुछ पक्तियो मे भी है

यह दोहा संस्कृत की सुप्रसिद्ध इस सूक्ति का रूपान्तर है—

> रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
> भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कज श्री ।
> इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
> हा हन्त । हन्त । नलिनीं गज उज्जहार ॥

जायसी ने रत्नसेन द्वारा अश्व-परीक्षा का उल्लेख[36] किया है। नाम-परिगणन शैली के कारण अश्वों की विविध जातियों का भी युद्ध-सज्जा के समय उन्होंने वर्णन किया है, पर 'तुरग रोग हरि माथे जाये' (पद्मा० ८।४।७) कह कर तो स्पष्ट रूप से पंचतन्त्र की इसी प्रकार की एक कहानी की ओर संकेत किया है।

(७) पौराणिक नामों का उपयोग--

जायसी ने— वररुचि, भोज (पृ० ३७), चारों वेद, इन्द्र, ब्रह्मा, अमर (अमरकोष), भागवत, पिंगल, गीता, भारतवती, व्याकरण, (पृ० ४४) गोपीचन्द, राघव, रावण, भरथरी, (पृ० ५५) सीता, लोक में प्रचलित सगुन (पृ० ५६), व्यास (५७), सप्त पाताल, सप्त-स्वर्ग (पृ० ६३), चन्द्र, सूर्य, राहु, ऊषा, अनिरुद्ध (पृ० ८५), भर्तृहरि पिंगला, पार्वती-महेश (पृ० ९०), अप्सरा द्वारा तपभंग, महादेव की कृपा ने राम का रण जीतना (पृ० ९१), जगत्-मिथ्या, योगतन्त्र (पृ० १०५), हनुमान द्वारा लंका-दाह, अगस्त्य तारा (पृ० १०६), अंगद का पदारोपण (११६), विक्रम-भोज (पृ० ११८), प्रथमनाद की उत्पत्ति, तब वेद का उत्पन्न होना (पृ० १२५), हिन्दू-विवाह-विधि (पृ० १२६), अभिमन्यु (पृ० १२६), वामन-बलि-कथा, जालधर-गोपीचन्द, कृष्ण-गरुड़, पट्ट महादेवी (पृ० १५१), समुद्र-मथन, (पृ० १८२), लक्ष्मी की चंचलता (पृ० १८३), नल व दमयन्ती (पृ० १८३), पुनर्जन्म (पृ० १८४), पंडित सहदेव (पृ० १९९), हिन्दू तीर्थों के नाम (बादशाह दूती खंड), हनुमान, अंगद, अर्जुन, भीम, जगदेव, मालकदेव, हमीर, हरीशचन्द्र, कृष्ण चाणूर तथा अनेक रामायण-महाभारत के पात्रों के नाम (पृ० २८०-२८१)—आदि का उल्लेख प्रसंगवश किया है। इनके साथ सम्बद्ध प्रमुख घटनाओं के संकेत से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जायसी इनसे परिचित थे।[37]

(८) अन्य-विधि-ज्ञान—

जायसी ने परकाय-प्रवेश का दो बार उल्लेख किया है।[38] वाद्य-यन्त्रों[39] का

[36] रत्नसेन सूली-खंड, दोहा ३३ ॥ १८—जा० ग्र०, पृ० १७

[37] पृष्ठ संख्याएँ जायसी ग्रन्थावली, स० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, ना० प्र० सभा काशी के पंचम संस्करण की है

[38] द्रष्टव्य—जायसी ग्रन्थावली, पृ० १०६, २७५

[39] पद्मा०, पृ० ८२

तथा विविध राग-रागिनियो[४०] के नामो का उल्लेख उनके सगीत-प्रेम का साक्षी तो है ही, चित्र-मूर्त्ति या स्थापत्य कला के परिचय का भी उन्होने सकेत किया है।[४१] स्त्रियो के विविध रूपो और भेदो का भी उन्होने प्रसगागत वर्णन किया है।[४२] कामशास्त्र के अनुसार पद्मिनी के सपूर्ण लक्षणो का वर्णन जायसी द्वारा 'राजा-सुआ-सवाद' खड मे किया गया है। जायसी ने रसायन शास्त्र और मरजीया (गोताखोर) का भी उल्लेख किया है।[४३] दर्शन सम्बन्धी विचारो के तो अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये जा सकते है। 'आखिरी कलाम' उनके इस्लाम धर्म के ज्ञान का सूचक है। इसके अतिरिक्त अद्वैत, वेदान्त, सूफी-प्रेम-साधना, प्रतिविम्ववाद आदि के सहित हठयोग की साधना का भी उन्होने प्रसगवश निर्देश किया है।[४४] विविध विषयो की यह जानकारी एक प्रवन्ध-काव्य के सृजन के लिए आवश्यक है।

(६) लोकव्यवहार का ज्ञान—

जायसी ने लोकजीवन का प्रत्यक्ष अनुभव किया था। हिन्दू-जीवन-पद्धति के जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त के सभी प्रमुख विधि-विधानो से वे परिचित थे। राजपूती जीवन की उस विशेषता का तो उन्होने प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया था कि युद्ध में किस प्रकार स्त्रिया सती होती थी—जोहर करती थी और पुरुष युद्ध मे प्राणत्याग करते थे। सामान्य-जीवन के व्यवहारो का भी उन्होने स्थान-स्थान पर उपयोग किया है।[४५] सगुन का वर्णन जोगी-खड में है। राज-पक्षी केवल लोक कथाओं मे मिलता है, जायसी ने इसका वर्णन बोहित-खड मे किया है। सूक्तियो, लोकोक्तियो एव ग्राम्य-जीवन के उपमानो के प्रयोग ही जायसी के लोक-व्यवहार-ज्ञान के परिचायक है।[४६]

४० वही, पृ० २३५

४१ वही, पृ० १८, १२७

४२ वही, पृ० १४ (वेश्या) पृ० १५ (मालिन)। वाला, कन्या, पद्मिनी, वय सधि (पृ० २०)

४३ वही, क्रमश पृ० १२६ और पृ० १२६, १८२

४४ प्रतिविम्ववाद के लिए—जायसी ग्रन्थावली, पृ० २५, २८, २६,—पृ० १,२७ आदि
आध्यात्मिक सकेतो के लिए—पृ० १,२७ आदि

४५ ऋण—जेहि व्योहरिया कर व्यौहारू। का लेइ देव जौ छेंकिहि वारू। ७,२,६
बगुला—जेहि सरवर महं हस न आवा। बगुला तेहि सर हस कहावा। ८,२,२
उल्लू—का तोर पुरुष रैनि कर राऊ। उलू न जान दिवस कर भाऊ॥ ८, ५, ५
अनवट विछिया—अनवट विछिया नखत तराई। १०,२०,७
मूर्ख—मूरुख सो जो मतै घर नारी। १२,७,१
लोकोक्ति दृष्टि—आगे देखि धरहु भुईं पांऊ। १२।१२,१
साहस जहा सिद्धि तहँ होई। १, ४, १, ३, काजी बूंद विनसि होइ नीरू। १५,३,३

४६ द्रष्टव्य—जायसी ग्रन्थावली की भूमिका, पृ० १६८
सूफ़ी महाकवि जायसी, पृ० २३१ से २३४ तक

(१०) इतिहास, राजनीति, साहित्य और सामाजिक-आदोलनो का ज्ञान—

डॉ० जयदेव ने यह स्वीकार करते हुए भी कि जायसी ऐतिहासिक घटनाओं और राजनैतिक हलचलो से अनभिज्ञ न थे, यह निर्णय कर डाला है कि 'जायसी ने इन ऐतिहासिक ग्रथो का अध्ययन किया था, यह तो नही कहा जा सकता।'[४७] साथ ही उन्होंने यह भी कह दिया है कि वे हिन्दी-साहित्य की परम्पराओ मे भी सुनकर ही परिचित थे।[४८] इतिहास और राजनीति से परिचय का साक्षी तो स्वय पद्मावत का उत्तरार्ध है। हम यहा पद्मावत मे उपलब्ध कुछ ऐसे सकेत उद्धृत करते हैं, जिनके द्वारा उनके पूर्ववर्ती हिन्दी-साहित्य मे भी परिचित होने का निष्कर्ष निकाला जा सकता है—

भाट—(क) भाट बरनि नहि ..नि भली।
पावहिं हस्ति घोड सिंघली॥ २।२०।७। पद्मा०।
(ख) भाट अहै सकर कै कला॥ २५।१२।२।
(ग) भाटहि काह मीचु सो डरना।
हाथ कटार पेट हनि मरना॥ २५।१३।२।
(घ) स्वामिकाज सो जूझै, सोट गए मुख रात ४३।३.

इन उद्धरणो से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जायसी चन्द कृत पृथ्वीराज रासो एव उसमे वर्णित चन्द की मृत्यु-घटना से परिचित थे। चन्द द्वारा बल दिये गए स्वामि-धर्म के महत्त्व का भी उन्होंने सकेत किया है।

जोलाहा—

ना-नारद तब रोइ पुकारा। एक जोलाहै सो मै हारा।
प्रेमतन्तु निति ताना तनई। जप तप साधि सैकरा भरई।
दरब गरब सब देइ बिथारी। गनि साथी सब लेहि सभारी।
पाच भूत माडी गनि मलई। ओहि सो मोर न एको चलई।
बिधि कह सवरि साज सो साजै। लेइ लेइ नाव कूच सो भाजै।
मन मुर्री देइ सब अग मोरै। तन सो बिनै दोउ कर जोरै।
सूत सूत सो कथा मजाई। सीझा काम बिनत सिधि पाई॥
अखरावट। ४२॥

इन चौपाइयो के भाव यह स्पष्ट कर देते है कि जायसी कबीर, उनकी साधना, तप-पद्धति और सिद्धियो से परिचित थे। सामाजिक जीवन पर पडने वाले कबीर के प्रभाव से भी वे अनभिज्ञ न थे।[४९]

४७ द्रष्टव्य—सूफी महाकवि जायसी, पृ० ४६
४८ वही, पृ० ४८
४९ द्रष्टव्य—परिषद् की विद्यापति पदावली, २६२वा पद
जाहि देस पिक मधुकर नहि गूजइ
कुसुमित नहि कानन॥

(११) सुपुरुष—

विद्यापति ने नायक के लिए इस 'सुपुरुष' शब्द का अनेक स्थलो पर प्रयोग किया है। उनकी दृष्टि मे सुपुरुष के दो मुख्य लक्षण है—युद्धकाल मे वीरता का प्रदर्शन और शान्ति काल मे विलास-सलग्नता। यह शब्द जायसी के समय तक इसी अर्थ मे रूढ हो गया था। उन्होने इसी अर्थ मे प्रयोग भी किया है—

राजै दीन्ह कटक कर बीरा। सुपुरुष होहु, करहु मन धीरा। १५।८।१,

दूवौं मिले मनावा भला। सुपुरुष आपु आपु कहँ चला।

लीन्ह उतारि जाहि हित जोगू। जो तप करै सो पावै भोगू॥२५।२४।३

धन्नि पुरुष अस नवै न नाए। औ सुपुरुष होइ देस पराए॥ २६।४।७॥

जहँ सत पुरुष तहा सरसती। २७।२८।१,

जायसी ने विद्यापति के द्वारा अत्यधिक प्रयुक्त प्रणय-प्रतीक, मालती और भवर का प्रचुर उपयोग किया है। प्रसग भी सयोग-वियोग का ही है। नागमती वियोग-खड का अन्तिम दोहा तो विद्यापति के एक पद की छाया ही लगता है—

नहिं पावस ओहि देसरा, नहि हेमन बसत।

ना कोकिल न पपीहरा, जेहि सुनि आवै कत॥ १६॥ जायसी॥

उक्त तथ्यो और जायसी के सकेतो को उद्धृत करने का प्रयोजन यह है कि पद्मावत के रचयिता को निरक्षर और बहुश्रुत मात्र मानने की धारणा को निरस्त किया जा सके। जायसी एक महाकवि के अपेक्षित गुणो से सम्पन्न व्यक्ति थे। काव्य-सृजन के लिए वे सहायक विविध तत्त्वो से विज्ञ थे। न केवल सपनावती और मुगुधावती की सूफी-काव्य-परम्परा मात्र से ही, अपितु पूर्ववर्ती कवियो की कृतियो और साहित्य से भी वे परिचित थे, उनका रसास्वादन भी कर सकते थे, और यथास्थान उन के भावो का उपयोग भी कर सकते थे।

(१२) विनम्रता—

जायसी अत्यन्त विनम्र व्यक्ति थे। वे अपने आपको पडितो का अनुसरण करने वाला कहते है। अपने ज्ञान और अपनी ज्ञान-शक्ति को भी वे पडितो की देन कहकर अपनी विनम्रता प्रकट करते है—

औ बिनती पडित सन भजा। टूट सवारहु नरवेहु सजा।

हौ पडितन केर पछलागा। किछु कहि चला तवल देइ डगा॥ १।२३।२-३

मैं एहि अरथ पडितन्ह बूझा। कहा कि हम्ह किछु और न सूझा।

पडित पढ़ि अखरावटी, टूटा जोरहु देखि॥ पृ ३०३। ग्रन्था०

ना मोहि गुन न जीभ रस बाता॥ १७।१।६

(१३) सहृदयता—

जायसी प्रेम की पीर से स्वय सम्पन्न थे ही, मित्रता[५०] को अन्त तक निभाने वाले व्यक्ति भी थे। अज्ञ-जनो के प्रति वे अत्यन्त उदार थे—

दीठिवत कद्द नियरे, अध भूरुखहिं दूरि ॥ १।८।६
बुझै सो केहि उपदेश। ५२।३।
भवर आइ वन खड सन, लेइ कवल के वास।
दादुर वास न पावई, भलहि जो आछै पास ॥ ११२४।
तेहि कत बुधि जेहि हिए न नैना ॥ ३।८।७ ॥

(१४) गुणी और गुणो के प्रति दृष्टि—

जायसी यह मानते थे कि गुण छिपाने की वस्तु नही, पर वे यह भी अनुभव करते थे कि गुणी व्यक्ति को आत्म-स्तुति करने वाला नही वनना चाहिये—

वहु परवने जो गुन तोहि पाहा। गुन न छपाइय हिरदय माहा। ७।३।५
गुनी न कोई आप सराहा। ७।८।६ ॥
वड गुनवन गोसाई चहे सवारै वेग। ११।०।८॥

(१५) कवि—

जायसी ने स्वय अपने लिए कवि[५१] शब्द का प्रयोग किया है। 'जस कवि कहा वियास' कह कर वे कवियो मे व्यास को प्रामाणिक मानते है। जायसी ने कवि की सार्थकता उसके काव्य की प्रभावशीलता मे मानी है—

सुनि तेहि आदउ आसु। ११२३।६
जो कवि सुनै सीस सो धुना ॥ ३८।१।४।
मुहम्मद कवि यह जोरि सुनावा। सुना सो पीर प्रेम कर पावा। उ० २।१

जायसी यह उचित नही मानते थे कि पडित और कवि अर्थ-लोभ मे पडें। वे स्वय फकीरी का जीवन व्यतीत करते थे। राज दरवारो की व्यवस्था से वे पूर्ण परिचित थे, वहा की घूसखोरी और भ्रष्टाचार को वे शासन की वडी दुर्वलता समझते

५० मुहम्मद चारिउ मीत मिलि, भए जो एकै चित्त।
एहि जगमाय जो निवहा, ओहि जग बिछुरन चित्त ॥ ११२२
मुहम्मद कवि जो विरह भा, ना तन रकत न मासु। ११२३
५१ तहा माइ कवि कीन्ह वखानू। ११२३।१
मुहमद कवि, जो विरह भा। ११२३।८।
मुहमद कवि यह जोरि सुनावा ॥ उपसहार २

थे।[५२] ऐसे दरबारो और वहा के समाज से अर्थ-प्राप्ति को वे हीन कार्य मानते थे। उनका दृष्टिकोण था कि सरस्वती के साधक कवि को लक्ष्मी की कामना भी नहीं करनी चाहिए—

> पडित होइ सो हाट न चढा। चहौ बिकाय भूलि गा पढ़ा। ७।३।३
>
> चहै लच्छि बाउर कबि सोई। जह सुर सति लच्छि कित होई।
>
> कबिता सग दारिद मतिभगी। काटै कूट पुहुप कै सगी।
>
> कबि तो चेला बिधि गुरू, सीप सेवाती बुद।
>
> तेहि मानस के आस का, जो मरजिया समुद। ३८।४।६-८॥

विधाता के शिष्य, कवि की मानस-समृद्धि ही पर्याप्त है। जायसी, कवि की क्षमता से पूर्ण परिचित थे। वे कवि की जीभ को दुधारी तलवार मानते है, जो एक ओर आग और दूसरी ओर पानी से युक्त है। वह ओजस्विता भी भर सकती है और शाति तथा शीतलता भी प्रदान कर सकती है—

> कबि कै जीभ खड्ग हरद्वानी। एक दिसि आगि दुसर दिसि पानी। ३८।५।४॥

(१६) समन्वयवादी-दृष्टि—

जायसी इस्लाम के अनुयायी थे। इस्लाम की मान्यताओ से वे परिचित ही नही, उनके पूर्ण विज्ञ थे। हिन्दू रीति-रिवाजो और धार्मिक-मान्यताओ से वे निकटतम परिचित थे। यहा के हिन्दू-समाज, उसके इतिहास, उसकी लोक-कथाओ और उसके साहित्य को वे आदर की दृष्टि से देखते थे। प्रेम का साधक हिन्दू-मुसलमान का भेद कैसे कर सकता था? डॉ० जयदेव भी यह मानते है कि 'उस युग की एक विशेष भावना थी—सामजस्य की, जिसकी ओर हमारे कवि (जायसी) की पूर्ण दृष्टि थी।'[५३] शुक्ल जी के कथनानुसार 'इस उदार सारग्राहिणी प्रवृत्ति के साथ ही साथ उन्हे अपने इस्लाम धर्म और पैगम्बर पर भी पूरी आस्था थी।'[५४] जायसी कवि, सहृदय और उदार थे। हिन्दू और इस्लाम धर्म मे जो कुछ उत्तम और समन्वय के योग्य था, उस पर उनकी सजग दृष्टि पहले पडी है। अखरावट और आखिरी कलाम मे अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन उन्होने इसी समन्वयवादी दृष्टि से किया है। समन्वय मे न कोरे इस्लाम धर्म की अपेक्षा की जा सकती है, न कोरे हिन्दू धर्म की। यह अस्पष्टता नही है, बल्कि मानवता के धरातल पर उदात्त वृत्तियो से निर्मित नूतन-मूर्ति की प्रतिष्ठा का प्रयत्न ही कहा जा सकता है—

५२ लोभ पाप कै नदी अकोरा। सत न रहै हाथ जौ बोरा।
जह अकोर तह नीक न राजू। ठाकुर केर बिनासै काजू॥ ५३।४।१-२॥ प०

५३ द्रष्टव्य—सूफी महाकवि जायसी—पृ० ३५०

५४ „ „ जायसी ग्रन्थावली—भूमिका, पृ० १०

बलि बिक्रम दानी बड़ अहे। हातिम करन तियागी कहे। १।१७।२।
बाहर सोइ जो पाहन पूजा। सकत को मार लेइ सिर दूजा॥ २१।४।६
महादेव देवन्ह कै पिता। तुम्हरी सरन राम रन जिता। २२।५।६
कीन्ह अरगजा मरदन औ सखि कीन्ह नहानु।
पुनि भइ चौदसि चाँद सो, रूप गएउ छपि भानु॥ २७।४३॥
पदमावति भइ पूनिउ कला, चौदसि चाँद उई सिंघला॥ २६।८२॥
आदम हौवा कहँ सृजा, लेइ घाला कै बिलास।
पुनि तहवाँ ते काढ़ा, नारद के बिसवास॥ अखरा० ६।
तिन्ह संतति उपराजा भाँतिहि भाँति कुलीन।
हिन्दू तुरुक दुवौ भए, अपने अपने दीन॥ अख० ७॥
मनुवा चंचल ढाप, बसे अहथिर ना रहे।
पाल पेटारे साप, मुहम्मद तेहि बिधि राखिए। अख० ३८॥
जो जन आन जिउ लेत हैं सरन सिन्हू पर जिउ लेव।
सो अवतरें मुहम्मद देखु तहूँ सिर देव॥ आखिरी० २०॥

हातिम और कर्ण को एक पंक्ति मे बिठाना, पाहन पूजने की निन्दा करते हुए भी महादेव को सब देवताओं से श्रेष्ठ बताना, भारतीय-काव्य-परम्परा मे रूढ पूर्णिमा की कला को फ़ारसी काव्य-परम्परा की चतुर्दशी के चाद से समवेत करना, आदम और हौवा को नारद के साथ स्वर्ग मे उपस्थित दिखाना, तथा मुहम्मद को शकर का अवतार सिद्ध करना, विचारो या इस्लाम और हिन्दू धर्म के ज्ञान की अस्पष्टता नहीं है। वस्तुत ये तथ्य इस दृष्टिकोण के साक्षी हैं कि जायसी का उद्देश्य हिन्दू और तुरक को सम-धार्मिक-धरातल पर एक ही प्रभु की सन्तान के रूप में खड़ा करना था। मन को सयमित कर, सबको प्रेम-भावना के द्वारा मानव को उच्चतम स्थान तक पहुचने की ओर निर्देश करने मे जायसी के व्यक्तित्व का भव्य-रूप स्पष्ट होता है—

पुरुषहि चाहिय ऊँच हियाऊ। दिन दिन राखै ऊँचे पाऊ।
सदा ऊँच पै सेइय बारा। ऊँचै सों कीजिय बेवहारा॥
ऊँचै चढ़ै, ऊँच खँड सूझा। ऊँचे पास ऊँच मति बूझा॥
ऊँचे संग संगति निति कीजै। ऊँचे काज जीउ पुनि दीजै॥
दिन दिन ऊँच होइ सो, जेहि ऊँचे पर चाउ।
ऊँचे चढ़ता जो खसि परै, ऊँच न छाँड़िय काउ॥ १६।५

जायसी, मानव की प्रगति मे विश्वास रखते हुए बार-बार गिर कर भी आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करने वाले कवि थे। अखरावट और आखिरी कलाम उनको इस्लाम का सच्चा अनुयायी सिद्ध करते हैं पर वहा भी मानवता को वे नहीं भूलते—

मोह मधु लागा रहे, जेहि चलि आगे जाइ।
न तु सिसि पाहि, आवइ नारग चलि न सिराइ। अख० पृ० ३२०

जायसी ने यद्यपि पद्मावत मे अलाउद्दीन के भोज के समय आमिष पदार्थों का वर्णन किया है, पर वे स्वय आचार मे किसी वैष्णव से कम प्रतीत नही होते—

> छाड़हु घिउ औ मछरी मासू। सूखे भोजन करहु गरासू।
> दूध मासु घिउ कर न अहारू। रोटी सानि करहु फरहारू॥
> एहि बिधि काम घटावहु काया। काम क्रोध तिसना मद माया॥
> अख० पृ० ३२८।

सूफी साधना के चरमलक्ष्य, प्रेम की पीर मे सम्पन्न और सदाचार मे वैष्णव, फकीर जायसी हिन्दू और मुस्लिम धर्म एव उनकी काव्य-परम्परा से पूर्ण परिचित थे। वे प्रबन्ध काव्य के सहायक विविध विषयो के ज्ञान से सम्पन्न थे। लोक-व्यवहार के तो वे प्रत्यक्ष अनुभवी थे। इतिहास और राजनीति की उन्हे जानकारी थी। वे विनम्र, सहृदय और गुणी तो थे ही, एक ऐसे कवि भी थे, जो स्वान्तःसुखाय के साथ, जनता के पथ-प्रदर्शन के लिए काव्य-रचना मे प्रवृत्त होता है। अपनी समन्वयवादी दृष्टि के कारण वे मानवता के पोषक थे। उनकी कृतिया उनके दृष्टिकोण की काव्याभिव्यक्तिया है। क्या लोकपक्ष मे और क्या भगवत्पक्ष मे, दोनो ओर उनकी गूढता और गभीरता विलक्षण दिखाई देती है।[५५]

काव्य-हेतु—

जायसी के व्यक्तित्व का परिचय देते हुए यह स्पष्ट कर दिया गया है कि वे काव्य-शास्त्र और लोक-व्यवहार मे विज्ञ थे। उनकी प्रतिभा का परिचय तो उस लोक-प्रसिद्धि से मिलता है, जिसके अनुसार उनकी कुरूपता पर हसने वाले शेरशाह को उन्होने यह कहकर चुप कर दिया था कि 'मोहि का हससि कि कोहरहि।' प्रतिभा और व्युत्पत्ति के साथ जायसी ने गुरु के पास रहकर काव्याभ्यास भी किया था—

> सैयद असरफ पीर पियारा। जेहि मोहि पथ दीन्ह उजियारा।
> लेसा हिए प्रेम कर दीया। उठी जोति भा निरमल हीया।
> मारग हुत अधियार जो सूझा। भा अजोर सब जाना बूझा॥ १८।१-३।
> अगुआ भयउ सेख बुरहानू। पथ लाइ मोहि दीन्ह गियानू। २०।२
> ओहि सेवत मै पाई करनी। उघरी जीभ प्रेम कवि बरनी। २०।७

'भा अजोर सब जाना बूझा' कहकर जायसी ने यह भी सकेत कर दिया है कि गुरु के पास रहकर अभ्यास करने और पडितो के साथ सत्सग करने से उनकी काव्य-क्षमता मे [illegible] आई।

गुरु के अतिरिक्त जायसी के हृदय की विरह-वेदना भी उनके काव्य-सृजन की एक प्रमुख हेतु प्रतीत होती है—

५५ [illegible]—जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० १२

जेहि के बोल विरह के घाया। कह तेहि भूख नींद तेहि नाया। १।२३।६
मुहमद कवि जो विरह भा, ना तन रकत न मासु।
जेइ मुख देखा तेइ हँसा सुनि तेहि आ यउ आसु। १।२३।
जोरी लाइ रकत के लेई। गाढ प्रीति नयनन्ह जल भेई॥ उप०२।२।

इस प्रकार जायसी की मान्यता के अनुसार काव्य के मुख्य हेतु-प्रतिभा और व्युत्पत्ति से बढकर गुरु कृपा और अभ्यास तथा हृदय-स्थित प्रेम की पीर या विरह-वेदना है, जो उनके काव्य-सृजन की प्रमुख प्रेरणा रही है।

काव्य-प्रयोजन

जायसी के कवि व्यक्तित्त्व का निर्देश करते हुए हमने स्पष्ट कर दिया है कि वे ऐसे कवियों को बुरा समझते हैं, जो लक्ष्मी-प्राप्ति को काव्य का प्रयोजन बनाते हैं। अत. जायसी इस प्रयोजन को स्वीकार नहीं करते। उन्होंने निम्नलिखित पंक्तियों में स्वयं ही अपनी काव्य-रचना का प्रयोजन स्पष्ट कर दिया है—

मुहमद कवि यह जोरि सुनावा। सुना सो पीर प्रेम कर पावा। उप० २।१
औ मैं जानि गीत अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा। २।३।
धनि सोइ जस कीरति जासू। फूल मरै पै मरै न बासू। उप० २।७।

श्रोताओं के हृदय में प्रेम की पीर भर देना तथा मरणोपरान्त कीर्ति को सुरक्षित रखना, ये ही दो मुख्य प्रयोजन जायसी की काव्य-रचना के हैं। यश की आकांक्षा को जायसी धनाकांक्षा की भाँति बुरा नहीं मानते—

केइ न जगत जस बेंचा केइ न लीन्ह जस मोल।
जो यह पढ़ै कहानी, हम्ह सवरै दुइ बोल॥ उप० २॥

भारतीय परम्परा, काव्य के प्रयोजनों में चतुवर्ग में से किसी एक की सिद्धि भी स्वीकार करती है। जायसी ने भी श्रोताओं के लौकिक और पारलौकिक फल के सुधरने का संकेत कर दिया है। जायसी के प्रेम-काव्य का सृजन भी उनकी प्रेम-साधना का एक माध्यम मात्र है। अत. परम-पुरुषार्थ मोक्ष भी उनके काव्य का एक प्रयोजन है। इस मोक्ष की चर्चा उन्होंने कई स्थानों पर की है—

कौन उतर पाउब तेंह मोखू। पदमा० ४।३।५
तब होइ मोख गहन जो छूटै॥ आखिरी० ५।७
नौ सौ बरस छतीस जो भए। तब एहि कथा क आखर कहे।
देखो जगत धुंध कलि माहा। उवत धूप, धरि आवत छाहा॥

यह ससार सपन कर लेखा। मागत वदन नैन भरि देखा॥

अस जिन जानेहु बढ़त है, दिन आवत नियरात।

कहै सो बूझि मुहम्मद, फिरि न कहौ असि बात॥ आखि० १३॥

जो धरमी होइहि संसारा। चमकि बीजु अस जाइहि पारा॥ आखि० २८।१

ससार को नश्वर समझ कर जायसी ने प्रेम-साधना को काव्य-साधना का आवरण दिया। इससे कीर्ति और मोक्ष दोनो की एक साथ सिद्धि होती है। येही दोनो प्रयोजन जायसी की दृष्टि मे मुख्य है।

काव्य-रूप

मध्यकाल मे प्राय प्रत्येक प्रकार के प्रवन्ध-काव्य का बोध 'कथा' शब्द से हो जाता था। कथावस्तु ही ऐसे काव्यो का मुख्य आधार है। भाषा, छन्द और वस्तु-गठन सहित उसके आकार प्रकार को कथावस्तु का शृंगार मान लिया जाता था। कथा कैसी है, इस पर कवियो का ध्यान अधिक रहता था। दृष्टि-भेद एवं रुचि-भिन्नता के कारण कविगण भिन्न-भिन्न प्रकार की कथाओ को अपने काव्य का आधार बना लिया करते थे। जायसी की भी अपनी रुचि थी, इसीलिए उन्होंने कहा है—

तुरकी, अरबी, हिंदुई, भाषा जेती आहिं।
जेहि मह मारग पेम कर, सबै सराहै ताहि॥ उप० १।

प्रेम के मार्ग का वर्णन किसी भी भाषा मे हो, वह लोकप्रिय और प्रशसनीय बन जाता है। जायसी ने भी अपने पद्मावत को दो शब्दो से अभिहित किया है 'प्रेम-कथा' और 'प्रेम-कहानी'।[५६] कही-कही उन्होने केवल 'कथा' और केवल 'कहानी' भी कह दिया है। पद्मावत की सपूर्ण कथा के एक अश, या घटना-विशेष को भी उन्होने कथा कहा है।[५७] जायसी ने कथा और कहानी दो शब्दो का प्रयोग किया है, पर वे इन दोनो मे कोई तात्त्विक भेद नही मानते—

सुरुज चाद के कथा जो कहेऊ। पेम क कहनि लाइ चित गहेऊ। ७।६।७।

कथा कहानी सुनि जिउ जरा। जानहु घीउ बसदर परा। २३।१०।७।

वह तोहि लागि कथा सब जारी। २३।१४।७

५६ पहिले ताकर नाव लै कथा करौ औगाहि। १।१।६

कथा अरभ बैन कवि कहा। १।२३।१॥ हीरामन देइ बर्चा कहानी १८।६।१

प्रेम कथा एहि भाति विचारहु। उप० १।७

कहा मुहम्मद प्रेम कहानी। अख० ४५।१

कहै प्रेम कै बरनि कहानी। अख० ५३।७

५७ सिघल दीप कथा अब गावौं। २।१।१

कथा-वाचको द्वारा कही जाने वाली कथा को भी उन्होंने कथा ही कहा है—

कतहू कथा कहै किछु कोई । २।१५।४

इन उद्धरणो मे स्पष्ट है कि जायसी ने 'कथा' शब्द का प्रयोग काव्य-शास्त्रीय अर्थ मे नही किया है। जायसी ने पद्मावत की भाषा को 'भाखा' और छन्द को चौपाई कहा है

आदि अन्त जस गाथा अहै । लिखि भाखा चौपाई कहै ।१।२४।५

जायसी द्वारा सकेतित इन तथ्यों से केवल इतना ही निष्कर्ष निकलता है कि वे प्रेम-मार्ग के वर्णन करने वाले काव्य को ही उत्तम समझते हैं। भाषा कोई भी हो प्रेम-कथा लोकप्रिय और प्रशसनीय होती है। जायसी का पद्मावत भी एक प्रेम-कथा या प्रेम कहानी है। यह कथा, नायक और नायिका के जन्म से मृत्यु तक का वर्णन करती है। यह लोक-भाषा (भाखा) मे लिखी गई है। चौपाई इसका मुख्य छन्द है। प्रेम की पीर से सम्पन्न जायसी ने अपनी संपूर्ण सवेदना और विरह-भावना से इसका सृजन किया है। जिसने भी इस काव्य को सुना उसकी आखो से आसू उमड पड़े ।[५८]

पद्मावत मे व्यवहृत काव्य-रूप का पर्याप्त विवेचन हो चुका है।[५९] व्यावहारिक दृष्टि से यह जैन-चरित काव्यो और फारसी की मसनवी शैली के अनुकरण पर निर्मित प्रेम-कथानक है। जायसी के दृष्टिकोण की परिचायक इसकी रचना-शैली भी है। यह काव्य ईरानी और भारतीय सस्कृतियो को समन्वित रूप से प्रस्तुत करने वाला मसनवी शैली का महाकाव्य है। चौपाई मुख्य छन्द है। दोहे का घत्ता दिया हुआ है। अखरावट मे एक नये छन्द, सोरठे का समावेश और कर लिया गया है।

काव्य की अमरता

कवि नश्वर और मरण-धर्मा होता है, पर उसका काव्य अमर और शाश्वत, यदि सचमुच ही उसे कोई नष्ट न कर दे—

गलि सोइ माटी होइ, लिखने हारा बापुरा ।
जो न मिटावै कोई, लिखा रहै बहुतै दिना । अख०५३॥

जायसी और रस-सिद्धान्त

जायसी ने प्रबन्ध-काव्य पद्मावत की रचना की है। उनके पूर्ववर्ती कवियो ने भी रस-सिद्धान्त को सर्वमान्य समझकर अपने प्रबन्ध-काव्यो मे वीर और शृगार को मुख्य तथा अन्य रसों को गौण रूप मे प्रश्रय दिया है। जायसी ने इन्ही दो रसो

५८ सुनि तेहि आयउ आसु । १।२३
५९ द्रष्टव्य—जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ६७ से
सूफी महाकवि जायसी—पृ० १०६ से

को मुख्यता दी है। यद्यपि नायक और नायिका के मरण के कारण यह प्रबन्ध-काव्य दुःखान्त हो गया है, पर करुण-रस की पूर्ण अभिव्यजना इसमे नही हुई है। जायसी ने पद्मावत मे 'रस' शब्द का अनेक स्थलो पर प्रयोग किया है और उसके विविध अर्थों मे उसका उपयोग किया है—

रस, स्वाद के अर्थ में

ढीन्हेसि रसना औ रस भोगू। १।६।२।
रसनहि रस नहिं एकौ भावा। ४८।५।६।

रस, मधु के अर्थ में

पुहुप पक रस अमृत साधे। १०।१।१२।।

बैन (वाक्) रस

रतन पदारथ बोल जो बोला।
सुरस प्रेम मधु भरा अमोला। १।२३।५।
कवि वियास कवला रस पूरी।१।२६।६।
रसना कहौ जो कह रस बाता ।।१०।१०।१।
हीरामन रसना रस खोला।
राते ठोर अमी रस बाता। ७।६।५
रसना सुनहु जो कह रस बाता। कोकिल बैन सुनत मन राता। ४१।१२।१।
दीन्हेसि जीभ बैन रस भाखे। आखिरी कलाम १।६।।

जायसी का यह बैन-रस, काव्य-रस से भिन्न नही है। रस-वार्ता भी प्रणय-कथा से पृथक् नही है। वाणी-सौन्दर्य और उसकी सरसता के मूल मे तीन तथ्यो की उपलब्धि को जायसी बहुत अधिक महत्त्व देते हैं—प्रथम,वाणी सत्य से सम्पन्न हो,[६०] द्वितीय, वह वाणी प्रेम की मिठास से ओतप्रोत हो और प्रियतम के विषय में प्रवाहित हो,[६१] तथा तृतीय, प्रभु के नाम लेने और स्तुति करने मे ही वाणी की सार्थकता है।[६२]

६० बचन एक जो सुनावइ साचा
 भा परवान दुहू जग बाचा ।। १।१२।७
 होई मुख रात सत्य के बाता। ६।१।२
६१ पेम क बचन मीठ कै माना ।११।८।३]
 को सुनाव पीतम कै भाखा। २०।२।७
६२ आपनि आपनि भाषा, लेहिं दई कर नाउँ। २।५।६
 कहा जीभ जेहि अस्तुति भाखा ।। २८।१।६। पदुमा०

काम या प्रेमरस (शृंगार)—

शृंगार रस का स्थायी भाव रति है। सूफी-साधना और साध्य के प्रमुख भाव के रूप में जायसी ने प्रेम और रति को ही मान्यता दी है। नायिका या स्त्रियों को संयोग शृंगार में रस-रता कहा जाता है, तथा उनकी काम-क्रीडाओं को इसी के अन्तर्गत माना जाता है। जायसी ने इस भाव को बड़ी स्पष्टता से व्यक्त किया है—

> औ दीन्ही सँग सखी सहेली। जो सँग करैं रहसि रस केली। ३।७।३
>
> कँई कदम सुरभ रस बेली। ४।१।७
>
> हुलसहिं करहिं काम कै केला। ४।१।७
>
> मैं जानउँ जोबन रस भोगू। १८।३।८
>
> नवल बसन सवारी करी। हीरा प्रगट जानहु रस भरी। ४।७।८
>
> जो अस आइ सापनन जोगू। पूँ। स्थान मान रस भोगू। १५।१०।७
>
> रहा जो भौंर कवल के आसा। रस न भेद मानै रस बासा। २७।२६।२
>
> रातिहु दिवस रहै रस भीना। २७।३५।६।
>
> अधर सोइ लागि रस देई। २७।८०।८।
>
> अधर सुरंग अमी रस भरे। १०।८।१
>
> ऐस सुरस रस मेरवहु, जेहि सो प्रीति रस होई। ४८।८।६।
>
> आइ पेम रस कहा सदेसा। १६।६।२

रस केली, रस-बेली, काम कै केली, जोवन रस, कनी रस-भरी, रस भोगू, रस-बास भोग, रस भीजा, अधर-रस, प्रीति-रस आदि का प्रयोग जायसी के रस-वादी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति मात्र है। संयोग-शृंगार के वर्णन में जिन प्रतीकों का उपयोग काव्य-रूढ़ियों के रूप में होता आया है, जायसी ने उनका यथास्थान उपयोग किया है। भ्रमर और कली, कमल और भ्रमर[63] तथा मालती[64] और भ्रमर प्रतीकों का ती उन्होंने अनेक स्थलों पर शृंगार की अभिव्यंजना के लिये प्रयोग किया है—

> बेलि जो राखी इंद्र कह, पवन बास नहिं दीन्ह।
>
> लागेउ आई भौंर तेहि, कली बेधि रस लीन्ह ॥ २७।३७॥

६३ भ्रमर कमल के प्रयोग-स्थल, जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ ६७, ७३, ७४, ७७, ७६, १०७, ११०, १३४, १३७, १४२, ६० आदि

६४ द्रष्टव्य—जायसी ग्रन्थावली, पृ० १३६

सबै सिंगार-बनी धनि, अब सोई मति कीज।
अलक जो लटकै अधर पर, सो गहि कै रस लीज ॥ ४६।२२
भौरा जान कवल कै प्रीती। १३।३।४
कवल बिगस तस बिहँसी देही। भौर दसन होइ कै रस लेहीं। १५।१०।५
कौन कली जो भौर न राई ?। २७।१२।२
जस मालति कह भौर बियोगी। २७।१६।३।
भौर मालती मिलै जो आई। सो तजि आन फूल कित जाई।

जायसी ने नायक-नायिका के लिये भ्रमर-कमल, भ्रमर-मालती, भ्रमर-केतकी, भ्रमर-चम्पा, सारस-जोडी तथा सूर-ससि को प्रतीक रूप मे ग्रहण किया है। इनमे से रत्नसेन-शूली-खण्ड मे रत्नसेन को केतकी का भ्रमर कहा गया है।[६५] चम्पा से उसे विरत कहा गया है।[६६] सूर-ससि तो फारसी-परम्परा से गृहीत है।[६७] जायसी, कमल और मालती के प्रयोग मे भी सतर्कता बरतते हैं। कमल-कली का प्रयोग अविकसित बाला के लिये तथा मालती का विकसित नायिका के लिये प्रयोग, जायसी की रस-दृष्टि का ही सूचक है—

कवल कली पदमावति रानी। होइ मालती जानौं बिगसानी। २०।२।२
भौर कवल सग होइ मेरावा। सवरि नेह मालति पह आवा। ३०।३।२
मालति लागि भौर जस होई। १६।५।३।

'सवरि नेह मालति पह आवा' काव्य-रूढि के भीतर गृहीत हो सकता है। विद्यापति ने भ्रमर-मालती को शृगार-वर्णन मे अनेक बार ग्रहण किया है। जायसी, विद्यापति के शृगार-वर्णन की पद्धति से परिचित थे, क्योंकि इन उपमानो और काव्य-रूढियो का प्रयोग जायसी ने भी प्रचुर मात्रा मे किया है।[६८] जायसी ने तो 'मालति नारी, भवरा पीऊ' कह कर इस प्रतीक को स्वय स्पष्ट कर दिया है।[६९]

जायसी ने अखरावट मे प्रेम-रस को निम्नलिखित पक्तियो मे स्पष्ट किया है—

परै प्रेम के झेल, पिउ सहुँ धनि मुख सो करै।
जो सिर सेंती खेल, मुहमद खेल सो प्रेम रस ॥ अख० ४।

६५ द्रष्टव्य—वही, पृ० १११, १७६, २५३,
जा० ग्र० पृ०, १७७
६६ द्रष्टव्य—वही, पृ० १३४
६७ ,, ,, १२३, ७७, १०६
६८ द्रष्टव्य—जायसी ग्रन्थावली—पृ० १८३, १६० १६३
विद्यापति पदावली के विरह पद
६६ जा० ग्र०—पृ० १८३

जायसी जब इस प्रेम-रस को आध्यात्मिक धरातल पर उतारते हैं, तब इस सम्पूर्ण प्रेम-साधना और प्रेम-रस को एक ही ब्रह्म मे समाहित कर देते हैं—

> आपुहि पुहुप फूलि बन फूले। आपुहि भवर बास रस भूले।
> आपुहि फल आपुहि रखवारा। आपुहि सो रस चाखन हारा॥
> अख० १८॥ ५-६।

> सोई घट घट होई रस लेई। अख० ३४।७॥

जायसी रस-सिद्धान्त के प्रयोक्ता थे, इसके लिए कुछ तथ्यों को उद्धृत कर देना आवश्यक है। शृंगार के मूल भाव 'रति' के सकेत ऊपर दिये जा चुके हैं। प्रेम के सम्बन्ध मे जायसी ने स्वय बहुत कुछ कहा है[70] और आलोचकों ने उनकी प्रेम-पद्धति पर प्रचुर प्रकाश डाला है। हम यहाँ शृंगार के कतिपय अंगों के सम्बन्ध मे जायसी के कथनो को इसलिये उद्धृत कर रहे है, जिससे उनके भारतीय काव्य-सिद्धान्तो के ज्ञान को स्पष्ट किया जा सके—

नायक[71]—

> मैं पिउ-प्रीति भरोसे, गरब कीन्ह जिउ माह।
> तेहि रिस हौं परहेली, रूसेउ नागर नाँह॥ ८।७।
> एतनिक दोस बिरचि पिउ रूठा। जो पिउ आपन कहै सो झूठा ८।७।२
> कहु है पिउ कर खोज। अख० २३।
> लछन बतीसौ कुल निरमला। बरनि न जाइ रूप औ कला। १६।३।८
> पुरुष गभीर न बोलहिं काहू। जो बोलहिं तौ और निबाहू॥ २८।१४।७।
> बहु सुगध बहु भोग सुख, कुरलहि केलि कराहि।
> दुहु सो केलि नित मानै, रहस अनद दिन जाहिं॥ ३६।१४।
> तुइ जिमि कवल बसी हिय माहा। हौं होइ अलि बेधा तेहि पाहा।
> मालति कली भवर जौं पावा। सो तजि आन फूल कित भावा॥ ३५।१२।१२

नायक को रूप-गुण से सम्पन्न तो होना ही चाहिए, उसे वीर, कला-प्रेमी, काम-कला-कुशल, कभी शठ (रूसेउ) तथा कभी अनुकूल भी होना चाहिये। विद्यापति एव चद ने नायक के जिन दो गुणो को प्रधानता दी है, जायसी ने भी रत्नसेन में इन्ही गुणो को निम्नलिखित रूप मे प्रदर्शित किया है—

[70] प्रेम के लिये जायसी के दृष्टिकोण को निम्नलिखित स्थलो पर देखा जा सकता है—
३।१०।४, ४।६।८, ६।३।६, ११।४।७, १२,१४,५ १४।१।५, २२।५।२३, २३।१४।२, २४।१।१।८।६।, ३१।७।८ आदि। खड, दोहा, पक्ति के ये क्रमश सकेत हैं

[71] नायक-रूप वर्णन, शा० ब० पृ० १८३

हौ अस जोगी जान सब कोऊ। बीर सिंगार जितै मै दोऊ।

उहा सामुहें रिपु दल माहा। इहा त काम कटक तुम्ह पाहा। २६।४।१७-२।

नायिका[72]—

पद्मावत की दोनो ही नायिकायें नागमती और पद्मावती सती-साध्वी हैं। वे प्रबन्ध-काव्य के लिये आदर्श नायिकायें है। जायसी अनेक स्थलो पर सतीत्व की प्रशसा करते है।[73] काव्य-परम्परा के अनुसार उन्होने कई प्रकार की अन्य नायिकाओ का भी सकेत किया है—

बाला (कन्या)—सबै नवल पिउ सग न सोई। ३।५।४।

वय सन्धि[74]—मै उनत पदमावति नारी। ३।६।१।

जौबन सुनेउ की नवल बसतू। १८।३।२।

अबही कवल-करीहित तोरा। १८।४।३।

कुलवती— धनि कुलवति जो कुल धरै, कै जोबन मन लाज। १८।७।

यौवन-गर्विता—जोबन गरब न में किछु चेता। २७।११।६।

नवोढा— सकुचै डरै मनहि मन बारी। २७।१५।३

स्वकीया— फूलहु फलहु सदा सुख और सुख सकल सोहाग। २७।४१

रूप-गर्विता— मै हौ सिंघल कै पदमिनि ।। ३५।११।४

सपत्नी— मो कहँ बिरह सवति दुख दूजा। ३०।८।७

सवनि न होहि तू बैरिनि। ३१।३

खडिता— रैनि नखत गनि कीन्ह बिहानू।

बिकल भई देखा जब भानू।। ३५।१०।३।

प्रोषित-पतिका—नागमती वियोग खड।

प्रवत्स्यत्पतिका—चूरहिं पिउ अभरन उर हारा।

अब का पर हम करब सिंगारा। १२।८।४।

रति-युद्ध और रति-चिन्हिता का वर्णन, पद्मावती-रत्नसेन-भेंट खण्ड[75] मे देखा जा सकता है। जायसी ने सपत्नी-युद्ध[76] भी प्रस्तुत कर दिया है। नायिकाओ मे विद्यापति ने गलित-यौवना का भी वर्णन किया है, जायसी ने देवपाल-दूती-खड मे

७२ द्रष्टव्य—जायसी ग्रन्थावली, पृ० २२३, २६७, २६६, आदि

७३ नायिका रूप वर्णन—जा० ग्र० पृ० १०७, २०६

७४ और भी—जा० ग्र०, पृ० २७०

७५ जा० ग्र०, पृ० १४०, १४३

७६ जा० ग्र०, पृ० २६८

इसका उपयोग किया है।[७७] योगिनी का वर्णन बादशाह-दूती-खड मे है। काम-शास्त्रीय पद्मिनी, चित्रिणी, हस्तिनी और शखिनी के वर्णन के लिये तो जायसी ने पूरा, स्त्री-भेद-वर्णन-खड ही दे दिया है।[७८] दूत-दूती का प्रयोग, सयोग या वियोग-शृगार के वर्णन का आवश्यक अग माना जाता है। सदेश-काव्यो के सृजन के लिये यह एक आधार बन जाता है।

जायसी की एक अपनी विचित्र शृगारिक-कल्पना का वहाँ दर्शन होता है, जहाँ वे कमान या तोप का नारी के रूप मे चित्रण करते है।[७९]

शृगार के वियोग-पक्ष के वर्णन मे तो जायसी को प्रचुर ख्याति मिल चुकी है।[८०] जायसी का दृष्टिकोण है—'प्रीति बेलि सग बिरह अपारा' और 'पीर न जाने बिरह बिहूना,' षड् ऋतु और बारह मासा का वर्णन तो उन्होने रुचि के साथ किया है। विरह की विविध दशाओ का उन्होंने मार्मिक चित्र उपस्थित किया है।[८१] जायसी ने शृंगार रसान्तर्गत आने वाले पोषक अनुभावो, व्यजक सचारी और सात्विक भावो को भी प्रसगानुकूल, प्रस्तुत किया है।[८२]

अन्य रस—

जायसी ने अखरावट के निम्नलिखित सोरठा मे 'नव रस' का उल्लेख किया है। गुरु को रसज्ञ तो उन्होंने कहा ही है, यह भी सकेतित होता है कि प्रिय-मिलन के लिये ही सभी रसो की उपयोगिता है—

> नव रस गुरू पह मॉगा गुर परसाद सौं पिउ मिलै।
> जामि उठै सो बीज, मुहमद सोई सहस बुद॥ अख० ४६॥

रस-प्रयोग—

पद्मावत का मुख्य रस शृगार है[८३] और उसके दोनो पक्षो—सयोग और वियोग का जायसी ने विस्तृत-वर्णन, अगो-उपागो सहित किया है। डॉ० जयदेव ने जायसी-

७७ वहीं, पृ० १६६
७८ जा० ग्र०—पृ० २०७-८
७९ वहीं, पृ० २२५, कहौं सिगार जैसि वै नारी
८० वहीं द्रष्टव्य—क्रमश २४।१६।६ और २७।५।३॥, १७।२।३
८१ वहीं द्रष्टव्य—पृ० ४८, ६७, १५२, २५१, २६५, २६६, २७८, २८३, २८५
८२ जायसी ग्रन्थावली—

पूर्वराग (पृ० ३६), मूर्छा (पृ० ४२, १७७), जडता (पृ० ५१), अश्रु (पृ० ५१, २८०) विवसता (पृ० ५३), उन्मतता (पृ० ६४), अनिद्रा (पृ० ७३), आनन्दाश्रु (पृ० ७६), स्वप्न-मिलन (पृ० ८५), प्रेमयोग (पृ० ११२), सात्त्विक भाव वर्ई (पृ० ६६, ११२) आदि

८३ द्रष्टव्य—जायसी ग्रन्थावली, भूमिका पृ० ३६-५४

प्रयुक्त करुण रस का विवरण देते हुए उन स्थलो को भी इसके अन्तर्गत समाविष्ट कर लिया है, जहाँ करुण रस नही है।[८४] यदि जोगी खड मे वर्णित प्रवत्स्यत्पतिका के वर्णनो को करुण रस के अन्तर्गत मान लिया जाय तो करुण और वियोग शृगार दोनो के साथ अन्याय होगा। स्वय जायसी का कथन है—

रोवहिं नागमती रनिवासू। केइ तुम्ह कन्त दीन्ह बनवासू। १२।६।१

प्रिय का वनवास, विरह-दु ख की अभिव्यजना करता है, करुण रसान्तर्गत शोक का नही। करुण का एक ही स्थल है, रत्नसेन की मृत्यु पर पद्मावती और नागमती के सती होने का प्रसग। वहाँ भी जोगी खड की भाति ही जायसी ने—छोरे केस मोति लर छूटी। जानहु रैनि नखत सब टूटी। ५७।१।३। कहकर मोती की लडियाँ टूटने का वर्णन किया है, पर वह प्रथम प्रसग से सर्वथा भिन्न है—

टूटे मन नौ मोती, फूटे दस मन काच।
लीन्ह समेटि सब अभरन, होइगा दुख कर नाच॥ १२।८॥

इसका सम्बन्ध नागमती-सदेश खड से है, जब नागमती कहती है—

जोगी होइ निसरा सो नाहू। तब हुत कहा सदेस न काहू। ३१।१।६।

वीर रस—

वीर रस के स्थायी भाव, उत्साह की प्रसगवश कई स्थलो पर अभिव्यजना मिली है—

हौं सो रतनसेन सनबधी। राहु बेधि जीना सैरधी।
जियत सिंह के गह को मोंछा? ४२।३।३-७।
अगद कोपि पाव जस राखा। टेकों कटक छतीसौ लाखा।
गोरा-बादल युद्ध। ५२।२।६।

वीररस का पूर्ण परिपाक गोरा-बादल-युद्ध-खड मे हुआ है। यहाँ रौद्र, अदभुत और भयानक रस को सचारियो के रूप मे प्रयुक्त किया गया है। रत्नसेन-सूली-खड मे अगद और हनुमान को योगियो के पक्ष मे युद्ध करते दिखाकर अद्भुत रस का सृजन किया गया है। पद्मावती-रत्नसेन-भेंट-खड मे हास्य के कुछ छीटे हैं।

रस द्वन्द्व—

वीर और शृ गार परस्पर-विरोधी रस हैं। शृगार के अन्तर्गत रति-युद्ध का वर्णन तो प्राचीन साहित्य मे भी मिलता है किन्तु चन्द और विद्यापति ने भी इन्हे

[८४] द्रष्टव्य—सूफी महाकवि जायसी, पृ० २५६

एकसाथ प्रस्तुत किया है। जायसी ने हिन्दी काव्य-परम्परा का अनुसरण करते हुए ही वीर और शृंगार को एकसाथ प्रस्तुत किया है—

> हौं अस जोगी जान सब कोऊ। बीर सिंगार [illegible] कोऊ।
>
> जहाँ नाम हैं [illegible] दल आहा। [illegible] सहस [illegible] जाहा। [illegible]
>
> कीन्ह सिंगार कुंभ मैं माला। [illegible]
>
> बीर सिंगार दोउ एक ठाऊँ। [illegible] नाऊँ। [illegible]

यद्यपि वे इस तथ्य से परिचित थे कि स्वाद की दृष्टि से दोनों परस्पर-विरोधी रस है—

> तुइ अबला धनि। कुबुधि बुधि जानै काह जुझार।
>
> जेहि पुरुषहि हिय बीर रस, भावै तेहि न सिंगार॥ ५२।६॥

अन्य काव्य-सिद्धान्त—

जायसी ने रस के अतिरिक्त अन्य किसी काव्य-सिद्धान्त का संकेत नहीं किया है। पद्मावत में प्रयुक्त अलंकार स्वाभाविक रूप से आये हैं और कहीं भी इनके चमत्कार-प्रदर्शन की रुचि नहीं दिखाई पड़ती। जायसी ने सादृश्य मूलक अलंकारों का ही अधिक प्रयोग किया है।[८५] जायसी ने सादृश्य-मूलक अलंकारों में उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति, व्यतिरेक, प्रतीप, अतिशयोक्ति, भ्रम, तथा अन्य अलंकारों में असंगति, अर्थापत्ति, पर्यायोक्ति, अर्थान्तरन्यास, उत्तर, विरोध, दृष्टान्त, विनोक्ति, विभावना, विशेषोक्ति, परिणाम, परिकरांकुर, दीपक, अनन्वय, तथा अन्योक्ति आदि का प्रयोग किया है। शब्दालंकारों में श्लेष, अनुप्रास और यमक का प्रयोग हुआ है। मुद्रा और अत्युक्ति के भी कई उदाहरण हैं।[८६] जायसी ने लोकोक्तियों का प्रचुर उपयोग किया है।[८७]

जायसी ने सादृश्य के लिए जहां रूढ़ उपमानों[८८] को ग्रहण किया है, वहां कतिपय नूतन उपमानों का भी उन्होंने समावेश किया है—

> कुच कंचुकी सिरीफल उभे। २७।१०।४
>
> का हम दोष लाग एक गेंडू। ३२।७।४।

८५ जायसी ग्रन्थावली की भूमिका, पृ० १०३ पर शुक्ल
अलंकार विधान के लिये द्रष्टव्य, वही, पृ० १०३-१२० तक

८६ द्रष्टव्य—सूफ़ी महाकवि जायसी, पृ० १५४-१७५ तक। समर—प्रया० पृ० ६१, ६२

८७ द्रष्टव्य—जायसी ग्रन्थावली, पृ० ५५, ५६, ५७, ६२, ६४, ६६, ७०, ७४, ८३, ८७, ८८, ९२, १००, ११६, १२३, १५४, १५७, २६९ और ३१७

८८ द्रष्टव्य—उदाहरणार्थ, जा० ग्र० पृ० १६५

घुघची, श्रीफल, गोहू, परवल आदि का ग्रहण जायसी ने उपमानो के रूप मे इसीलिए किया है, जिससे काव्य के मूल-भाव को जन-साधारण आत्मसात् कर सके।

रसानुवर्ती-कवि-जायसी—

जायसी के द्वारा सकेतित और व्यवहृत काव्य-सिद्धान्त मे एकमात्र 'रस' को ही स्थान उपलब्ध होता है। ये भी रसानुवर्ती कवि ही है। जायसी एक सच्चे मुसलमान थे, पर उनकी दृष्टि अत्यन्त ही उदार थी। अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण के अनुसार ही उन्होने पद्मावत को आकार दिया है। पद्मावत प्रबन्ध काव्य है। रस, प्रबन्ध-काव्य का आत्म-तत्त्व होता है, अत पद्मावत के सृजन के समय जायसी जैसा महाकवि इसकी उपेक्षा कर ही नही सकता था। जायसी के सामने अपभ्र श की काव्य-परम्परा थी। इन्होने दोहे के घत्ते के साथ, चौपाई के कडवको मे पद्मावत को निबद्ध किया। हिन्दू और मुस्लिम सस्कृति मे समन्वय स्थापन के लिए इन्होने अनुकूल कथा-वस्तु का चयन किया। जायसी मुसलमान थे अत पद्मावत के आरम्भिक अश पर मसनवी शैली की छाप का दिखाई पडना स्वाभाविक है। बीच-बीच मे हातिम और कर्ण, पूर्ण चन्द्र और चतुदर्शी के चन्द्र को एकसाथ प्रस्तुत करने मे जायसी की समन्वय दृष्टि ही सहायक रही है। पद्मावत को मसनवी शैली का महाकाव्य कहने की अपेक्षा मुस्लिम दृष्टिकोण को उदारता से अपने अक मे समेटे एक ऐतिहासिक-धार्मिक-काव्य कहना अधिक उपयुक्त होगा। धार्मिक-दृष्टि पौराणिक काव्यो की आधार-शिला रही है। पौराणिक आख्यानो के उद्धरण पद्मावत मे मुस्लिम-परम्परा के उद्धरणो से बहुत अधिक है।[८९]

जायसी को हिन्दी काव्य-परम्परा से पृथक् कर देखना उचित प्रतीत नही होता। जायसी, चद, विद्यापति और कबीर तीनो से ही प्रभावित है। तुलनात्मक अध्ययन द्वारा इसी निष्कर्ष पर पहुचा जा सकता है।[९०] रस-सिद्धान्त को मान्यता देने

८९ पौराणिक उद्धरणो के लिये द्रष्टव्य-जायसी ग्रन्थावली, पृ० ३७, ४४, ५५, ५७, ६३, ८५, ९१, १०५, १०६, ११६, ११८, १२६, १२८, १५१, १८२, १९९, २८० ।
मुस्लिम प्रभावापन्न स्थल—४५, ४६, ६५, ८४, ८७, ९२, ९७, १०८, १४५, १४९, १५४, २४३ पृ० पर द्रष्टव्य

९० तुलना के लिये पद्मावत के निम्नलिखित स्थल देखे जा सकते हैं—
चन्द से—भाट-वर्णन (२५।१२।२), स्त्रीभेद वर्णन, पिंगल (पृ० १९९) रस-द्वन्द्व स्थल, स्वामी धर्म (ग्रन्था० पृ० २३१, २८४, १८२).
विद्यापति से—लोक जीवन के चित्रो से—ग्र० पृ० ५५, २५१, तथा भावसाम्य की दृष्टि से—सुपुरुष, रस-द्वन्द्व तथा पेमहि माह विरह रस रसा। १७।२।३,
परिषद् पदावली पद २२२ जैसी पक्तियो से
कबीर से—प्रेम सुरा (पृ० ६५, ८४), विरह पतग (पृ० ७३) आदि तथा कबीर ग्रन्थावली

वाले कवि को फारसी परम्परा से प्रभावित या उसका अनुवर्ती नही माना जा सकता। मौलाना दाउद सहित सभी पूर्ववर्ती कवियो और उनकी कृतियो से वे अनभिज्ञ थे। आचार्य शुक्ल के शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि "जायसी कवि थे और भारतवर्ष के कवि थे। भारतीय पद्धति के कवियो की दृष्टि, फारस वालो की अपेक्षा प्राकृतिक वस्तुओ और व्यापारो पर कही अधिक विस्तृत तथा उनके मर्मस्पर्शी स्वरूपो को कहीं अधिक परखने वाली होती है।' जायसी भारत के कवि तो थे ही, भारतीय काव्य-परम्परा मे सर्वाधिक मान्य, रस-सिद्धान्त के प्रयोक्ता भी थे। शृगार के सयोग और वियोग पक्ष की मार्मिक-अभिव्यन्जना, रस-द्वन्द्व का प्रस्तुतीकरण और विविध स्थलो पर किये गये नवरस के सकेत जायसी की रस-दृष्टि को ही स्पष्ट करते हैं।[६१]

मझन की मधुमालती में संकेतित और व्यवहृत काव्य-सिद्धान्त

मझन ने मधुमालती की रचना १५४५ ई० के लगभग की।[६२] पद्मावत के अट्ठाईस वर्ष बाद की इस रचना पर जायसी की छाप पडना स्वाभाविक ही है। मधु-मालती के आरम्भिक अश पर पद्मावत की वर्णन-शैली का प्रभाव पूर्णत व्यक्त है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त के शब्दो मे, 'मझन, सच पूछिए तो उत्कृष्ट कथाकार भर हैं, महाकाव्यकार बनने का उन्हे तनिक भी मोह नही है। उनकी रचना केवल प्रेम-रसिक के लिए है। 'उनका लक्ष्य है—प्रेम-रस, काव्य-रस नही, और इसी दृष्टि से हमे मझन की इस कृति को देखना चाहिए।'[६४]

काव्य-रूप का सकेत—

विद्यापति[६५] ने अपने मुक्तक-काव्य मे प्रेम-कथा को सरस-कथा कहा है।

प० १५, २६, ३६, ६२, ८०, १००, ७३, १११, १३२, १४३, १४४ की कई पक्तियो से अखरावट तो रमैनी चौतीसी से पूर्ण प्रभावित है। केवल दृष्टि भेद मात्र है। कबीर हिन्दू-तुरुक दोनो धर्मो को अस्वीकार करते हैं, और जायसी यह मानते हैं कि इस्लाम के सिद्धान्तो को स्वीकार करके भी हिन्दू धर्म और जाति के साथ समन्वय और प्रेम का पारस्परिक व्यवहार सभव है—
देखिए—हिन्दू तुरुक झूठ कुल दोइ। रमैनी १०। कबीर
हिन्दू तुरुक दुवौ भये अपने अपने दीन। अख० ७ जायसी

६१ जायसी ग्रथावली, भूमिका, पृ १६५

६२ मधु मालती—मझन, सपादक, डॉ० माता प्रसाद गुप्त, मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद, राज सस्करण, १९६१, प्रति प्रयुक्त।

६३ सन नौ सौ बावन जब भए। सती पुरुख कलि परिहरि गए।
तब हम जिय उपजी अभिलाखा। कथा एक बधउ रस भाखा। म० ६९॥

६४ मधुमालती की भूमिका—पृष्ठ १८ पर

६५ विद्यापति भी प्रेम कथा के लिये, कहिनी (पद ६), अकथ कथा (पृ० २१), पिअतम-कथा (पद ५९) आदि का प्रयोग करते हैं

जायसी भी पद्मावत को प्रेम-कथा ही कहते है। प्रेम-कथा यदि सरस है, तो उसे काव्य-रस से पृथक् करना कठिन ही है। मझन स्वय मधुमालती के स्वरूप के लिए निम्नलिखित सकेत करते हैं—

कथा एक बाधउ रस भाखा। ३६।१
अम्रित कथा सुरस रस, सुनहु कहा सम गाइ। ३६।६॥
कथा एक चित दइय उपानी। ४०।१
अम्रित कथा कहौं अब गाई॥ ४३।१।
आदि कथा द्वापर चलि आई। कलिजुग मह भाखा कै गाई। ४४।१
बहुरि कुवरि रसकथा उभासी। जनु कुमुदिनि ससि पेम बिगासी। ११०
अब उतपति सुनु रस कै बाता। जैसे कुवर पेम मदमाता। ६४।१
पुनि रस-बचन सोहागिनि बोली। १०८।१
कहै लाग सो कामिनि, अम्रित बचन रसार।
आटौ गात स्रवन कै, सुनै सो राजकुमार॥ १०६
पुनि पेमै रस बचन उघारा॥ २२२।१
सुनै स्रवन सभ अकथ कहानी। २३७।४।
सुनत कुवर रस बात सोहाई। २४२।१
कहु रस बचन जो पूछौं तोही। २४४।१
अम्रित कथा कहौ करु काना। २४६।२
पेमकथा अम्रित रस भरी। २५३।१
रस बातनि गए दुवौ भुलाई। २६०।१
किछु रस बचन कहब किछु भारी॥ ३५२।१॥
कहि रस बचन पखि सतोखी। ३७५।१॥
कथा बढनि देखि मैं न सराहे। ४३२।२॥

इन सकेतो के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि मधुमालती एक सरस प्रेम-कथा है। इसके लिये कथा, अमृत-कथा, रस-कथा, रस-वार्ता, रस-बचन, अमृत-बचन तथा प्रेम-कथा शब्दो का प्रयोग मझन ने किया है। 'आदि कथा द्वापर चलि आई', से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मझन ने इसे परम्परा या लोक-जीवन से प्राप्त किया। 'कथा एक चित दइयं उपानी' से यह भी सकेत मिलता है कि मझन ने मन प्रसूत अशो का भी इसमे मिश्रण किया है। इस सरस-कथा की रचना 'भाखा' (अवधी) में हुई है और यह गेय है। 'गाइ' और 'गाई' का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि मंझन

मझन का दृष्टिकोण है कि कविता-गात्र धारण करने पर, प्रेमी और कवि दोनो का ही नाम इस ससार मे अमर हो जाता है—

औ अग्नि जह छावै, असो सुमर सो ठाउ ।
कविता गात जवहि लहि, रहइ जगत नहं नाउं ॥ ५३६ ।

मझन के इन स्पष्ट उल्लेखों से उनकी काव्य-प्रयोजन-सम्बन्धी धारणा के सम्बन्ध मे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रेमाभिलाषी रसिक जनो का अनुरजन, प्रेम का प्रचार तथा कीर्ति और अमरता की उपलब्धि इनके काव्य के प्रमुख प्रयोजन हैं।

काव्य-सिद्धान्त—

मझन ने 'जो सम रस मह राउ रस, ताकर करौं बखान'[९६] कहकर 'मधुमालती' का लक्ष्य और अपनी काव्य-सम्बन्धी मान्यता को स्पष्ट कर दिया है, परन्तु डॉ० माता प्रसाद गुप्त के इस कथन की पृष्ठभूमि पर इसका विचार अपेक्षित है कि 'उनका लक्ष्य है प्रेमरस, काव्य रस नही।' काव्यरूप को स्पष्ट करते समय कई ऐसे उद्धरण दिये जा चुके हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि प्रेम-कथा को मंझन सरस कथा मानते हैं। जिस 'राउ रस' के वर्णन की प्रतिज्ञा मंझन करते हैं उसका स्वरूप क्या है, इसके निर्धारण का कार्य कवि, आलोचकों पर नहीं छोड़ता। मझन का कथन है—

कबहू पेम महारस लेहीं। कबहू जीउ नेवछावरि देहीं। १३४।४

यहा 'राउ-रस' को ही मझन 'प्रेम-महारस' कहते हैं। मझन का यह 'प्रेम महारस' या 'राउ-रस' शृगार रस से भिन्न कुछ नहीं है। शृगार के 'सभोग-पक्ष' के वर्णन के प्रसग मे ही इस प्रेम-महारस का उल्लेख किया गया है अत. दोनो की अभिन्नता के विषय मे मंझन स्वय भ्रान्ति नही रहने देते। रति-प्रसग के वर्णन मे वे कहते हैं—

कबहू आलिंगन रस देई। कबहू कटाछ जीउ हरिलेई। १३२।२।
कबहू नैन जीउ हरिलेहीं। कबहू अधर सुधानिधि देहीं। १३२।५।
नैन सोहागिनि बिस बसै, अधरन्ह अम्रित वासु।
नैन कटाच्छै जो मरै निटसि जियावहि तासु। १३२।
कबहू पेम रस माती, गरबन दिस्टि न लाउं।
कबहु पेम माउ रस मोटी, प्रीतम दासि कहाउं। १३३॥
कबहू लाज समुझि कुल आवा। कबहू रहस हुलास होइ आवा। १३४।५
सेज बदलि कै सोये, जनु सुरत अंत बिकरार। १३५।७

९६ द्रष्टव्य—मधुमालती, १३७-१३६ पृ०

शृंगार-रसिको को मझन के इस मनोहर-मधुमालती के सुरत वर्णन मे 'रस-राउ' के विभावानुभावादि सभी अंग उपलब्ध हो जायेगे। सुरतान्त के बाद काव्य-परम्परा मे गृहीत रति-चिन्हो का वर्णन करना भी मझन नही भूले—

वलया सैन परी किछु फूटी। कचुकि कसनि उरहिं गै टूटी।
औ पुनि अग चीर गा मागी। नख रेखा कुच ऊपर लागी।
उरहि हार हारावलि टूटी। उघसी माग वेनि गै छूटी।
देखहिं सेज मलगजी आई। औ लिलार गा तिलक मिटाई।
कुंवर अधर पर परगट, परी जो काजर लीक।
औ सोमिन कारी मह दीसी, नैन सोहागिनि पीक॥ १३६॥
देखा सखिन्ह खन गा राई। परगट सुरत चिह्न सव पाई। १५८।५

सूफी काव्यो मे प्रयुक्त सूफी कवियो का प्रेम-रस, काव्य के शृंगार-रस से पृथक् और भिन्न रस नही है। पद्मावती-रत्नसेन मिलन-खड मे इसी प्रकार का वर्णन देखा जा सकता है। मझन ने रस-भाव की वातो को रति का उन्नायक माना है—

सुनत कुवर रस भाउ कै वाता। जागेउ मदन वियापेउ गाना। १२४।१

मझन ने रस-वचन[100] से भी रस पाने का स्पष्ट उल्लेख किया है—

सुनि रस वचन रसहि रस पावा॥ १२२।२।
किहेहु मोहि रस वातन्ह वौरी। १५३।३।

रस-वचन से रस-प्राप्ति का सकेत कांव्य-रसिको के लिये भी उपयुक्त है। सहस्रो भावो मे एक भाव शृगार का रति भाव ही है।[101] उसे ही सुना और शृगार का रति भाव सराहा जा सकता है।

मझन ने शृगार रसान्तर्गत नायिका की वय सन्धि का भी वर्णन किया है—

सदा दुवौ सुख वेरसहिं, दुख कै न जानें वात।
वाल साधि नौ जोवन, औ सिर ऊपर तात ॥४६३।६-७।
नव जोवन उर उपनत, वालेपन के साथि।
भूलहिं सम लइ वाउरी, अंवर करि कसि वाधि। ४६८।६-७।

प्रथम समागम मे नायिका की मन स्थिति का भी मझन ने वर्णन किया है।[102]

१०० द्रष्टव्य और भी, ३६५।१, ३७५।१ मधुमालती।
१०१ द्रष्टव्य—मधुमालती, सहस भाउ मह भाउ एक, सुनहु सराहौं सोइ। ४७८।७।
१०२ प्रथम समागम वाला सौंह न दिस्टि करेइ। ४४७।७।
प्रथम समागम मन थहराही। ४४६।२।

विप्रलम्भ शृ गार का सकेत और वर्णन दोनो ही मंझन ने किया है। विरह की महत्ता का प्रतिपादन तो सूफी काव्यों का सर्वोत्तम स्थल माना जाता है। मंझन ने भी विरह का स्वरूप अनेक स्थलो पर व्यक्त किया है—

> सिस्टि मूल विरहा जग आवा। पै बिनु पुन्न पुन्नि को पावा। २६।५
>
> बिरह कठिन कोउ जान न पारा। कै बिधि जान, कै जान मरारा।१५२।५
>
> वेदन बिरह बेद का करै। १५५।१॥
>
> ढरै नीर दुहु लोचन, चैनन चित्त समाइ।
>
> बिरह खरग कर घायल, किछु नाही उपचार। १५७।६-७॥
>
> बिरह दुक्ख दुख कहीं न कोइ। जग मो बिरह दुक्ख सुख होई। २३२।४।
>
> बिरह आगि हिए निल न बुझाई। अमर अगिनि बिरहै तन लाई।२६८।५॥

विरह सृष्टि के मूल मे विद्यमान है। बडे पुण्य से इसकी उपलब्धि होती है। विरह वेदना को विधाता, और विरही के शरीर के अतिरिक्त कोई नही जान पाता। यह अमर अग्नि है, इसे दुःख कहना उचित नही। यह एक सुखात्मक अनुभूति है। अश्रुप्रवाह, बेसुधपन आदि उसके लक्षण है।[103] विरह, जीवन-मरण के संघर्ष की स्थिति है—

> पेम बिछोह न सहि सकौ, मरौ तो मरि नहि जाइ।
>
> दुइ दूभर मह मै परी, दगध न हिए बुझाइ। ३१०।६-७॥

मझन विरह के विना जीवन को ही निष्फल समझते हैं—

> मझन एहि जग जनमि कै, विरह न कीना चाउ।
>
> सूने घर का पाहुना जेउ आया तेउ जाउ॥ २३६।६-७।

'मधुमालती' के नायक-नायिका मनोहर और मधुमालती हैं। पताका नायक-नायिका ताराचद और प्रेमा हैं। शृ गार-रस-प्रधान यह कृति है। लोक कथाओ का अनुसरण कर प्रेमा की मुक्ति के लिए मनोहर और एक राक्षस का युद्ध करवाया गया है, पर वहा वीर रस के परिपाक जैसी कोई स्थिति नही हैं। रस को मान्यता देकर भी मझन ने काव्य-कथा के अनुकूल केवल शृगार रस की ही व्यजना की है।

अन्य काव्य-शास्त्रीय विचार—

गुण—इस रचना मे कवि ने प्रसाद गुण को प्रमुखता दी है—

> मै छाडेउ गुन कर परसादू। ३६।५।

करुणा— करुना मैं न बखाना, समदत राज कुमारि।

> दुवौ कुवरि जब चलिहहिं तन किछु कहब बिचारि। ४६१।

[103] विरह दशा के वर्णन—द्रष्टव्य, मधुमालती, २४२।

कवि ने पुनरावृत्तियो से बचने का प्रयत्न किया है।

विषयान्तर से बचना—

हरि हरि कहा गण्उ कह रहेऊ। का किछु कहै लिपउ का कहेऊं ।६८।१

औचित्य का ध्यान—

गुरुजन लाज मनहिं मन मानेउ। तौ नहिं मदन भडार बखानेउ। ६७।२।

अलकारो का प्रयोग—

मभन ने सादृश्य अर्थ मे एक स्थल पर उपमा का उल्लेख किया है—

पिय उपमा बरनौं केहि लाई। सइ बिसकर मै चाक फिराई। ६२।१।

मभन अलकारो के प्रदर्शन मे कही भी रुचि लेते नही दिखाई पडते। स्वाभाविक रूप से आये हुए उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि के ही दर्शन होते हैं।[१०४]

उक्ति—

मभन अलकृत कथन को उक्ति मानते हैं, यह निम्नलिखित पक्ति से सकेतित होता है—

मति हीन किछु उकति न आई। मधु कपोल बरनौं केहि लाई। ८६।१॥

रसिक द्वारा रसास्वादन—

रस कै बात रसिक पै जानै। बिनु रस रसिक निरस कै मानै। ४३।२

जा कह जेहि रस मह रस होई। तेहि रस मह रस पावै सोई। ४३।४

रस के मर्म को रसिक ही समझता है। रुचि-भेद से रसिक-जन विविध रसो मे से किसी विशिष्ट रस के आस्वादन मे अधिक आनन्द प्राप्त करते हैं। रसिक-जन के सस्कार ही इसमे कारण होते हैं। मभन इसका सकेत करते हुए कहते है—

जो जेहि रस कै जान न बाता। सो तेहि रस अनरस उतपाता। ४३।५।

वाग्-ब्रह्म का स्वरूप—

मभन ने जहा रचना के आरम्भ मे ईश्वर, उसके नबी, चार खलीफाओ, शाह-ए-वक्त, पीर और आश्रयदाता का गुण गान किया है, वही और उसी क्रम मे उन्होने तीन[१०५] कडवको मे वचन की महिमा का भी वर्णन किया है। वे उसे बहुमूल्य और ब्रह्म की भाति ही निराकार मानते हैं—

वचन अमोल पदारथ, बरन न सकेउं उरेखि।
वचन पेम विधान कर, जाके रूप न रेख ॥२६॥

१०४ उदाहरणार्थ द्रष्टव्य—उत्प्रेक्षा, ११०, उपमा, ६२, रूपक २२६ आदि

१०५ द्रष्टव्य—मधुमालती, २४-२६

इस वचन से ही काव्य की उत्पत्ति होती है, हृदय के भावो की अभिव्यक्ति होती है।[१०६] वाणी ससार मे सबसे बडी है।[१०७] वचन से ही त्रिभुवन नाथ की भी उत्पत्ति हुई।[१०८]

प्रेम और वचन दोनो को ही मझन ब्रह्म और सृष्टि से पूर्व ही उत्पन्न मानते है।[१०९] सृष्टि के मूल मे विरह[११०] को मान कर वे प्रेम, वचन और विरह को एक सूत्र मे पिरोकर अपने एक विशिष्ट दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हैं। वे इन्हे शाश्वत और सनातन समझते है। जो काव्य प्रेम और विरह के वचनो से सयुक्त होते हैं, उनकी अमरता स्वय निश्चित हो जाती है। उनके इस दृष्टिकोण का समर्थन 'मधुमालती' की अतिम पक्तिया भी करती हैं, जब वे कहते हैं कि कविता-गात्र प्राप्त करने पर नाम भी अमर हो जाता है। यह दृष्टिकोण भारतीय-परम्पराश्रित है।

प्रेमा के पत्र लिखते समय केवल एक स्थान पर मझन ने ईश्वर के साथ नबी का स्मरण किया है,[१११] अन्यथा पूरी कथा हिन्दू वातावरण से पूर्ण है। डॉ० माता प्रसाद गुप्त के कथनानुसार मझन के विचारो का प्रासाद प्रेम की नीव पर खडा है और सूफी सन्तो मे वे सर्वाधिक अद्वैतवाद के समर्थक थे।[११२] जायसी की अपेक्षा लोक-कथा और हिन्दू जीवन और वातावरण के चित्रण मे मझन अधिक भारतीय हैं।

मझन रसवादी थे, यह तो स्पष्ट ही है, उनकी काव्याध्यात्मिकता, ईश्वर को ही परम रसिक मान कर उन्हे वैष्णवो की रस-भावना के अधिक समीप ला देती है—

सम भेदनि कर भेदिया, औ सम रसिक सुजान।
एहि सम सिष्टि पिछौडी, आपु एक गिरवान॥६॥

पडितो के सामने अपने काव्य को विनम्रतापूर्वक रखते हुए वे गुण-दोष-विवेचन के लिए प्रार्थना करते है और विश्वास के साथ कहते हैं—

जा तेहि लिखे ओछ जो होई। कहहु काह लै कीजै सोई॥४२।५॥

१०६ भी मह हुत उतपति मइ तोरी। जहा नाहिं सचरति बुधि भोरी। २४।१
वचन वचन हिय माह। २४।७।
१०७ विधनै जगत बचन बड कीन्हा। २५।४।
१०८ बचन हुतें भा परगट, त्रिभुवन नाथ गोसाइ। २५।७।
१०९ प्रथमहिं आदि पेम परविस्टी। तौ पाछे भइ सकल सिरिस्टी। २७।१
११० सिस्टि मूल बिरहा जग आवा। २९।१।
१११ दूजे लेउ नाउ तेहि केरा। उतरब पार लागि जेहि बेरा। ४२६।२
११२ मधुमालती, भूमिका पृ० ७८ और ३१ पर।

६ सिद्धो और सन्तो की वाणियो में काव्य-तत्त्वों के संकेत

१. सिद्धो की वाणियो मे

सिद्धो, नाथ-पथियो और सन्तो ने भी मध्यकाल मे अपने विचारो एव सिद्धान्तो के प्रचार-प्रसार के लिए छन्दो और गीतो का आश्रय लिया। यद्यपि इनका महत्त्व ज्ञान की दृष्टि से अधिक और काव्य की दृष्टि से कम है, फिर भी उनमे यत्र-तत्र सरस उक्तियाँ विखरी पडी हैं और वे काव्य की दृष्टि से भी उच्च-स्तर तक पहुँचती हैं। उनमे सरसता और काव्य तत्त्वो की उपलब्धि रागात्मक रहस्यवाद की देन है।

आठवी शती के सरहपा की कुछ उक्तियाँ काव्य-दर्शन के उस वीज की ओर सकेत करती है, जिसका अकुरित और पल्लवित रूप सिद्ध-सन्त-साहित्य की काव्यात्मक धारणाओ मे उपलब्ध होता है। सरहपा के विचार निम्नलिखित है—

धर्म मे ही महासुख की अनुभूति सभव है। सहजामृत रस, गुरु-शिष्य के कथन-श्रवण से परे सम्पूर्ण ससार मे व्याप्त है। सहज स्वभाव भावाभाव से अतीत है। परम महासुख अपने-पराये के भेद के त्याग मे है। सहज मे समरसता मन की स्थिरावस्था है। भाव-रहित कुछ भी सृजन करने मे समर्थ नही है। गुरु के उपदेश मे ही अमृत रस है। शून्य मे विचरण के लिए 'वोहित का काग' होना चाहिए। यह शून्य (ख+सम) सहज भाव से मन मे धारण करने योग्य है। तुरीयावस्था का सहजानन्द गोप्य एव स्व सवेद्य है।[1] दोहा छन्द मे गोप्य का वर्णन किया गया है।

सरहपा के इन विचारो मे—महासुख, सहजामृत रस, भावाभाव, समरस, गुरु उपदेश का अमृत रस, वोहित का काग, ख-सम, दोहा-छन्द आदि शब्द एक ओर तो उनके दार्शनिक और आध्यात्मिक विचारो के वोधक हैं और दूसरी ओर ये सिद्ध-मतो की काव्य-दृष्टि की ओर भी सकेत करते हैं। 'सुरग्र विलास' को इन्होने

१ राहुल सपादित हिन्दी काव्य धारा, पृष्ठ १। पक्ति २, ६, ६।२०, २७, ८।४६, ५४, ५६, १०।७०, ७४, १४।६२, ६६, १२।७७

आध्यात्मिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया है।[२] जन में जन की समरसता जितनी साधना की ओर संकेत है, उतनी ही भावों की निर्मलता, व्यापकता और भावान्वी-करण की ओर भी। सरहपा ने चर्यापदों में विविध राग-रागिनियों को आधार बनाकर अपने विचारों को अभिव्यक्ति दी है। दोहा-छन्द और गीत परवर्ती सन्तों की वाणियों में भी महत्त्वपूर्ण स्थान पाते रहे।

भूसुकपा या शान्तिदेव ने भी गीत लिखे और समरसता को महत्त्व दिया परन्तु भावाभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त उनके प्रतीक—हरिणा-हरिणी, सूना, पतवारा, पपीहा, कमल, अवधूती, गगन, चन्दा आदि—परवर्ती रहस्यवादी संत कवियों में अत्यन्त लोक-प्रिय हुए।[३] नवीं शती के लुइपा ने भी सम-रसन समरस की चर्चा की है।[४] इसी शती के विरूपा ने दशम-द्वार की चर्चा की है जिसे सूफियों और सन्तों ने समान रूप से वर्ण्य बनाया।[५] दारिकपा ने अलख के दर्शन से चित्त में महासुख की उत्पत्ति मानी है।[६]

गुंडरीपा ने रहस्य-भावना को अपने चर्यापदों में शृंगारिक भावों से पूर्णतः ओत-प्रोत कर दिया है।[७] कण्हपा समरसता की स्थिति को ही सिद्धावस्था मानते हैं और सहज क्षण में व्यतीत एक रात्रि को भी महासुख कहते हैं। इनकी दृष्टि में सहजोन्मत्त अहर्निश सुरत-प्रसंग में लगा रहता है और जोगिनी-जाल में रात्रि बिताता है।[८] तंतिपा में उलटबाँसियों के दर्शन होते हैं।[९]

सिद्धों की परम्परा के दो सौ वर्षों में सरहपा से तिलोपा तक रहस्य-भावना का रूप अधिकाधिक शृंगारिक होता गया है। सिद्धों की सहजोन्मत्तता, सन्तों की प्रेमोन्मत्तता बनी और उनके सुरत-अनंग, महासुख, आनन्द आदि की विकलता ही सन्तों की विरह-भावना। क्षण-आनन्द के भेद का ज्ञान योगी का लक्षण बन गया और तत्त्वफल स्व संवेद्य।[१०]

२ हि० का० धारा १४।२४
३ वही, पृ० १३७-१३६
४ वही, पृ० १३६
५ दसमी दुआर तें चिन्ह देखइआ। हि० का० धा० पृ० १३८
   नौ पौरी पर दसम दुआरा। जायसी।
६ हि० का० धा०, पृ० १४०
७ जोइनि तइं विनु खनहिं न जीवमि। तो मुह चुम्बि कमल रस पीवमि। हि० का० धा० पृ० १४२
८ वही, पृ० १५२
९ बलद बिआअल गविआ बाँझे ।। पिटि दुहिआ तिहे तिनसुसद। हि० का० धा०, पृ० १५४
१० तिलोपा, हि० का० धा०, पृ० १७४, १४२

२. जैन सन्तो की वाणी में

जैन सन्त कवियो मे उक्ति-वैचित्र्य तथा लोकोक्तियो एव दृष्टान्तो के प्रयोग की अभिरुचि अधिक दिखाई पडती है। इनकी सूक्तियाँ भी दोहो मे है। दसवी शती के देवसेन जैन साधु हैं। इन्होने भी भोग, इन्द्रिय-सुख, रूपासक्ति आदि से दूर रहने का उपदेश दिया है किन्तु सिद्धो का प्रभाव इतना अधिक था कि जैन-साधु भी उससे अछूते न रहे। इसी शती के योगीन्द्र (जोइन्दु) ने 'परमात्म-प्रकाश' मे विमलात्मा और निरजन योग की चर्चा की है। निमिषार्ध के लिए भी परमात्मा के अनुराग को अशेष पाप का नाशक मानते हैं, पोथी-पत्रा-सहित जैन-लुन्चन-क्रिया की निन्दा करते है तथा योगियो और सिद्धो की तरह ही समरस भाव का उल्लेख करते है।[११] समरस नाम तो सहजयानियो ने दिया था, किन्तु जैन-साधुओ ने मन और परमेश्वर के मिलन या तादात्म्य को ही समरसता कह कर उसे अपना लिया।[१२]

वब्बर आदि सिद्ध युग के कवियो ने जनता की गरीवी, अकाल आदि का वर्णन किया है।[१३] ये कवि अपने काव्य को जीवन के लिए प्रयोजनीय मानते थे। इनकी भाषा भी सरल जनभाषा है। छन्द सुपरिचित दोहा है और गीतो की लडियो मे इस युग के सिद्धो और जैन सन्तो ने अपनी-अपनी वाणियो द्वारा रस, महारस और महासुख को समान रूप से समावेश किया हैं।

३ गोरखनाथ की वाणी मे

नाथ पथ के चौरासी सिद्धो मे गोरखनाथ अत्यधिक प्रभावशाली थे। राहुल साकृत्यायन ने इन्हे दारिपा और विरूपा के समसामयिक तथा ८४५ ई० मे विद्यमान् वतलाया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इनका समय शकराचार्य के वाद लगभग दसवी शती मानते है।[१४] इनकी सस्कृत की अट्ठाईस और हिन्दी की चालीस पुस्तको का उल्लेख उन्होंने किया है। गोरख बानी के नाम से इनके पद सकलित है।

गोरखनाथ प्रत्येक व्यक्ति को अनाहतनाद की 'कहानी' मानते है। मन को लेकर उन्मनी अवस्था मे रहने वाला व्यक्ति ही तीनो लोको की बातें कह सकता है। सुशब्द से ही हीरा वेधना चाहिए। अमृत वाणी वोलनी चाहिए।[१५] सिद्ध पुरुष विवेक की वाणी से ही शोभा पाते हैं। हृदय के भाव ही कर्म के प्रेरक है। शरीर के भीतर ही महारस की सिद्धि है।[१६]

११ परमात्मा प्रकाश, दोहा ६८, ११४, १३१, १४१, ४७, २८२

१२ पाहुड दोहा, ४६।

१३ हि० का० धारा, पृ० २६०, ३६२, १५६

१४ वही, पृ० १५६ तथा नाथ सप्रदाय, पृ० ६६

१५ गोरखबानी, घटि घटि गोरप कहै कहाणी। पृ० १४ तथा पृ० १८,२२,२३

१६ वही, पृ० २४, ४३ महारस सीक्षै काया अभिअतरि। पृ० ४५ जीवन जोगी अमीरस पीवता, पृ० ६४

गोरखनाथ ने भणत (पृ० ६६), नाटारभ (पृ० ६७), अकथ कथिनै कणानी (पृ० ७२), अगोचर वाणी (पृ० ८०), पटपदी (पृ० ८८), अजर क्या (पृ० १६१), पुराण (पृ० १८६), रसायन (पृ० १७६) शब्दो के प्रयोग किए हैं। इनका स्पष्ट विचार है—

अवधू मन जोगी उनमनि रहै, उपजै महारस सव सुप लहै।
रस ही माहि अखडित पीर, सतगुर सवद वधावै धीर ॥ पृ० २०१ ।
कोटि कला जहाँ अनहद वाणी ।पृ० २१६

गोरखनाथ की वाणी—भणत, वदत और कथत है। इनका लाक्षणिक अर्थ कविता है, क्योकि भट्ट-भणत और भनिति का प्रयोग कविता के लिए गोरखनाथ के पहले और वाद मे प्रचलित रहा है।[१७] शिव के प्रसग मे नाट्यारभ का उल्लेख किया जाता है।

सन्तो की 'अकथ कहानी' उनके निराकार ब्रह्म की कहानी है। वाणी की महत्ता काव्य-सृजन मे है और वह अगोचर ब्रह्म के लिए प्रयुक्त होने पर असीम तथा विस्तृत हो जाती है। ब्रम्ह-कथा अजर-कथा है। यह अनुभूति का विषय है, वाद-विवाद का नही। विचार ही पुस्तक है और जीभ रसायन। सौन्दर्य ही शब्द का प्रेरक है तथा मन की उनमनी अवस्था ही महारस के सुख का अनुभव करा सकती है। इस महारस की उपलब्धि की विकलता ही अखडित पीर है, जो सन्तो और सूफी कवियो की विरह-भावना मे व्यजित हुई है। गुरु का उपदेश महत्त्वपूर्ण है। हृदय या मन की चचलता वहती नदी है भाव ही उसे स्थिर करते हैं। अनहद वाणी जहाँ हो, वहाँ करोडो कलाएँ विद्यमान् रहती हैं। साधक शरीर को पोथी और मन को लेखनी वनाकर साधना का लेख लिखता है। गोरखनाथ के इन विचारो ने सन्तो की काव्य-दृष्टि को मार्ग दिया है। मन या हृदय एक पक्ष है, और ब्रह्म दूसरा, इन्ही दोनो का मिलन महारस के सृजन मे सहायक है। वाणी का प्रयोग जव इसके 'कथि' (कथन) के लिए होता है तो महारस उसमे स्वय व्यक्त हो उठता है। इन महारस के लिए—अमी रस, अन्तर रस, रस, राम-रसायन आदि शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं।[१८] सहजानुभूति और भाव-भगति ब्रह्म-भणिति का रूप ग्रहण कर महारस या काव्य रस का सृजन स्वय कर देती है, भले ही यह भणिति कला की दृष्टि से टेढी हो, है तो खाड की ही।[१९]

इन सिद्धो, सन्तो और नाथ पथियो का रस, रस नही, महारस है, इस

१७ कह भणिउ सम मसु जत्त विमलु। णायकुमार चरिउ, पृ० ४
जे पर भनिति सुनत हरषाही। तुलसी, मानस ११८

१८ गोरखवानी, पृ० ५८,१६६, ६२, ८६, २४५, तथा १३८, १७४, १८२

१९ वही, पृ० ७६, १३०

महारस की साधना मे हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क का योगदान अधिक है। नाथ पथ साधनात्मक था, अपनी नीरसता को भी वह सरस कहता है। परवर्ती सन्तो और सूफी कवियो ने प्रेम और विरह के महान् साधक के रूप मे योगियो को अपने काव्यो मे अवतरित किया है। योगियो ने काव्य-कला को कभी उच्च कला नही माना। इनकी रचना का आदर्श रहस्यवाद, लौकिक तत्त्वो की आलोचना एव पारलौकिक तत्त्व की भक्ति का चित्रण करना था।[२०]

४. निष्कर्ष

सिद्धो की रहस्य-भावना, नाथपथियो के हठ योग तथा जैन सन्तो की आचार-मूलक धारणाओं का सगम कबीर से बहुत पूर्व ही हो चुका था। ये सभी एक दूसरे से प्रभावित थे। अपनी साधना की शुष्कता से परिचित होने के कारण ही इन्होंने महारस की प्रतिष्ठा की। यह महारस अपनी प्रकृति में वैष्णव भक्तो के भक्ति रस से बहुत भिन्न नही हैं। नवी शती मे ही सिद्धो ने शृगार-भावना को अपनी रहस्य-साधना मे अन्तर्भूत कर लिया था। चर्यागीतो मे इसके दर्शन होते हैं। उपदेश या वाणी के लिए दोहा और गीत ही उपयुक्त समझे गए।

भक्ति रस की भाति इस महारस की काव्य-शास्त्रीय व्याख्या नही हुई। सिद्धो और सन्तो के विचारो को ध्यान मे रखकर इसका काव्य-शास्त्रीय रूप निम्नलिखित बनता है—

आलबन—निर्गुण-निराकार ख-सम ब्रह्म, आश्रय—सन्त या साधक, उद्दीपन—गुरु-उपदेश, अलख-दर्शन-लालसा, ससार की क्षणभगुरता, काल-भय आदि, अनुभाव—सहजोन्मत्तता, उनमनी अवस्था, सचारी-उन्माद, विभोरता, गर्व, समाधि आदि तथा स्थायी भाव-प्रीति या अखडित पीर, यह महारस आस्वाद्य है और महासुख या परम आनन्द को उपलब्ध करा कर उसे अकथनीय बना देता है। न यह विशुद्ध शृगार रस है और न शान्त रस, दोनो का मिश्रण है।[1] यह महारस सहजामृत रस भी है। शबरपा के चर्यापद मे इस रस, की धारणा अधिक स्पष्ट हुई है—

> उन्मत शबरो, पागल शबरो, मा कर गुली गुहाडा।
> तौहारि णिअ घरिणी नामे सहज-सुन्दरी।
> चित्र तावोला महा कापुर खाई।
> सुन ने रामणि कण्ठे लइआ महासुहे रति पोहाई॥ का० धा० २८।

यहा सहज सुन्दरी आलबन तथा साधक या सत का शून्य नैरात्मा आश्रय है, जो सहज-सुन्दरी के आलिगन मे रात्रि बिताता तथा सहजामृत रस का अनुभव करता हुआ महासुख प्राप्त करता है।

२० गोरखबानी, पृ० २, हिन्दी सत साहित्य, पृ० ६६

समरस की उपलब्धि सुख-दुख से विरति मे है। सहजामृत रस की उपलब्धि सहज-सुन्दरी की प्राप्ति मे तथा महारस की प्राप्ति दशम द्वार मे ब्रह्म-मिलन मे होती है। प्रथम दो साधनावस्था के रस हैं, और अन्तिम महारस सिद्धावस्था का रस है। यह दार्शनिक रस है और काव्य मे इसे काव्यात्म रस के सदृश ही ग्रहण करना चाहिए, यह सन्तो की वाणी की ध्वनि है। सुरत-विलास, सुरत-प्रसग, सहज-क्षण का क्षण-आनन्द आदि शब्द, इस महारस को काव्य-रस शृगार की समकक्षता प्रदान करने के प्रयत्नो के परिचायक है। ऐसी परिस्थिति मे स्वभावत अकथ कहानी, अखडित पीर, भणित, कई प्रकार के प्रतीक तथा रसायन आदि शब्द, अभिव्यक्ति के आवश्यक तत्त्व वन जाते हैं।

सन्तो ने दोहा, चौपाई और षट्पदी छन्दो का उपयोग अधिक किया है। विविध राग-रागिनियो मे उन्होने अपने पदो को बाधा है। चमत्कारपूर्ण बनाने के लिए उन्होने अपने कथनो मे अलकारो की अपेक्षा प्रतीको को प्रश्रय दिया। स्वाभाविक रूप से आये अलकारो और लोकोक्तियो का बहिष्कार भी नही किया गया है। इन्ही धारणाओ और विचारो की परम्परागत पृष्ठभूमि कबीर आदि परवर्ती सन्तो को प्राप्त हुई। निर्गुण साधना मे भक्ति को प्रश्रय देने वाले मराठी सतो का प्रभाव भी परवर्ती सन्तो पर पडा।

५. मराठी सन्तों के विचार—नामदेव

मराठी सन्तो मे कबीर के पूर्ववर्ती दामोदर पडित और नामदेव उल्लेखनीय हैं। नाथपथ छोडकर महानुभाव पथ मे आने वाले दामोदर पडित की चौपदियो मे नाथपथियो पर व्यग्योक्तियो की वर्षा की गई है। इनकी व्यग्योक्ति का रूप निम्न-लिखित उदाहरण मे देखा जा सकता है —

नव नाथ रहे सो नाथपथी, जगत कहै सो जोगी।
सिरद बुझे तो कहि वैरागी, ज्ञान बुझै सो भोगी॥[२१]

नामदेव के पदो मे भक्त की भगवान के प्रति मधुर-मिलन की उत्कठा अभिव्यक्त हुई हैं। इसे वे 'तालावेली' कहते है, जिसका अर्थ व्याकुलता है। इसमें तीव्रता और आतुरता है—

मोहि लागलि तालावेली। बछरे बिनु गाय अकेली।
पानी आ बिनु मीन तलफै। ऐसें रामनामा बिनु नाला॥[२२]

नामदेव ने अपनी साधना का रूप दाम्पत्य-शृगार के समान स्तर पर खडा किया है—

२१ हिन्दी को मराठी सन्तो की देन, पृ० ८७
२२ हिन्दी को म० स० की देन, पृ० १०८

मै बउरी मेरा राम भरतार। रचि रचि ताकउ करऊ सिंगार

राम को प्रिय बना लेने पर वे न तो लोक-निन्दा से डरते हैं न वाद विवाद से, सिद्धो का रसायन इनकी वाणी मे राम रसायन बन गया है—

भले लिंदउ भले निंदउ लोगू। तनु मनु राम पिआरे जोगू।
वाद-विवाद काहू सिउ न कीजै। रसना राम रसाइनु पीजै॥

नामदेव ने अनहद-नाद, ज्योति, गुरु-कृपा, ज्ञान और उन्मनी अवस्था की चर्चा की है। उनकी शून्य-समाधि भी सिद्धो और हठयोगियो के सदृश ही है। सिद्धो के ख-सम, नाथ पथियो के निरजन, महानुभावो के विट्ठल तथा सामान्य सन्तो के प्रभु नाम को उन्होने अपनी वाणी मे समान रूप से स्थान दिया है। कविता की अपेक्षा इनकी दृष्टि मे भी साधना का महत्त्व अधिक है —

वेद पुरान सासत्र अनता, गीत कवित्त न गावउहगो।
अखड मडल निरकार महि, अनहद बेनु बजाऊगो।
वैरागी रामहि गावऊगो॥

गीत, कवित्त की अपेक्षा अनहद-नाद के रस पर ये भी अधिक लुब्ध है।' इनके मराठी अभगो और हिन्दी पदो मे जनता के हृदय को स्पर्श करने का गुण है। इनके समकालिक सत ज्ञानेश्वर महाराज ने इनकी कविता के सम्बन्ध मे कहा है कि 'नामा मे कथन मात्र नही, कवित्त्व है, उसका रस अद्भुत और निरुपम है।'[२३]

सन्त ज्ञानेश्वर ने नामदेव की कविता मे जिस रस की उपलब्धि की है, वह निर्गुण भक्ति रस है। परम्परागत निर्गुण-साधना और भक्ति के माधुर्य से इस अद्भुत रस का सृजन हुआ है। स्वर्गीय प्रोफेसर वासुदेव बलवन्त पटवर्धन ने नामदेव की कविता के विषय मे कहा है—'हमे उस प्रकाश के रोमाच का अनुभव होता है, जो समुद्र या धरती पर कभी नही उतरा, उस स्वप्न के दर्शन होते है, जो इस मिट्टी की धरती पर कभी नही झलका। उस प्रेम की प्रतीति होती है, जिसने कभी वासना को उत्तेजित नही किया। उसमे तो करुणा, विश्वास और भक्ति का रोमाच है तथा मानव आत्मा का, प्रेम तथा परमात्म-शक्ति के प्रति आत्म-समर्पण है। उसमे हम भक्ति अथवा आध्यात्मिक प्रेम का रोमाच, हृदय का हृदय के प्रति सगीतमय निवेदन और उद्वेलित भावातुर हृदय के उद्गार पाते है।'[२४]

आचार्य विनय मोहन शर्मा के मतानुसार नामदेव अपने समय के हिन्दी के निर्गुण भक्ति के प्रथम प्रचारक तथा हिन्दी मे गीत-शैली के प्रवर्तक कहे जा सकते

२३ वही, पृ० १२६
२४ वही, पृ० १२६

हैं। कबीर के पूर्ववर्ती होने के कारण नामदेव को ही उत्तर भारत में निर्गुण-भक्ति के प्रवर्तन का श्रेय दिया जाना चाहिए।[२५]

निष्कर्ष

एक ओर निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन और दूसरी ओर उससे प्रेम करने या प्रेम रस का पान करने की बातें अटपटी अवश्य हैं। रूप-रेखा-हीन 'ख-सम' से प्रेम विचित्र एव अद्भुत है। इस विलक्षण प्रेम के प्रेमी न मिलने से कबीर भी परेशानी में थे।[२६] कबीर ने नामदेव के उल्लेख द्वारा उनके ऋण को स्वीकार किया है।[२७] नामदेव और कबीर की काव्य-दृष्टि तो उनकी साधना दृष्टि का ही प्रतिफलन है। नामदेव के साथ कबीर के नाम का स्मरण प्राय सभी परवर्ती सन्तो ने एक साथ दोनो के समान विचारो को ध्यान मे रख कर ही किया है।[२८]

सिद्धो, नाथपथियो और जैन-सन्तो की आध्यात्मिक-साधना और काव्य-दृष्टि मे भक्ति के माधुर्य को समन्वित करने वाले नामदेव थे। नामदेव की वाणी ने इसका बीज डाला और कबीर की वाणी ने उसे पल्लवित और पुष्पित किया। साधना का महारस, भक्ति रस के माधुर्य के साथ मिलकर एक अद्भुत और विचित्र निर्गुण-राम-रसायन बन गया। कबीर की काव्य-दृष्टि मे उनकी ऐसी रसवादिता और मुखर बनी है।

कबीर के सकेतित और व्यवहृत काव्य-सिद्धान्त[२९]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर पर सिद्धो के प्रभाव को नाथ-पथियो की मध्यस्थता से पड़ा हुआ मानते हैं। कबीर द्वारा सबोधित अवधूत को वे योगियो के सम्प्रदाय का सिद्ध मानते हैं।[३०] नाथ-पथियो के समतत्त्ववाद से कबीर का सीधा सम्बन्ध बतलाते हैं।[३१] इनकी दृष्टि मे तन्त्र का निर्गुण शिव, कबीर पथ के सत्यपुरुष

२५ वही, पृ० १२६-१३०

२६ प्रेमी ढूढत मैं फिरू, प्रेमी मिला न कोइ।
प्रेमी सो प्रेमी मिलै, तो सब विष अमृत होइ ॥ कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६०

२७ गुरु परसादी जैदेव, नामा। भगति के पेम इन्हहि हैं जाना। वही।

२८ उद्धरण के लिये द्रष्टव्य—सत-सुधा सार, रज्जब पृ० ५३०, सुन्दरदास, पृ० ५६०, दादू पृ० ४४१, बखना जी, पृ० ५४३ और रैदास, पृ० १८२ पर कबीर और नामदेव का एक साथ उल्लेख

२९ कबीर ग्रन्थावली—स० डॉ० पारसनाथ तिवारी, हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्व विद्यालय, प्रथम सस्करण, प्रति प्रयुक्त

३० द्रष्टव्य—कबीर, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय बम्बई ७, नवीन सस्करण, पृ० २६, ३०।

३१ वही, पृ० ३२

के बराबर है, सगुण शिव निरजन पुरुष है और शक्ति आद्याशक्ति है। नाद ही स्व सवेद्य यानी कबीरदास की वाणियो के 'निर्मल वेद' के समान है और विन्दु उसकी क्रिया।[32] नाद से प्रकाश होता है और प्रकाश का ही व्यक्त रूप महाविन्दु है।[33] खेचरी मुद्रा मे योगी की ऊर्ध्वगा जिह्वा अमृत रस का पान, ब्रह्म-रन्ध्र के सहस्रारकमल मे करती है। कबीर ने इसी रस के पान के लिए अवधू को ललकारा था।[34] मन से सुस्थिर होने को उन्मनी अवस्था कहते हैं।[35] कबीर साहब की कूट वाणी ही सूक्ष्म ऋग्वेद है, टकसार वाणी ही सूक्ष्म यजुर्वेद है, मूल ज्ञान वाणी ही सूक्ष्म सामवेद है और बीजक वाणी ही सूक्ष्म अथर्ववेद है।[36]

कबीर उस परम सहजावस्था को महान् पद समझते थे, जहा अल्लाह या राम की गम नही होती। बारम्बार वे जिस सहज-समाधि की घोषणा कर गये है, उसमे नाना प्रकार के प्राणायाम, आसन, समाधि और मुद्राए परम तत्त्व की उपलब्धि के साधन है, साध्य नही। सहज समाधि से ही अगर वह उद्देश्य सिद्ध हो जाता है तो काया को क्लेश देने से क्या लाभ है ?[37] सहज यानी सिद्ध केवलावस्था को बार बार शून्य-पद से पुकारते है। कबीर दास प्राय सहज-शून्य का एक ही साथ प्रयोग करते हैं। सहजयानी मत मे चार प्रकार के आनन्द माने गये हैं, प्रथमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द। सहजानन्द योगियो के लिए आत्मोपलब्धि और आत्मा राम की स्थिति है और सहजयानियो के लिए इन्द्रिय-बोध-सहित आत्मबोध की स्थिति के भी लोप होने की। यह स्थिति केवल अनुभव-गम्य है। गुरु ही इसे बता सकता है। शून्य की घनात्मक अभिव्यक्ति के लिए सहज यानी सिद्ध महासुख का प्रयोग करते थे।[38] कबीर दास के मत से सहजावस्था वह है, जहा भगवान को सहज ही पाया जा सके।[39]

कबीरदास ने शून्य-समाधि वाली गगनोपमावस्था या ख सम भाव को सामयिक आनन्द ही माना है, बडी चीज तो सहज समाधि है।[40] सहज मन मे 'घरणि' वृत्तियो के लिए प्रयुक्त शब्द है, इनके नाम हैं—अवधूती, चाण्डाली और डोम्बी या बगाली। इडा, पिंगला और सुषुम्ना इनके मार्ग है। ख सम भाव को पहचानने वाली वृत्ति

३२ वही, पृ० ४२
३३ वही, पृ० ४६।
३४ वही, पृ० ४८-४६
३५ वही, पृ० ५०
३६ वही, पृ० ५६
३७ द्रष्टव्य, कबीर पृ० ६५, ६७।
३८ वही, पृ० ७२-७३
३६ वही, पृ० ७४
४० वही, पृ० ७७

सुषुम्नावाहिनी है। यह अद्वैत ज्ञान मूलक है, पर कबीर समभावस्था से ऊपर उठकर प्रेम-प्रवण, राम-रस, हरि-रस की ओर उन्मुख करने के लिए ही अपनी बात कहते हैं।[४१]

कबीरदास का कहना है कि योगी हो या जंगम—सब झूठी आशा ले लेकर ही अपनी साधना कर रहे हैं। जो चरम सत्य और परमतत्त्व है, वह भक्ति में ही मिल सकता है।[४२] रामानन्द के प्रधान उपदेश अनन्य भक्ति को कबीर ने शिरसा स्वीकार कर लिया था। बाकी तत्त्व-ज्ञान को उन्होंने अपने संस्कारों, रुचि और शिक्षा के अनुसार एकदम नवीन रूप दे दिया था।[४३] कबीरदास ने माया के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है। वह वस्तुत: वेदान्त द्वारा निर्धारित अर्थ में ही। इनके निर्गुण ब्रह्म में गुण का अर्थ सत्त्व, रज आदि गुण है, इसलिए निर्गुण ब्रह्म का अर्थ वे निराकार निस्सीम आदि समझते हैं, निर्विषय नहीं।[४४]

कबीर का राम दशरथ-सुत तो नहीं है, पर वह निर्गुण सगुण से भी परे है। वह भावाभाव विनिर्मुक्त तो है, पर निष्क्रिय और निर्विषय नहीं। वह अनुभूति का विषय है, सहज भाव से भावित है, प्रेम का विषय है और है पुस्तकी विद्या से अगम्य।[४५] राम और उनकी भक्ति, ये ही रामानन्द की कबीर को देन है। इन्हीं दो वस्तुओं ने कबीर को योगियों से अलग कर दिया, सिद्धों से अलग कर दिया, पंडितों से अलग कर दिया, मुल्लाओं से अलग कर दिया। इन्हीं को पाकर कबीर, 'बीर' हो गये—सबसे अलग, सबसे ऊपर, सबसे विलक्षण, सबसे सरस, सबसे तेज।[४६]

भक्ति, भाग्य की चीज है, प्रेम-प्रीति का विषय है। कबीर निस्सदेह ऐसे भगवान् को मानते थे, जो द्वन्द्वातीत है, पक्षातीत है, द्वैताद्वैत विलक्षण है, त्रिगुणरहित है, अपरम्पार पार पुरुषोत्तम है, अकथ है, अकल है, अतीत है, परन्तु कौन भक्त भगवान को ऐसा नहीं मानता? कबीर की भक्ति और भगवद्भावना में न तो युक्ति से विरोध है और न शास्त्र से।[४७]

'कबीरदास की वाणी वह लता है जो योग के क्षेत्र में भक्ति का बीज पड़ने से अंकुरित हुई थी।[४८] कबीर की यह घरफूक मस्ती, फक्कड़ाना लापरवाही और

४१ वहीं, पृ० ७८-७९
४२ वहीं, पृ० ९३-९४।
४३ वही, पृ० ९८।
४४ वहीं, पृ० १०९
४५ वही, पृ० १२७।
४६ द्रष्टव्य—कबीर, पृ० १३८-१३९
४७ „ „ पृ० १४५, १५१
४८ „ „ पृ० १५३

निर्मम अक्खडपन, उनके अखण्ड आत्म-विश्वास का परिणाम था। उन्होने कभी अपने ज्ञान को, अपने गुरु को और अपनी साधना को सदेह की नजरो से नही देखा।[४९] कबीरदास मे यह जो अपने प्रति और अपने प्रिय के प्रति एक अखड अविचलित विश्वास था, उसी ने उनकी कविता मे असाधारण शक्ति भर दी। उनके भाव सीधे हृदय से निकलते हैं, और श्रोता पर सीधे चोट करते हैं।[५०]

कबीरदास पौराणिक कथाओ के थोडे-बहुत जानकार थे, पर तत्त्ववाद के कायल न थे, शायद जानते भी नही थे। कबीर के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—'युगावतार की शक्ति और विश्वास लेकर वे पैदा हुए थे और युग-प्रवर्तक की दृढता उनमे वर्तमान थी, इसीलिए वे युग-प्रवर्तन कर सके थे। एक वाक्य मे उनके व्यक्तित्व को कहा जा सकता है वे सिर से पैर तक मस्त मौला थे—बेपरवाह, दृढ, उग्र, कुसुमादपि कोमल, वज्रादपि कठोर।[५१]

७ कवि

सन्तो के काव्यादर्श का सकेत करते हुए डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित ने लिखा है 'निर्गुण धारा के प्रवर्तक सन्त कबीर कविता को नि सार वस्तु मानते हैं। कबीर ने कवि और कविता के विषय मे कुछ अधिक नही कहा पर उनके काव्य मे उपलब्ध दो-तीन साखिया प्रमाणित करती है कि कबीर की दृष्टि मे कवि सम्मान्य व्यक्ति नही था। कारण कि वह तत्त्व को त्याग कर सारहीन पदार्थों मे रमा रहता है।[५२]

वस्तुत कबीर के सम्बन्ध मे व्यक्त की गई यह सम्मति एकागी है। कबीर केवल राम नाम हीन काव्य को ही हीन मानते हैं और ऐसे ही काव्यकर्त्ता को भी न कि प्रत्येक प्रकार के काव्य को।

कबीर काव्य-रचना को व्यर्थ परिश्रम समझते थे।[५३] इनकी दृष्टि मे वही वास्तविक कवि है, जो ब्रह्म के साक्षात्कार का गायन अथवा उसकी रचना करे। कबीर के शब्दो मे ही—

> जग भव का गावना का गावै।
> अनुभव गावे सो अनुरागी है।[५४]

४९ वही, पृ० १६०
५० वही, पृ० १६२
५१ कबीर, पृ० १६६
५२ हिन्दी सन्त साहित्य, पृ० ९७
५३ पोथी पढि-पढि जग मुआ पडित भया न कोई॥ क० ग० पृ० २४१।
कबीर पढिवा दूरि करि, पुसतग देहु बहाइ।
बावन अक्खर सोधि कै, ररै ममै चित लाइ। क० ग० पृ० २४१
५४ सन्त साहित्य—पृ० ९७

कविता—

कबीर स्वय अपने कथनो के प्रति पाठकों को सावधान कर देते हैं कि कहीं उक्त विचारो के परिप्रेक्ष्य में इनके गीतों (काव्य के एक रूप) और साखी-सबदों को कोई कविता न समझ बैठे—

> तुम्ह जिनि जानों गीत है, यह निज ब्रह्म विचार।
> केवल कहि समुझाइया, आतम साधन सार रे॥ क० ग्र० पृ० ८६

काव्य-रूपो के सकेत

'कबीरदास की भक्ति-साधना का केन्द्र-विन्दु प्रेमलीला है।'[५५] प्रेम का वर्णन चाहे जितना भी आध्यात्मिक और दार्शनिक धरातल पर प्रस्तुत किया जाय, उसमें सरसता का समावेश हो जाना अनिवार्य है। पाठकों को दी गई अपनी चेतावनी के होते हुए भी सन्त-परम्परा में प्रचलित कतिपय काव्य-रूपों का सकेत उन्होंने किया ही है—

वाणी—

वाणी काव्य का मुख्य आधार है। हृदय की अनुभूतियां ही मुख से निस्सृत होती हैं। विवेक और सत्य वाणी के शृंगार है।[५६] ब्रह्म की ज्योति को अभिव्यक्ति देने के लिए नाना प्रकार की वाणियां प्रयुक्त हो सकती है।[५७] अक्षर और वाणी एक ही प्रकार के हैं, पर कोई उसमें लवण और कोई अमृत-रसायन भर देता है।[५८]

पद—

पद गेय होते हैं और उनमें तन्मय बनाने की क्षमता होती है—

> पद गाए लैलीन ह्वै, कटी न ससं पास क० ग्र० ५३६ पृ० १

साखी—

पद गाने से मन हर्षित होता है और साखी से आनन्द की प्राप्ति। इनमे तत्त्व

५५ कबीर, पृ० १८७

५६ अतर घट की करनी निकसै मुख की बाट। क० ग्र० पृ० १८७॥
साधु भया तो क्या भया बोले नाहिं विचार।
साच सरोवर तप नहीं। वही पृ० १८७॥

५७ नाना वानी बोलिया, जोति धरी करतार। क० ग्र० पृ० २२७।

५८ सोई आखर सोई बैन, जन जू जू वाचवत।

और उस ब्रह्म राम के प्रति विश्वास की अभिव्यजना अवश्य होनी चाहिये।[५६] साखी स्वय दृष्ट का वर्णन है।[६०]

अकथ-कहानी—

विद्यापति ने प्रेम-कहानी को ही अकथ कहानी कहा है और सिद्धो-सन्तो ने भी प्रेम कहानी को ही। एक का नायक लौकिक है, दूसरे का अलौकिक। सिद्धो की रहस्य-भावना भी अकथ ही है। कबीर भी इस अकथ-कहानी का उल्लेख कई स्थलो पर करते हैं—

सतगुर मिलै त पाइऐ ऐसी अकथ-कहानी।
कहै कबीर ससा गया मिला सारग पानी। क० ग्र० पृ० ६६।
इहि ततु राम जपहु रे प्रानी तुम बूझहु अकथ कहानी।
जाकौ भाव होत हरि ऊपरि जागत रैनि बिहानी। क० पृ० ८१॥
अरु जे तहा कुसुम रस पावा। अकह कहा कहि का समुझावा। क० पृ० १३०।
आपा मेंटें हरि मिलै, हरि मेंटें सब जाइ।
अकथ कहानी प्रेम की, कहें न कोइ पतियाइ। क० ग्र० पृ० २०८॥

इन सभी स्थलो पर 'अकथ-कहानी' प्रेम की कहानी ही है। यह अवश्य है कि इस प्रेम का आलवन ब्रह्म है।

साखी, शब्द या पद, तथा इनको मूर्त करने वाली वाणी इसी 'अकथ-कहानी' के अभिव्यजक काव्य-रूप हैं। साखियो का दोहा रूप और पदो की गीतिमत्ता, सन्त-सिद्ध परम्परा मे पहले से चले आ रहे काव्य-रूपो का अनुसरण मात्र है। विधि या निषेध रूप मे कबीर ने इनका उल्लेख भी किया है और प्रयोग भी।

'सबद' गुरु का उपदेश भी है और सामान्य कविता भी। कबीर उसी 'सबद' को 'सार-सबद' कहते हैं, जो प्रभु से मिला दे। अन्य कविता या सबद से सार-सबद का यही अन्तर है—

सबद-सबद बहु अतरा, सार सबद चित देहु।
जा सबदै साहिब मिलै, सोई सबद गहि लेहु॥ क० पृ० १६७।

५६ पद गाए मन हरखिया, साखी कहे अनद।
जो तत नाव न जानिया, गल मे परिया फद॥ वही पृ० २४२।
गाया तिन पाया नही, अनगाया तें दूरि।
जिन गाया विसवास गहि, तिनसो राम हजूरि॥ वही पृ० २४०।

६० साखी देखी माखि की। कबीर

काव्य-हेतु—

कबीर ने 'कागद की लेखी नही आखिन की देखी' कहा है। कवि-सुलभ प्रतिभा उनमे थी। ससार की क्षण-भगुरता और काल की भयावनी क्रीडा को वे प्रतिदिन देखते थे। उनके हृदय मे वेदना होती थी। काल से, इस वेदना से, मुक्ति का उपाय क्या है, यह प्रश्न उनके हृदय मे बार बार उठता था। एक ओर मानव-जन्म[६१] की दुर्लभता का बोध उन्हे था। एक बार मिलने के बाद फिर न जाने कब मिले। काल-भय का उल्लेख सारी ग्रन्थावली मे बिखरा पडा है—

काल सिरहाने है खडा, जागि पियारे मित्त। पृ० १८५। ग्र०।

खलक चबैना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद। पृ० २००

रोवन हारे भी मुए, मुए जलावनहार।

हा हा करते ते हुए, कासों करौ पुकार। पृ० २०१।

सब जग सूता नींद भरि, मोहि न आवै नींद।

काल खडा सिर ऊपरै, ज्यों तोरणि आया बींद। २०१॥

माली आवत देखि कै कलिया करै पुकार।

फूली फूली चुनि गई कालिह हमारी बार॥ पृ० २०२

मानुख जनम दुर्लभ है, देह न बारबार।

पाका फल जो गिर परा, बहुरि न लागै डार॥ पृ० १८५

ससार की अनुरक्तता मे जीवन बिता देना जीवन को ही निरर्थक कर देना है।[६२] कबीर सतगुरु के पास गए और गुरु ने उन्हे राम-रग मे रग दिया—

हमारे गुरु बडे भ्रिगी। कीट करत भिंग सो आप ते रगी॥

कहै कबीर अगम किया गम राम रग रगी। क० ग्र० पृ०[६३] ३॥

काल-भय-जन्य-वेदना, प्रभु-विरह की अखडित-पीर या वेदना मे बदल गई—

पीर न उपजै जीव में, तो क्यों पावें करतार। क० ग्र० पृ० २१५।[६४]

कुमति जराइ करौं मैं काजर, पढौ प्रेम रस बानी। पृ० ११।पृ० १७॥

कबीर को राम-रसायन मिल गया—

ऐसें गिआन प्रगटा पुरखोत्तम, कहु कबीर रगि राता।

अउर दुनी सम भरमि भुलानी, मैं राम रसाइन माता॥ पृ० ७६। १३३

६१ द्रष्टव्य क० ग्र०, पृ० १९४।६२, ६६, । पृ० २००। सा० २१ ।, २०२। सा० २५

६२ माया मनमाया भया, जे बहु राता ससारि॥ क० ग्र० पृ० १६३

६३ राम या हरि रग, द्रष्टव्य, क० ग्र० पृ० ११। पद १६, पृ० ७६।१३३, पृ० २००।२०,

६४ प्रेम की गाथा, क० ग्र० पृ० २२०।६।१४।

राम-रसायन की उपलब्धि के उपरान्त व्यक्त अनुभूतिया मोती की तरह दीप्त और ब्रह्मानुभूति की अभिव्यक्ति के कारण हीरे की भाति मूल्यवान् बन जाती हैं। नाम-जप और भक्ति तो इस राम-रसायन के नैरन्तर्य को बनाये रखने के साधन मात्र है—

कबीर हरि के नाव सो, प्रीति रहै इकतार।
तौ मुख तै मोती झरै, हीरा अनत अपार॥ पृ० १६५
मन मद्धै जानै जो कोई। जो बोलै सो आपै होइ॥ पृ० ७७

कबीर की वानी की सरसता तक पहुचने की यह एक रूप-रेखा है। मन-मनसा को माज कर ही हरि की भक्ति का वास्तविक उल्लास व्यक्त किया जा सकता है—

कबीर हरि की भगति का, मन में बहुत हुलास।
मन मनसा मीजे नहीं, होन चहत है दास॥ पृ० २२३

कबीर के दृष्टिकोण के अनुसार काव्योत्पत्ति के निम्नलिखित हेतु सिद्ध होते हैं—(१) काल-भय (२) सतगुरु की कृपा (३) हृदय की सवेदना या पीर और भक्ति का उल्लास (४) राम का रग तथा (५) राम-रसायन की उपलब्धि की निरन्तर कामना। इन्ही हेतुओ को कबीर ने निम्नलिखित साखी मे अपने ढग से व्यक्त किया है—

भै बिनु भाव न ऊपजे, भाव बिना नहीं प्रीति।
जब हिरदै सो भै गया, तब मिटी सकल रस रीति।पृ० १६६॥

काव्यशास्त्रीय रूप मे इनका प्रतिभा, व्युत्पत्ति, अभ्यास आदि मे समाहार हो सकता है। काल-भय प्रत्येक प्राणी के लिए शाश्वत भय है, अत' यह तात्कालिक कारणो से उत्पन्न भय से भिन्न है। काल-भय ससार से विरक्ति का कारण है और अन्य भय से पलायन सभव है, काल-भय से नही।

काव्य-प्रयोजन

ब्रह्मानुभूति के सहज आख्यान मे कबीर की जो वाणी कविता का रूप ग्रहण कर लेती है उसका प्रयोजन भी उसके अनुरूप ही है। कबीर की अधिकाश साखिया उपदेशपरक है, पर सभी कान्ता-सम्मित हैं, इसे स्वीकार करना कठिन है जबकि कभी-कभी वे धक्का देने की बात भी कर बैठते है।[६५] सासारिक के प्रति साधना निवेदन से "अरसिक मे कवित्व-निवेदन" की धारणा व्यक्त होती है और कवि-वेदना से उद्भूत

६५ बहते को बहिजान दे, मति पकडावे ठौर।
समुझाए समुझै नही, तौ देहु धका दुइ और॥ पृ० १६७॥

जैसी फटकार है यह। 'हीरा तहा न खोलिए, जह कु जटन की हाट'[६५] जैसी उक्तिया इसी भाव को पुष्ट करती है। कबीर का रसिक 'सबद-विवेकी' ही हो सकता है।[६७] कबीर को भी सहृदय की इच्छा है—

> जानै हरियर रूखड़ा, उस पानी का नेह।
>
> सूखा काठ न जानई, कबहूं बूठा मेह। पृ० २१७॥

अपनी पाच साखिया तो कबीर ने सार-ग्राहिता के ऊपर ही प्रस्तुत की है।[६८] 'निरपख होइ कै हरि भजै सोई सन्त सुजान'[६९] कह कर उन्होंने सत के गुण को स्पष्ट कर दिया है। ऐसे ही सन्तो, सबद-विवेकियो और सारग्राहियो से सत्सग,[७०] कबीर के काव्य का प्रथम प्रयोजन है—

> कबीर हद के जीवसों, हित करि मुखा न बोलि।
>
> जे राचे बेहद सों, तिन सों अतर खोलि॥ पृ० १९६॥

'हरि के गुण गाना' कबीर के काव्य का द्वितीय प्रयोजन है।[७१] चतुर्वर्ग में से परम फल 'मुक्ति' की उपलब्धि, कबीर-काव्य का तृतीय प्रयोजन है।[७२] सुख, राम मे है और राम-युक्त अभिव्यक्तियो से सुख की उपलब्धि चतुर्थ प्रयोजन है।[७३]

इस प्रकार कबीर की दृष्टि मे हरि गुण कथन, सत्सग, मुक्ति और सुख की उपलब्धि ही काव्य के चार प्रयोजन हैं। यश और अर्थ की कामना कबीर ने कभी की नही। शिवेतर क्षति और प्रीति की भावना अवश्य है, जो उक्त चार प्रयोजनो मे निहित है।

कबीर की रस-मान्यता

कबीर ने राम रग मे अपने रगे जाने की बात तो कही ही है, उससे उत्पन्न रस[७४] का भी अनेक स्थलो पर उल्लेख किया है—

> रसना रसहिं विचारिए सारग श्री रग धार रे। क० ग्र० पृ० ८।
>
> एक बूद भरि देइ राम रस ज्यू भरि देइ कलाली। पृ० २६।

६६ क० ग० पृ० २०६।

६७ मोको रोवै सो जनौं, जो सबद विवेकी होय। पृ० २१२।

६८ द्रष्टव्य, सारग्राही की अग। क० ग० पृ० २२६-२७॥ पारिख अपारिख को अग पृ० २०४।

६९ वहीं, क० ग्र० पृ० २०९।

७० अन्य उदाहरणो के लिए द्रष्टव्य—संगति को अग, क० ग्र० पृ० २१८॥

७१ कै हरि के गुन गाइ। पृ० १८८ और भी १९१।४०।

७२ द्रष्टव्य—उपदेस चितावनी को अग, पृ० १८५।२५।

७३ कबीर सब सुख राम है, और दुखा की रासि। पृ० २०२॥

७४ द्रष्टव्य—रस को अग, क० ग्र० पृ० १७७-१७८।

नीझर झरै अमी रस निकसै । पृ० ३० ।
राम रसु पीआ रे, तातैं बिसरि गए रस और । पृ० ३१ ।
सहज सुन्नि में जिन रस चाखा सतिगुर तें सुधि पाई । पृ० ३२ ॥
राम रसाइन पिउ रे कबीर । पृ० ४६ ॥
अपने अपने रस के लोभी करतब न्यारे पृ० ५३ ।
साकत मरहिं संत जन जीवहिं । मरि मरि राम रसाइन पीवहिं । पृ० ६२ ।
रस गगन गुफा में अजर झरै । पृ० ८५ ॥
नैक निचोद सुधा रस वाकौ कौन जुगति सौं पीजै । पृ० ८६ ॥
गुरु के साथ अमी रस पिउगा । पृ० ११२ ।
अरु जे तहाँ कुसुम रस पावा । पृ० १३० ।
यहु रस छाडे वहु रस आवा वहु रस पीएं यहु नहिं भावा । पृ० १३४ ।
ना परतीति न प्रेम रस, ना इस तन में ढंग ॥ पृ० १६२ ।
हरि रस पीया जानिए जे उतरै नाहिं खुमारि ॥ पृ० १७८ ।
कमल कुवा में प्रेम रस पीवै बारबार ॥ पृ० १७८ ।
जब हिरदे सों मैं गया मिटी सकल रस रीति । पृ० १६७ ।

कबीर ने रसना-रस को बायस माना है। राम रस, अमी रस, और रस, राम रसायन, इन्द्रिय रस, अजर निर्झरित रस, सुधा रस, कुसुम-रस, प्रेम रस तथा हरिरस शब्दों का प्रयोग एक ही प्रकार के अर्थ में किया गया है। यह रस लौकिक रस से, जिसमें कबीर की दृष्टि से काव्य-रस भी सम्मिलित है, सर्वथा भिन्न और विलक्षण है। कबीर ने ऊपर उद्धृत अन्तिम पद में रस-रीति का उल्लेख किया है। यह रस-रीति काव्य की रस-रीति से भिन्न नहीं है। राम-रस की उपलब्धि की प्रणाली काव्य-रस की उपलब्धि-प्रणाली से भी कोई पार्थक्य नहीं सूचित करती।

विद्यापति की नायिका कहती है 'जिस देश में कोकिल नहीं गाता, भौंरे नहीं गूंजते, कानन कुसुमित नहीं होता, जहाँ छहों ऋतुओं और महीनों का भेद नहीं जाना जाता, जहाँ मदन सहज ही निर्जन है, हे सखि ! मेरे प्रिय उस देश को चले गये हैं— मैं नहीं समझ पाती कि वहाँ कामदेव से निर्भय होकर निर्गुण-समाज में किस प्रकार मेरे वल्लभ बसते हैं'।[७५] कबीर इस दृष्टिकोण का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—

हम वासी उस देश के, जह जाति पाति कुल नाहि ।
सबद मिलावा ह्वै रहा, देह मिलावा नाहि । पृ० ७८.।[७६]

कबीर के रसमय जगत मे 'सबद-मिलन' है शरीर-मिलन नही, जो लौकिक काव्यों का आधार है ।

रस-रीति की अभिन्नता के कारण ही कबीर को नायक-नायिका, सयोग-वियोग आदि के माध्यम से अपने अमी-रस या राम-रसायन की अवतारणा करनी पड़ी । प्रेम ही इसका स्थायी भाव है । डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दो मे 'कबीरदास ने इस प्रेमलीला को एक बहुत ही वीर्यवती साधना के रूप मे देखा है । एक बार जिसे भगवान की रहस्य-केलि की पुकार सुनाई दे जाती है, वह व्याकुल हो उठता है ।'[७७]

नायक—कबीर जिसके रग मे रँगे है, वह नायक कौन है, कहा रहता है, उसका रूप कैसा है, आदि प्रश्नो के उत्तर से इन्होंने पाठक को वचित नहीं किया है । वह ब्रह्म है, उसका नाम राम है, वह दशम द्वार के कमल मे निवास करता है, रूप (लौकिक अर्थ मे) रहित है, मुख, माथा आदि नहीं हैं, अत उसके नख-शिख वर्णन का प्रश्न ही नही उठता । वह ज्योतिर्मय है । उसे ढूँढने कही जाना नही है, वह घट के अन्दर ही रहता है । मिलन-विरह के क्षण और उसमे प्राप्त अनुभूतिया अन्त मे मे ही उपलब्ध करने योग्य है ।[७८] हरि ही कबीर के प्रियतम है और कबीर 'हरि की बहुरिया' है ।[७९] खसम ही खसम है । कबीर अपने प्रिय के नाम लेने वाले पर भी बलिहारी होते है ।[८०]

नायिका—कबीर स्वय अपने-आपको हरि की बहुरिया कहते है । यह नायिका स्वकीया है । राम के साथ उसका विधिवत् विवाह हुआ है, भावरे पड़ी हैं ।[८१] यह

७६ और भी द्रष्टव्य—हसा करो पुरातन बात ।
कौन देस से आया हसा-उतरना कौन घाट ॥
हिआ मदन वन फूल रहं हैं आवे सोह बास ।
मन भौरा जह अरुझ रहे हैं सुख की ना अभिलास । कबीर पृ० २४०।१२
गगन गरजै तहा सदा पावस झरै ॥ कबीर । पृ० २४६।१५॥

७७ कबीर, पृ० १६१

७८ राम नाम का मरम है आना । जाके मु ह माथा नही, नाही रूप कुरूप ।
पुहुप बास ते पातरा, ऐसा तत्त अनूप ॥ पृ० १६३
दसवा द्वारा देहुरा, तामैं जोति पिछान । पृ० २२६ ।
भगति दुआरा साकरा, राई दसए भाइ ॥ पृ० २२८

७९ हरि मोरा पिउ मैं हरि की बहुरिया । पृ० २२८ ॥

८० जो जन लेहि खसम का नाउ । तिनके मैं बलिहारी जाउ ॥ पृ० १८

८१ दुलहिन गावहु मगलचार । हम घरि आए राजा राम भरतार ।
राम देव सगि भावरि लेइहो धनि धनि भाग हमारा ॥ पृ० ५ ॥
सहज सुहाग राम मोहि दीन्हा ॥ पृ० ६

सहज सुहाग राम ने स्वय दिया है।[८२] सर्वस्व-त्याग और समर्पण के उपरान्त ही भाग्य से ऐसा सुहाग मिलता है।[८३] निर्गुण की साधना कितनी कठिन है और निर्गुण ब्रह्म की नायिका कितनी अखड-पीर से भरी हुई है, कबीर के ही एक पद मे देखने योग्य है—

> मै सासुरे पिय गौहनि आई।
> साई सग साध नहि पूजी, गयौ जोबन सुपिनै की नाई।
> पाच जना मिलि मडप छायौ तीनि जना मिलि लगन लिखाई।
> सखी सहेली मगल गावै सुख-दुख माथै हलदि चढाई॥
> नाना रगै भावरि फेरी गाठ जोरि बाबै पतिआई।
> पूरि सुहाग भयौ बिनु दूलह चौकै राड भई सग साई।
> अपने पुरिस मुख कबहू न देख्यौ सती होत समझी समझाई॥
> कहै कबीर हौ सर रचि मरिहौ तरौ कत लै तूर बजाई॥ पृ० ६३-६८।

सुहाग और जीवन-विरह की एक साथ उपलब्धि और नश्वर शरीर के छोडने के उपरान्त ही प्रिय-मिलन की सभावना, कबीर की अखडित पीर की परिचायिका है।

प्रेम—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते है कि 'कबीरदास के प्रेम के आदर्श सती और सूर है। जो प्रेम पद-पद पर भाव-विह्वल कर देता है, जो मन और बुद्धि का मथन कर मनुष्य को परवश बना देता है, जो उत्तम भावावेश प्रेमी को हतचेतन बना देता है, वह कबीरदास का अभीप्ट नही है। भक्त का सग्राम शूर के सग्राम से भी बढ कर है, सती के आत्म-बलिदान से भी श्रेप्ठ है।[८४] आजीवन विरहिणी, सती होकर ही चिर-प्रिय-मिलन प्राप्त कर सकती है। मृत्यु के पूर्व तक अखडित-पीर से सग्राम शूरता का ही प्रतीक है। इस अवधि मे काम-क्रोध से भी तो जूझना पडता है। यह तो तलवार की धार पर दौडना ही है।[८५] राम की ऐसी भक्ति कायर का काम है ही नही।[८६] सती, विवेक के साथ ही जल सकती

८२ राम भगति अनियाले तीर। जेहि लागै सो जानै पीर।
 कहै कबीर जाके मस्तकि भाग। सब परिहरि ताकै मिलै सुहाग। पृ० ३॥
८३ कबीर—पृ० २६४
८४ द्रष्टव्य—सूरातन का अग, क० ग्र० पृ० १७६-८४
८५ मेरे सगी कोई नही हरि सो लागा हेत।
 काम क्रोध सौ जूझना, चौडे माड्या खेत॥ पृ० १८०॥
 भगति दुहेली राम की, जस खाडे की धार।
 जो डोलै सो कटि पडै, निहचल उतरै पार॥ पृ० १८१।
८६ भगति दुहेली राम की, नहि कायर का काम॥ पृ० १८१॥

है।[८७] सिर के वदले हरि का मिलन घाटे का व्यापार नही है।[८८]

इस प्रेम मार्ग की उपलब्धि गुरु की प्रसन्नता से ही होती है।[८९] प्रेम की अखडित पीर वही जगाता है। यह प्रेम-जागरण सवद-श्रवण से होता है।

सयोग—

प्रिय-मिलन से पूर्व नायिका शृगार करती है, पर कवीर के प्रिय को यह पसद ही नही है।[९०] उसने स्वय चुनरी दी है। यह दुर्लभ भेंट ही शृगार के लिये पर्याप्त है।[९१] पचतत्त्व की वनी इस चुनरी मे दाग पडने पर भी प्रिय अपना लेता है। कवीर की सहज-साधना सदृश ही यह सहज-शृगार है। प्रिय तो सहज-सिंगार पर ही रीझता है—

> पिया मोरा मिलिया सत्त गियानी।
> सब में व्यापक सब की जानै ऐसा अन्तरजामी।
> सहज सिंगार प्रेम का चोला सुरति निरति भरि आनी।
> सील सतोख पहिरि दोइ कगन होइ रही मगन दीवानी।
> कुमति जराइ करौं मैं काजर पढी प्रेम रस वानी।
> ऐसा पिय हम कवहु न देखा सूरति देखि लुभानी।
> कहै कवीर मिला गुर पूरा तन की तपनि बुझानी। क० ग्र० पृ० ९१ ॥

कवीर का शृगार ही विलक्षण नही है, काव्यो की अन्य नायिकायें 'कोक' पढी हुई होती हैं पर यह नायिका प्रेम-रस वानी पढी हुई है।

शृगार के वर्णन मे कवियो और काव्य-शास्त्रियो ने नायिका के विविध रूपो का चित्रण किया है। अभिसारिका, मानिनी आदि उसके भेद शृगार के अन्तर्गत ही आते हैं। कवीर की इस अलौकिक प्रेम-साधना और मुक्तक वाणियो मे कही-कही उनके चित्र झलक उठते हैं। इस दृष्टि से उनकी निम्नलिखित पक्तिया महत्त्वपूर्ण हैं—

८७ सती जरन कौ निकमी, पिउ का सुमिरि सनेह।
सबद सुनत जिय नीकसा, भूलि गई सुधि देह॥ पृ० १८२॥

८८ सिर दीन्हे जो पाइमै, तौ देत न कीजै कानि।
सिर के सांटै हरि मिले, तऊ हानि मत जानि॥ पृ० २८४

८९ सत गुर हम सौं रीझि करि, कहा एक परसग।
बरसा बादल प्रेम का भीजि गया सब अंग॥ पृ० १४०॥

९० नौ सत साजै सुन्दरी तन मन रही सजोइ।
पिय कै मन भावै नहीं, तौ पटम किए का होई। पृ० २२३॥

९१ चुनरिया हमारी पिया ने सवारी। कोई पहिरै पिय की प्यारी। क० पृ० १८७
मोरि चुनरी मैं परिगयो दाग पिया। कवीर पृ० १९१

१. राम देव सग भावरि लेइहों धनि धनि भाग हमारा। पृ० ५।
२. मदिर माहि भया उजियारा। लै सूती अपना पिय पियारा। पृ० ६।
३. एक माइ दीसैं सब नारी। ना जानौं को पियहि पियारी। पृ० ७।
४ हौ वारी मुख फेरि पियारे। करवट दै मोहिं काहे को मारे। पृ० १२।
५ लोक वेद कुल की मरजादा, इहै गले में फासी।
आधा चलि करि पाछें फिरहौं होइ जगत में हासी। पृ० ३४।
६ थरहर कपै बाला जीउ। ना जानौं का करिहै पीउ॥ पृ० ४१।
७ ऐसी नगरिया में केहि विधि रहना।
निति उठि कलक लगावै सहना॥ पृ० ५५।
८. साई सग साध नहिं पूजी, गयो जोबन सुपिनें की नाई। पृ० ६३।
९. सेजें रमत नैन नहिं पेरवउ यह दुख कासों कहउ रे॥ पृ० ८०।
१० ना हू परनी ना हू क्वाँरी पूत जनमावन हारी।
पीहर जाउ न रहू सासुरै पुरसहिं सग न लाऊ॥ पृ० ९३-९४।
११. एक सुहागिनि जगत पियारी। सगले जीअ जत की नारी।
सत भागे वा पीछै परै। गुर के सवदनि मारहु डरै॥ पृ० ९५॥
१२ भूली मालिनी है एउ॥ पृ० १०९॥
१३ सम्सा सो सह सेज सवारे। सोई सही सदेह निवारै।
अलप सुख छाडि परम सुख पावें। तब यहु तीअ ओहु कत कहावै। पृ०१२४।
१४ जा कारनि मैं जाइया सनमुख मिलिया आइ। पृ १७०।
१५ नारि कहावै पीव की रहै और सग सोइ।
जार मीन हृदया बसै, खसम खुसी क्यों होइ॥ पृ० १७५॥
१६ नैननि प्रीतम रमि रहा, दूजा कहा समाइ॥ पृ० १७६।
१७. कबीर जे कोई सुन्दरी, जानि करै विभिचारि।
ताहि न कबहूं आदरै परम पुरिख भरतार। पृ० १७७।
१८. सती पुकारै सूलि चढि। पृ० १७९॥

इन उद्धरणो मे स्वकीया (१,२), नायक का बहुपत्नीत्व (३), नायक-मान (४), अभिसारिका (५,१४), नवोढा (६), कलकिनी (७), गलित यौवना (८), रतिलीना (९) कुलटा (माया) (११,१५,१७) मालिनि (१२), वासक सज्जा (१३), सती-मुग्धा (१३,१८) आदि[६२] की छाया सहज ही देखी जा सकती है।

६२ और भी—रहु रहु मुगुध गहेलडी। कबीर ग्र० पृ० १४६।४१।

दसवा उद्धरण कबीर की साधना की सच्ची प्रतीक नायिका है। यह विवाहित-अविवाहिता, विलक्षणा नायिका है। नायिकाओं के इन रूपों की छाया कबीर को उस युग-विशेष की देन है। विद्यापति के लोकप्रिय गीतों को कबीर ने भी अवश्य सुना होगा। साधना को महारस, महासुख या परमानन्द की उपलब्धि की ओर उन्मुख करने एव उनकी कठोरता को कोमल बनाने के लिये कबीर का यह प्रयत्न भक्तों की माधुर्य-भावना की चुनौती का उत्तर माना जा सकता है।

सयोग-पक्ष मे कबीर-वर्णित स्वप्न-मिलन भी है —

कबीर सुपिनै हरि मिला, सोहि सूता लिया जगाय।
आखि मीचों डरपता, मति सुपना होइ जाइ। पृ० १६७
कबीर सुपिनै रैनि के पड़ा कलेजे छेक।
जो सोऊ तो दुइ जना, जौ जागू तौ एक॥ पृ० १६२॥

विरह—

विरह के तीन कारण होते हैं—पूर्वराग, मान और प्रवास। काव्य मे इन्हीं के भेदोपभेदो को कारण बनाकर नायक और नायिका का विरह वर्णित होता है। कबीर द्वारा प्रस्तुत विरह, न मान के कारण है न प्रवास के, यह तो वस्तुत उस शारीरिक-आवरण के कारण है, जिसे हटा देना सहज नही है। उनके ब्रह्म की निर्गुणता भी एक कारण है, जिससे भावरो के साथ ही अखड-पीर और आजीवन-विरह की उपलब्धि हो गई। सहज-समाधि और स्वप्न के मिलन तो क्षणिक-मिलन ही है, चिर-मिलन तो घट मे फूटने और जल के जल मे समाने पर ही सभव है।[६३]

कबीर की वानी मे विरहिणी के भी कई रूप मिलते हैं—

प्रतीक्षा-रता—मै विरहिनि ठाढी मग जोऊ राम तुम्हारी आस। पृ० १०१।

बहुत दिनन की जोवनी, बाट तुम्हारी राम।
जिय तरसै तुझ मिलन को, मन नाहीं विश्राम। पृ० १४३
विरहिनि ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीव का, कब रे मिलिहिंगे आइ॥ पृ० १४५।
कबीर देखत दिन गया, निसि भी निरखत जाइ।
विरहिनि पिउ पावै नहीं, जियरा तलफत जाइ॥ पृ० १४६।

६३ अविनासी दुलहा कब मिलिहौ, सब सतन के प्रतिपाल।
जल उपजी जल ही सौं नेहा, रटत पियास पियास॥ पृ० ०१०।

यह काव्य-शास्त्रीय अर्थ मे प्रोषित-पतिका नायिका नही है। यह तो चिर-विरहिणी है। यह आत्मा के परमात्मा से बिछुडने की कहानी है। वह विश्व-व्यापी विरह है। प्रिय-मिलन के लिये उसकी तडपन, ससार के और किसी विरह-व्यापार से तुलनीय नही हो सकती।'[९४] चकवी रात को बिछुड कर भी प्रभात वेला मे पुन. अपने प्रिय से मिल जाती है, किन्तु राम बिछोही तो दिन-रात कभी भी नही मिल पाता।[९५] यह नायिका प्रतीक्षा-रता ही कही जा सकती है। यह विरह कालजयी है, कालातीत भी।[९६] यह तो चिरतन साथी के छोडने के कारण उत्पन्न हुआ है।[९७] इस विरह को मिटा पाना सरल नही है, मार्ग लम्बा है, मजिल दूर। पथ भी विषम है और बटमारो से भरा। हरि का दीदार दुर्लभ ही है।[९८]

चिर-विरह की इस साधना का मूल भाव भी प्रेम है। इस साधना से कही साधक विचलित न हो जाय, आजीवन विरह की अग्नि प्रज्वलित न रख सके या प्रेम मे ही भ्रम या सशय का कलक न लग जाय, इसी से तो कबीर इस प्रेम को खाला का घर नही समझते।[९९]

विरह-दशायें—

काव्य-शास्त्र के अनुसार अभिलाषा, चिन्ता, उद्वेग, प्रलाप आदि विरह की दस दिशायें मानी जाती है। कबीर ने अपनी चिर-विरहिणी आत्मा की विरह-दशाओ का उतना ही मार्मिक-चित्रण किया है, जितना कोई अन्य मुक्तक-काव्यकार कर सकता है। आचार्य मम्मट ने विप्रलम्भ शृगार के पाच प्रकार बतलाये है—अभिलाष, विरह (अनुराग), ईर्ष्या, प्रवास और शाप-हेतुक।[१००] कबीर-वर्णित विरह को अभिलाष-हेतुक माना जा सकता है। निर्गुण ब्रह्म की उपलब्धि की अभिलाषा ही इस विरह का हेतु है। मन के आनन्द की सघनता मे तन्मयता या लय ही इसकी

९४ कबीर, पृ० १६१।

९५ चकवी बिछुडी रैणि की आइ मिली परभाति।
जे जन बिछुरे राम से, ते दिन मिले न राति॥ पृ०१४१।

९६ पगुला होइ पिउ पिउ करैं, पीछे काल न खाइ॥ पृ० २०४।
कबीर मन तीखा किया, लाइ विरह खरखान।
चित परना सो चिहुटिया, तहा नही काल का पाँन॥ पृ० २०४।

९७ बालपनाँ के मीत हमारे। हमहि छाडि कत चले हो निनारे। पृ० ८२।

९८ लबा मारग दूरि घर, विकट पथ बहु भार।
कही सतो क्यो पाइए, दुरलभ हरि दीदार॥ पृ १५०

९९ औसर बीता अलप तन, पीवरहा परदेस। कलक उतारो साइया, मानो मरम अदेस। पृ० १६१।
यहु तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहि॥

१०० द्रष्टव्य- काव्य प्रकाश पृ० ४२।

रसात्मकता है।[१०१] इसकी स्थिति बडी विचित्र है, अन्त करण की कामना, बाह्य-व्यापार नहीं बन पाती। यह भी गूंगें के गुड की अनुभूति जैसी ही है। ईर्ष्या-हेतुक विरह का एक ही पद कबीर ने प्रस्तुत किया है।[१०२]

अभिलाषा के अनेक पद कबीर ने उपलब्ध किये हैं—

गोकुल नाइक बीठुला मेरा मनु लागा तोहि रे।
बहुतक दिन बिछुरे भए तेरी औसेरि आवै मोहि रे। क० ग्र० पृ० ७।
किएउँ सिंगार मिलन कै ताईं। हरि न मिले जन जीवन गुसाईं। पृ० ८।
अविनासी दुलहा कब मिलिहौ सन सतन के प्रतिपाल रे।
छाड्यौ गेह नेह लगि तुमसे भई चरन लौलीन ॥ पृ (०-१०)

दर्शनाभिलाप—[१०३]

दास कबीर विरह अति बाढ्यौ अब तो दरसन देहु। पृ० ११।
देहु दीदार विकार दूरकरि तब मेरा मन मानें। पृ० २२

करुणा (दया) अभिलाप—[१०४]

माधौ दारन दुख सह्यौ न जाइ।
मेरौ चपल बुद्धि सौ कहा बसाइ। पृ० २५।

मिलन की अभिलाषा—

बहुत दिनन की जोवती बाट तुम्हारी राम।
जिय तरसै तुझ मिलन कौ मन नाहीं बिसराम ॥ पृ० १४३
एक सबद कहि पीव का कबरे मिलहिंगे आइ। पृ० १४५।
वेगि मिलौ तुम आइ कै नहिंतर तजौं परान। पृ० १४७।

१०१ मम्मट ने मालती की प्राप्ति की अभिलाषा मे माधव की यह उक्ति उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत की है—
प्रेमार्द्रा प्रणयस्पृश परिचयादुद्गाढ रागोदया—
स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि। या स्वान्त करणस्य बाह्यकरण-व्यापारोधी क्षणा—
दाशसा परिकल्पितास्वपि भवत्यानन्द सान्द्रो लय ॥ का० प्र० पृ० ४२ ॥

१०२ रामभगति अनियाले तीर। जेहि लागे सो जानै पीर।
एकमाइ दीसै सब नारी। ना जानो को पियहि पियारी। क० ग्र० पृ० ७
सब कोई कहै तुम्हारी नारी मोको यह अदेह रे। क० ग्र०, पृ० ६।

१०३ द्रष्टव्य—कबीर ग्रन्थावली के और पद, पृ० २७।४७,

१०४ यहु तनु जारौं मसि करौं, ज्यू धूवा जाइ सरग्गि।
मन थैं राम दया करैं, बरसि बुझावै अग्गि। पृ० १४३।

कबीर का यह विरह-दुख विश्वव्यापी है।[१०५] इसी दुख को सभालने की बात वे करते है। इस दुख की अनुभूति इतनी सूक्ष्म, गहरी और व्यापक है कि उसकी अभिव्यक्ति सरल नही है। आत्मा और परमात्मा के तात्त्विक-सम्बन्ध का ज्ञान और गुरु के उपदेश, इस दुख के बीजारोपण मात्र है। उसका विकास तो हृदय की अपनी सवेदनीयता मे ही होता है। राम-वियोगी की यह सवेदना अपने स्वरूप मे कोमल है।[१०६] ज्योतिर्मय ब्रह्म की दर्शनाभिलाषा भी कोई विचित्र नही है। विरह-दशा के कुछ उद्धरण द्रष्टव्य है—

विकलता—[१०७]

अन्न न भावै नींद न आवै गृह वन धरै न धीर रे।
ज्यों कामी को कामिनि प्यारी ज्यों प्यासे को नीर रे।
है कोई असा पर उपगारी हरि सों कहै सुनाइ रे।
अब तो बेहाल कबीर भए है, बिनु देखे जिउ जाइ रे। पृ० ६।
तालाबेलि होत घट भीतर जैसे जल बिनु मीन॥ पृ० १०।

अनिद्रा—[१०८]

दिवस न भूख रैनि नहि निद्रा घर अगना न सुहाइ।
सेजरिया बैरिनि भइ मोकों जागत रैनि बिहाइ। पृ० १०।

चिन्ता—

चितै तौ माधव चितामनि हरिपद रमै उदासा। पृ० १६।

उन्माद—

मेरी मति बउरी मैं राम बिसार्‍यो केहि विधि रहनि रहउ रे।
लोग कहै कबीर बौराना। कबीर का मरमु राम भल जाना॥ पृ० ११०।

जडता—

गूगा हुआ बावरा, बहरा हूआ कान।
पांवा तै पगुल भया, सत गुरु माना बान। पृ० १३७।

१०५ जियरा आपन दुखहि सभारू जो दुख व्यापि रहा ससार। क० ग्र०, पृ० १२७॥ रमैनी।
१०६ राम वियोगी विकल तन, इन दुखवो मति कोइ।
छूवत ही मरि जाइगे तालाबेली होइ॥ पृ० १५५।
१०७ निसिदिन उठि उठि मुँह परै, दरसन कारन राम। पृ० १४८। पृ० १४७। क० ग्र० पृ० १४६।३६
१०८ द्रष्टव्य—और भी क० ग्र०, प्र० ८१।१३८

अनमनापन—

हसै न बोलै उनमुनी चंचल मेल्या मारि।
कहै कबीर भीतरि भिद्या सतगुर कै हथियार॥ पृ० १३७

सशय—

अदेसो नहि भाजिसी, सदेसो कहियाह।
कै हरि आयां भाजिसी, कै हरि पासि गयाह। पृ० १४३।

अश्रु—[१०६]

अखड़ियाँ प्रेम कसाइया लोग जानै दुखड़ियाह।
राम सनेही कारनै रोइ रोइ रातड़ियाह॥ पृ० १४४

पीड़ा—

कबीर पीर पीरावनी पजर पीर न जाइ।
एकजु पीर पिरीति की रही कलेजा छाइ। पृ० १४५

कृशता—

चोट सताणी बिरह की, सब तन जरजर होइ। पृ० १४६
राम नाम जिन चीन्हिया झीना पंजर तासु।
नैन न आवै नीदडी, अग न जामैं मासु। पृ० १५५
कबीर हरि का भावता दूरहि ते दीसंत।
तन खीना मन उनमुना, जगि रूठडा फिरंत॥ पृ० १५६

अन्य सचारियो तथा विरह-दशा के चित्र भी कबीर की वाणी मे उपलब्ध हो सकते हैं। प्रभु की करुणा, दर्शन और मिलन की अभिलाषा मे जिस चिर-विरह की उद्भावना होती है, उसमें वेदना है, विकलता है, जल-विरही मीन की छटपटाहट है। कबीर ने इस वेदना का अनुभव किया था और वे उसे समय पर वाणी मे अभिव्यक्ति देते रहे।

इस विरह या प्रेम को जब पडित और मुल्ला भी नहीं समझ पाते थे तो वे उनके हृदय की सकीर्णता और अज्ञान पर झुंझला उठते थे। जयदेव और नामदेव से उन्हे बडी प्रेरणा मिलती थी, क्योंकि वे ऐसे दुर्लभ प्रेम को पहचानते थे।

कबीर ने सिद्धो के महारस, और वैष्णव भक्तो के मधुर रस को मिला कर निर्गुण-ब्रह्म की भक्ति से युक्त उस प्रेम-रस का निर्माण किया और उसे काव्य-शास्त्रीय

१०६ नैना नीझर लाइया। क० ग्र०, पृ० १४७। और भी—पृ० १४८।४६।

शृगार की रस-रीति के पात्र मे ढाल कर रख दिया। काव्यगत शृगार के आलवन-आश्रय व्यक्ति हो सकते है, पर व्यापक ब्रह्म के लिये अनन्त आत्माओ के प्रेम का मिलन-विरह व्यापार सकीर्ण नही है, वह काव्य-रस से अधिक व्यापक, अधिक मधुर और अधिक आनन्द की अनुभूति कराने वाला है। विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ कबीर की इसी भावना से प्रभावित थे और इसके स्पष्टीकरण का प्रयत्न डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया है।[110] नामदेव मे ये प्रवृत्तिया बीज रूप मे निहित थी जिसके सौन्दर्य पर प्रोफेसर पटवर्धन मुग्ध थे और आचार्य विनयमोहन शर्मा इसकी परख कर उन्हे निर्गुण-भक्ति का प्रवर्तक कहते है।[111]

कबीर का यह विलक्षण प्रेम-रस भी रस ही है, अत इन्हे भी रसवादी ही कहा जा सकता है। कबीर के पूर्व शृगार के साथ-साथ वीर रस भी लोकप्रिय था। इस काव्य-परम्परा का आश्रय लेकर ही कुछ पद कबीर ने भी वीर रस[112] के प्रस्तुत किये है—

> सतगुर साह सत्र सौदागर तह मै चलि कै जाऊ जी।
> मन की मुहर धरौ गुरु आगे ग्यान कै घोडा लाऊं जी।
> सहज पलान चित कै चाबुक, लौ की लगाम लगाऊं जी।
> विवेक विचार भरों तन-तरगस, सुरति कमान चढाऊ जी।
> धीर गंभीर खड्ग लिए मुदगर माया कै कोट ढहाऊ जीं।
> मोह मस्त मैवासी राजा, ताकौ पकड मगाऊ जी।
> रिपु के दल में सहजहिं रौंदो अनहद तबल, घुराऊं जी।
> कहै कबीर मेरे सिर परि साहेब, में ताको सीस नवाऊ जीं॥
> भाई रे अनीं लडै सोई सूरा। दोइ दल बिचि खेले पूरा।

क० ग्र० पृ० ५।४।

> जब बजै जुझाऊर बाजा। तब कायर उठि उठि भाजा।
> गढ फिर गइ राम दोहाई। कबीरा अविगति की सरनाई॥ पृ० ३४। ५६

कबीर के दृष्टिकोण के अनुसार ही इस वीररस के आलवन आदि भी है, पर उत्साह दर्शनीय है।

110 द्रष्टव्य—कबीर, भगवत्प्रेम का आदर्श, पृ० १८७-२०२।
111 द्रष्टव्य—हिन्दी को मराठी सतो की देन, पृ० १२६ और १३०।
112 अन्य वीर रस के पद द्रष्टव्य—क० ग्र० पृ० १५।२५,१८०।११, १८३।२५ या सूरातन को अग, पृ १७६-१८४

निष्कर्ष—

कबीर ने प्रसग और रुचिवश होरी[113] और ऋतु[114] तथा लोक जीवन[115] के चित्र भी उपस्थित किये है। युग की प्रवृत्ति से वे पूर्ण परिचित थे।[116] अलकारो मे से रूपक[117] और दृष्टान्त[118] का, तथा कुछ कम उत्प्रेक्षा का प्रयोग हुआ है। कबीर की प्रवृत्ति सहजोद्गार मे थी। प्रतीको का प्रयोग कबीर ने अधिक किया है। ये प्रतीक सिद्धो की परम्परा से उन्हे प्राप्त हुए थे। काव्य-प्रतीकों मे केतकी-भ्रमर, कवल-भवर आदि उन्हें काव्य-परम्परा से मिले थे, और उलटवासिया, नाथ पथियो और सिद्धो की रहस्योक्तियो से। कबीर ने मद-चुलाने की प्रक्रिया का वर्णन किया है, यह भी सिद्धो की रसायन-प्रक्रिया है। आत्मा को चिर-विरहिणी मानकर निर्गुण-भक्ति की माधुर्य भावना, उन्हे नामदेव और वैष्णव भक्तो से मिली है। सामाजिक दृष्टि सन्तो की परम्परा से उन्हें मिली है, जो बाह्याडवरो की विरोधी रही है। सूफियो का प्रभाव कबीर पर मानना और कबीर के प्रेम को सूफियो की देन समझना उचित नही प्रतीत होता। जायसी पर कबीर का प्रभाव अवश्य दिखाई पडता है।

कबीर सन्त थे, और भारतीय परम्परा के सन्त थे। उन्होंने दाय मे जो कुछ प्राप्त किया है, वह सन्तो से ही। सन्तो की दृष्टि थी—सीखे सुने पढे का होई जो नहि पर्दहि समाना।'[119] फिर भी अपनी साधना के पथ पर प्रेम और भक्ति के जो गीत वे गुनगुनाते थे या अनुभूतियो के जो उद्गार सहज ही व्यक्त हो जाते थे, उनमे सरसता भी थी। सन्तो के प्रेम को सहृदयता से जो देखता था, उसे उनकी वाणी मे भी रस मिलता था। आज भी स्थिति यही है।

भाषा के सम्बन्ध मे कबीर की दृष्टि थी कि जनभाषा ही काव्य-सहजोद्गार की भाषा हो सकती है।[120] अपनी बोली को वे 'पूरबी' ही कहते हैं।[121]

कबीर के परवर्ती सन्तो की काव्य-दृष्टि—

कबीर का प्रभाव सभी परवर्ती सन्तो पर पडा है। साधना-सम्बन्धी कबीर की निर्गुण भक्ति[122] को प्राय सभी ने अपना लिया है। काव्य-सम्बन्धी दृष्टि भी

११३ द्रष्टव्य—कबीर ग्रन्थावली पृ० ८४, ८७

११४ द्रष्टव्य—वही, पृ० १४८

११५ द्रष्टव्य—क० ग्र० पृ० २४, ३०, ३८, ६३, ७८

११६ द्रष्टव्य—कबीर कलियुग आइया मुनिवर मिलै न कोइ।
कामी क्रोधी मसखरा, तिनका आदर होइ। क० ग्र०, पृ० २१४। २६।

११७ द्रष्टव्य—क० ग्र०, पृ० ५, ६७, १८४।

११८ वही पृ० २०॥

११९ वही, पृ० ६७।४

१२० संसकिरत हैं कूपजल भासा बहता नीर।

१२१ बोली हमारी पूरबी॥ क० ग्र० पृ० २०५।

१२२ एक सबद मे सब कहा, सबही अरथ विचार।
भजिए निरगुन ब्रह्म कौ, तजिए विखै विकार॥ क० ग्र० पृ० २२८।८॥

सबकी समान ही रही है।[123]

नानक—

सन्त कवि नानक शब्दो और साखियो मे व्यक्त प्रेम को सच्चा प्रेम नही मानते—

शब्दन साखीं सची नहिं प्रीति।

जमपुर जाहिं दुखा की रीति ॥ प्राण सगली पृ० २४।

डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित का यह मत भ्रांतिपूर्ण है।[124] नानक के इस उद्धृत पद का अर्थ है कि शब्दो और साखियो के सृजन से ही प्रभु के प्रति सच्ची प्रीति है, किसी भी सन्त के सम्बन्ध मे यह धारणा उचित नही है। साखी-शब्द के रचयिता भी सच्ची प्रीति के अभाव मे जमपुर जाते हैं। सन्त कवि, काव्य-सृजन या साखी-शब्द की रचना के विरोधी नही है। छन्दो मे हृदय के सच्चे भावो की अभि व्यक्ति के प्रयत्न को भी वे बुरा नही समझते। वे ऐसे काव्य, साखी या शब्द को ही हीन समझते हैं, जिनमे प्रभु नाम न हो। नानक कहते हैं—

धनु सु कागद कलम धनु, धनु भाडा धनु मसु ॥

धनु लेखारी नानका, जिनि नाम लिखाइआ सचु ॥

नानक की काव्य-दृष्टि भी वही है, जो कबीर की है। वे भी हरि को रसमय रसिक मानते हैं।[125] अमृत रस पीने का उपदेश देते हैं।[126] गुरु की कृपा से सहज मे मति को सलग्न करते हैं।[127] उनका मन भी राम मे अनुरक्त है।[128] गुरु के बिना राम-रस की उपलब्धि सभव नही है।[129] आत्मा के वर हरि से प्राप्त सोहाग का सकेत स्वय नानक करते है।[130] माया-मोह का विस्तार करने वाली प्रीति को नानक

१२३ पडित गुनी सूर कवि दाता एहि कहहिं बड हमही।
जह ते उपजे तहुई समाने हरिपद बिसरा जबही ॥ कबीर पृ० ११६।२।

१२४ द्रष्टव्य—हिन्दी सन्त साहित्य, पृ० ६८

१२५ द्रष्टव्य—हरिरस, ना० वा० पृ० ६६७।७२१
आपे रसीआ आपि रसु आपे रावण हारु। नानक वाणी २५। पृ० १२४
आपे होवै चोलड़ा, आपे सेज भतारु ॥

१२६ रे मन मेरे भरमु न कीजै, मनि मानि ऐ अमृत रसु पीजै।

१२७ नानक गुर मति साचि सभावहु। ना० वा० २७। पृ० ५२०।

१२८ नानक राम नामि मनु राता। गुरमति पाए सहज सेवा। नानक वाणी २२।पृ० २६३।

१२९ बिनु गुर इहु रसु किउ लहउ गुरु मेलै हरि देइ। नानक वाणी ७।पृ० ३६३
राम रसाइणु इहु मन राता। सरब रसाइणु गुरमुखि जाता ॥ नानक वाणी ८। पृ० २८८
अकथ कथा कहिए गुर भाई। नानक वाणी। ४। पृ० ४७६
स० डॉ० जयराम मिश्र—मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद

१३० हरि नाहि मेरा प्रभु पिआरा।

जलाने की बात करते है और ऐसी प्रीति मे, राम-रस के अभाव मे कर्म विकार के द्वन्द्व मे पडने का भय दिखाते हैं।[131]

दादू—

दादू तो कबीर से पूर्ण प्रभावित हैं। काव्य सिद्धान्त के सम्बन्ध मे उनके विचार भी कबीर के समान ही हैं। वे सतगुरु से भक्ति-मुक्ति का भडार ही नही, साहब का दीदार भी प्राप्त करते हैं।[132] नाम-स्मरण को वे तभी सार्थक मानते है, जब वह तन मन मे समा जाय।[133] वे भी राम मे अनुरक्त हैं और प्रेमरस का पान करते हैं। विरह की अग्नि उनके हृदय मे भी प्रज्ज्वलित है।[134] दादू की आत्मा रूपी नायिका भी चिर-विरहिणी ही है—

> पीव न देख्या नैन भरि, कठि न लागी धाइ।
> सूता नहि गलबाहि दे, बीचहि गई बिलाइ॥

दादू की निर्मल-भक्ति, प्रेम-रस, सहज-भाव और राम-रग मे रति के आगे मुक्ति और बैकुण्ठ भी व्यर्थ हैं—

> हरि रस माते मगन भये।
> सुमिरि सुमिरि भये मतवाले जामण मरण सब भूलि गये।

मति गुर वचनि मेरो मनु मानिआ हरि पाए प्रान अधारा।
इन विधि हरि मिलीऐ वर कामिनि धन सोहाग पिआरी॥ नानक वाणी ३। पृ० ७२१

१३१ जा कउ ऐसी प्रीति कुटम्ब सनबधी माइआ मोह पसारी।
जिनु अतरि प्रीति राम रसु नाही दुविधा करम बिकारी॥ वही॥

१३२ सतगुरु मिले तो पाइये, भगति मुकति भडार।
दादू सहजै देखिए, साहब का दीदार॥

१३३ नाम लिया तब जाणिए, जे तन मन रहे समाइ।
आदि अत मध एक रस कबहू भूलि न जाइ।

१३४ दादू माता राम का पीवै प्रेम अघाई।
मतवाला दीदार का, मागै मुक्ति बलाई॥
बिरह अगिन तन जालिये, ज्ञान अगिन दौ लाइ।
दादू नख सिख परजलै, तब राम बुझावै आइ।
प्रीति जो मेरे पीव की, पैठी पिंजर माहि।
रोम रोम पिव पिव करै, दादू दूसर नाहि॥

दादू के उद्धरण-सन्तकाव्य सम्पा० परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद पृ० १३८-१६३ से उद्धृत।

निर्मल भगति प्रेम रस पीवै, आन न दूजा भाव धरै।
सहजै सदा राम रगि रात, मुकति वैकुंठै कहा करै॥

निष्कर्ष—

सत कवियो की परम्परा विशुद्ध भारतीय-परम्परा है। वैदिक निर्गुण-वाद और उपनिषदो के तत्त्व-ज्ञान मे इन कवियो के मूल विचारो का वीज ढूढा जा सकता है। मध्यकाल मे सन्तो की त्रिवेणी-सिद्धो, जैनो व नाथपथी सतो के रूप मे प्रवाहित हुई। भक्ति के माधुर्य मे इस त्रिधारा के समन्वित होने पर निर्गुण-भक्ति का स्पष्ट और निर्मल रूप सामने आया। नामदेव हिन्दी के वह प्रथम कवि हैं, जिनकी वाणी मे निर्गुण-भक्ति का यह समन्वित सगीत सुनाई पडता है। कबीर ने नामदेव की निर्गुण भक्ति की मूल भावना को एक विशाल क्षीर-समुद्र का रूप दिया। उसके भीतर निहित निर्गुण हरि के अमृत-रस को उन्होने अपनी साखियो और शब्दो के पात्रो मे भर, सन्तो और प्रेम साधको के लिए सुलभ कर दिया।

ये सन्त कवि काव्य-रचना के लिए साखी और शब्द नही कहते थे। उनके हृदय की उमग, गुरु-ज्ञान से उद्भूत प्रेम की प्रेरणा और आत्मा की चिर-विरह भावना ही उनकी वाणियो के उद्भव की कारण थी। हरि-नाम-स्मरण, सत्सग, हरि-रसामृत-पान और सबसे बढकर हृदय-स्थिति चिर-विरह की, सवेदना अभिव्यजना ही उनके काव्य के प्रयोजन हैं। महारस का पान और परम पुरुषार्थ मोक्ष ही उनके लक्ष्य हैं। ये सभी रसवादी है, पर इनका रस लौकिक-काव्य रस नही, अलौकिक अध्यात्म-रस है। रस-रीति दोनो की समान अवश्य है, क्योकि आत्मा और परमात्मा के मिलन-विरह के गीत लौकिक मिलन-विरह के गीतो से, भिन्न रीति का अनुसरण नही करते। विषय-विमुक्ति का आनन्द सन्तो के महारस मे है और विषयानुरक्ति का आनन्द लौकिक काव्यो के काव्य-रस मे। इसीलिए सन्त कवि हरिनाम रहित काव्य को 'जमपुर' भेजने वाला मानते है और हरिनाम, हरिप्रेम और राम-रसायन युक्त काव्य को ही काव्य मानते हैं और धन्य कहते हुए उसे मुक्ति-प्रदायक मानते हैं। काव्य के कला-पक्ष पर इसीलिए उनका ध्यान नही जाता था, पर गीति-काव्य के सृजन मे उन की सर्वाधिक रुचि रही है। सरल-हृदय के सहज-उद्गारो के रूप मे ही इनका मूल्याकन किया जा सकता है और उनकी मूल-भावना को समझ कर ही उनके काव्य-सिद्धान्त 'प्रेम-रस' का निर्धारण भी, क्योकि अब तक के विश्लेषण से निस्सृत इस प्रमुख तथ्य की उपेक्षा नही की जा सकती। आगे चलकर सन्त कवियो मे सर्वाधिक शिक्षित सुन्दर दास ने इसी तथ्य को ध्यान मे रखकर लिखा है—

नख सिख शुद्ध कवित्त पढत अति नीको लगै।
अग न हीन जो पढै सुनत कवि जन उठि भगै।

७ सगुण भक्त-कवियों के काव्य-सिद्धान्त

हिन्दी का वैष्णव भक्ति-साहित्य चौदहवी शताब्दी की राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियो की देन मात्र नही है। इसे दक्षिण की विकसित परम्परा का परिणमन भी नही कहा जा सकता। वस्तुतः यह भारतीय साहित्य की अखड-सरिता का एक मोड मात्र है। सस्कृत-प्राकृत और अपभ्र श के नये-नये परिधान मे युगानुरूप परिवेश वदलती हुई जो सस्कृति, साहित्य मे मुखरित हुई है, उसी के सगीत की एक कडी मध्यकाल के वैष्णव-भक्ति-साहित्य मे भी उपलब्ध होती है। वैदिक काल से चौदहवी शताब्दी तक इसकी अन्तश्चेतना आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत रही है। लौकिक और धार्मिक मुक्तको से लेकर दोनो प्रकार के महाकाव्यो तक, कही भी इस आध्यात्मिकता का रग फीका नही दिखाई देता। काव्य-शास्त्रकारो के चतुर्वर्ग मे से किसी एक की सिद्धि को काव्य का प्रयोजन मान लेने पर इस आध्यात्मिकता की चादर इतनी विस्तृत हो गई कि सव प्रकार की काव्य-कृतिया उसकी छाया मे समा गईं। लौकिक-शृगार इसी छाया मे समृद्धि पाने के कारण अलौकिक वन गया और अलौकिक निर्गुण ब्रह्म भी प्रेम और भक्ति के सरस-सिंहासन पर मूर्त हो सका। अध्यात्म-रस रस-रीति मे काव्य-रस वन गया और काव्य-रस अपनी आनन्द-भावना और तन्मय वना देने की क्षमता के कारण ब्रह्मानन्द-सहोदर वन गया।

आध्यात्मिकता की मूल-वृत्ति के कारण चन्द ने पृथ्वीराज रासो जैसे ऐतिहासिक काव्य को पौराणिक रूप देना चाहा, विद्यापति ने लौकिक प्रणय-गीतो को राधा कृष्ण को समर्पित कर दिया, नामदेव और कवीर ने निर्गुण ब्रह्म को आत्मा के विश्व-व्यापी चिर-विरह मे भाव-मूर्त कर दिया तथा सूफियो के काव्य मे लौकिक और अलौकिक-शृगार-भावना समासोक्ति वनकर रह गई। विटरनित्स ने इसे ही स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'भारतीय मनोमय की यह एक निजी विशेपता है कि वह विशुद्ध कला-कृतियो तथा तथा शास्त्रीय वाड्मय मे कोई विभाजक रेखा नही खीच पाता।'[1]

१ प्राचीन भारतीय साहित्य—अनु० लाला लाजपतराय-मूल लेखक-विटरनित्स पृ० ३

रूप गोस्वामी ने प्रेममूला रागात्मिका-भक्ति को गौडीय सम्प्रदाय की भक्ति का मूल-तत्त्व बतलाया है। इन की भक्ति, भाव पर आश्रित होने और अपने रागात्मक सम्बन्ध के कारण, रति में परिणत हो जाती है। यही रति, कृष्ण-रस या भक्ति-रस की निष्पत्ति में सहायक होती है। तुलसी में शील और मर्यादा, सभी भक्त कवियों से अधिक है, पर उनके दास्य की विलक्षणता इतनी सात्विक और अलौकिक है कि प्रत्येक भक्त अपने-आपको प्रभु में विलीन कर देना चाहता है।[2] आत्म-विलयन की यह वृत्ति, भक्ति-रस की प्रमुख भूमिका है। इन भक्त कवियों को लीला अत्यन्त प्रिय है और ब्रह्म की यही लीला उनके आनन्द का मूल आधार है। भाव-जगत में या मानस में ब्रह्म-लीला की अनुभूति से आनन्द मिलता है, पर इस अनुभूति को अभि-व्यक्ति मिलते ही भक्त या साधक की दृष्टि में उस आनन्द का स्वरूप बदल नहीं जाता। यही कारण है कि निर्गुण-भक्त न तो अपनी टूटी-फूटी वाणी से घबराता है, न सगुण-भक्त अपनी अत्यधिक शृंगारिकता से। भक्ति-काव्यों का रस, भक्ति-रस है और उनका आनन्द ब्रह्मानन्द या आत्मानन्द। काव्य-रस, ब्रह्मानन्द-सहोदर हो सकता है, ब्रह्मानन्द नहीं। भक्त के लिये यह आनन्द तीव्र एवं अधिक सन्तोषप्रद है, कोई काव्य-रसिक को यह आनन्द नहीं उपलब्ध हो सकता। इस दृष्टि ने निर्गुण भक्तों को तो काव्य के कलापक्ष की ओर से इतना उदासीन बना दिया कि टूटी-फूटी वानी में भी वे हरिनाम के कारण रस लेने लगे और हरि-नाम-रहित सुन्दर से सुन्दर काव्य को भी हेय समझ कर उसकी उपेक्षा करने लगे।

यह हरि-नामांकित-काव्य इतना समादृत होने लगा और अन्य काव्य इतना उपेक्षित, कि स्वयं तुलसी जैसे कवि को भी यह कहना पड़ा है कि—

भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ। बा० १०।८

और सूर ने भी स्पष्ट उद्घोषित कर दिया—'स्याम-भजन बिनु कौन बडाई'[3]। कबीर तो पहले ही कह चुके थे कि दाता, कवि आदि अपने को बड़ा कहते हैं, पर राम नाम के बिना सब हीन हैं, वे यमपुर जायेंगे। एक ओर निर्गुण-सगुण भक्तों की रागात्मक-साधना और दूसरी ओर 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' जैसे भक्ति-रस के विवेचक ग्रन्थ के अवतरण की पृष्ठ-भूमि तैयार हुई। इन्हें तैयार करने एवं भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक समादृत कराने में आध्यात्मिक-चेतना की मूलवृत्ति का कम हाथ न था। अवसर पाकर वही उस युग की वाणी बन गई।

भक्ति-रस को शास्त्रीय परिधान मिल जाने मात्र से सगुण-भक्ति के उपासक

२ अविरल प्रेम भगति मुनि पाई। प्रभु देखे तरु ओट लुकाई। सुतीक्ष्ण का प्रेम। अरण्य १०। पृ० ३२६।

३ सूर सागर—ना० प्र० सभा, काशी-तृतीय सं०—प्रथम खंड १।२४।

कवियो ने काव्य के कला-पक्ष की उपेक्षा नही की, क्योकि भक्ति-रस की गीति भी, काव्य-रस की भाति ही नायक-नायिका, दूत-दूती तथा सयोग-विप्रयोग सहित उसके अनेक भेदोपभेदो, अनुभावो और सचारियो को समेट कर ही अपना पथ निर्मित करती है। सूर-वर्णित मान, सस्कृत-साहित्य मे उपलब्ध शृगारिक मान और उसकी विरह-दशा से घट कर नही दिखाई देता। व्यास के सुरति एव सुरत्यत वर्णनो मे काव्य-शास्त्रीय विदग्धता वर्तमान है।

दसवी शताब्दी के सुप्रसिद्ध जैन कवि सोमदेव सूरि के एक श्लोक से कवि के सम्बन्ध मे एक स्पष्ट धारणा मिलती है। कवि वही है जो—शक्ति, निपुणता, अभ्यास-रूप मूल से सपन्न हो; जिसके काव्य का शब्द और अर्थ के रूप मे द्विदल की भाति उत्थान हो, जिसकी प्रचुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्रा—रूप वृत्तियो की पाच शाखायें हो, पाचाली, लाटी, गौडी वैदर्भी चार दल हो, नव रसो की नवच्छाया हो और औदार्य, समता, कान्ति आदि दस गुणो की भूमि पर जो प्रतिष्ठित हो।[४] सोमदेव का यह भी मत है कि काव्य-कथा केवल मनोरजन की दृष्टि से नही, दोपमार्जन और गुण-प्रतिष्ठा की दृष्टि से रची जानी चाहिए।[५] सोमदेव का प्रभाव तत्कालीन अपभ्रश कवियो पर भी पडा है। धार्मिक चरित-काव्यो की धारा को उनके कारण और तीव्रता मिली। कवि होने के लिये काव्य हेतु, परिभाषा, वृत्तियो, रसो और गुणो के ज्ञान से काम चल जाता होगा। सगुण वैष्णव भक्तो ने भक्ति-साधना के साथ-साथ एक बार पुन काव्य-साधना को उसकी उच्चतम भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित किया। वह कविता भले ही अशोभनीय हो जिसमे हरिनाम न हो, पर जिसमे हरिनाम हो उसे क्यो अशोभनीय रहने दिया जाय? इस प्रवृत्ति ने ही सगुण भक्ति के साहित्य के स्तर को अधिक कलात्मक और अधिक काव्यात्मक बना दिया। सन्तो की वाणी को सहज-शृगार सगुण-भक्तो के काव्यो मे मिला। वास्तविक अर्थ मे लौकिक काव्य के शृगाररस तथा भक्ति-काव्य के भक्ति-रस मे केवल आलवन का ही भेद रह गया आलबन मे ही उसकी पवित्रता, व्यापकता और अलौकिकता शेष रह गई। काव्य के क्षेत्र मे इस प्रवृत्ति के विकास के फल-स्वरूप, रीतिकाल का उद्भव हुआ। कविता हो तो कविता अन्यथा आलम्बन के ब्रह्म होने से सुमिरन का वहाना तो है ही यह भक्ति और शृगार की रस-रीति की समानता का परिणत मात्र है, विलासिता और मुस्लिम प्रभाव की देन नही।

हिन्दी-काव्यो ने सारे उत्तरी भारत को सदा प्रभावित किया है और उसकी गूज सुदूर दक्षिण तक सुनाई पडी है और सुनाई पडा है, दक्षिण के सगीत का स्वर

४ त्रिमूलक द्विधोत्थान पचशाख चतुश्छदम्।
योऽग वेत्ति नवच्छाय दशभूमि स च काव्यकृ्। यशस्तिलक ३।२७४।

५ काव्यरपागु त एव हि कर्तव्या साक्षिण नमा।
गुणगणमन्तर्दिदधति दोपमत ये वहिश्च कुर्वन्ति। यश० १।३६

तुलसी के सकेतित और व्यवहृत काव्य-सिद्धान्त

काव्य हेतु—

तुलसी के पूर्व सभी काव्य-सिद्धान्तो का निरूपण और काव्यो मे उनका प्रयोग हो चुका था। तुलसी के सामने सस्कृत-प्राकृत और अपभ्रश की विशाल और अखड काव्य-परपरा भी विद्यमान थी। 'नाना पुराण निगमागम सम्मत' तथ्यो को समझने की उनमे पूर्ण क्षमता थी। 'क्वचिदन्यतोऽपि' से उन्होने जैन पुराणो और अपभ्रश ग्रथो के परिचय का सकेत दे दिया है। रघुनाथ-गाथा को भाषा मे निबद्ध करने की तुलसी की प्रेरणा के मूल मे स्वान्त सुख और मजुलता के विस्तार की भावना थी। तुलसी केवल शास्त्र-ज्ञान-सपन्न ही नही थे, वे काव्य-जगत् और तत्कालीन जनमानस मे गूजते हरिनाम तथा हरिनाम-सम्पन्न-काव्य को ही काव्य मानने की धारणा से भी परिचित थे। वे स्वय कहते हैं—

भनिति विचित्र सुकवि कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ। बा० १०।८

काव्य-शास्त्र, निगमागम, प्राचीन काव्यादि के अध्ययन तथा लोकमानस और लोकाचार के ज्ञान से ही काव्य-हेतुओ मे व्युत्पत्ति-विलक्षणता प्राप्त की जा सकती है।[९] तुलसी तो सभी सन्तो और सगुणोपासक कवियो मे इस दृष्टि से आगे है। सस्कृत मे श्लोकों की रचना के साथ अवधी और ब्रज मे समान रूप से काव्य-सृजन, तुलसी की व्युत्पत्ति की क्षमता का परिचायक है।

तुलसी का विचार है कि भक्ति-काव्य के लिए स्मरण करते ही सरस्वती को दौडे आना पडता है। शिव का स्मरण अनमिल अक्षरो और उत्तम अर्थों मे भी समन्वय स्थापित कर सकता है। तुलसी की दृष्टि मे हृदय समुद्र है और मति, सीप, सरस्वती स्वाति के बादल, उत्तम विचार ही वर्षा की बूद है। इसी से कवित्त-मुक्ता-मणि का उद्भव होता है।[१०] यहा तुलसी, काव्य को केवल भावनात्मक व्यापार की श्रेणी मे रखने के लिये तैयार नही हैं। केवल प्रतिभा, व्युत्पन्नता और अभ्यास ही काव्योत्पत्ति के हेतु नही हैं अपितु हृदय की विशालता, विमल-मति का आवेश और सरस्वती की कृपा भी भक्ति-काव्य के लिए आधार है। सत्सग और हरिकृपा से उप-

९ नानापुराणनिगमागमसम्मत यद् रामायणे निगदित क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्त सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा, भाषा निबन्धमति मजुल मातनोति॥बा०७।पृ०१।
रामचरित मानस—डॉ० माता प्रसाद गुप्त द्वारा सपादित, तुलसी ग्रन्थावली भाग १, खड १ मे से दिये गये उद्धरण काण्ड सकेत। दोहा सख्या और। पृ० के रूप मे सकेतित है।

१० हृदय सिन्धु मति सीप समाना। स्वाती सारद कहहिं सुजाना।
जौ बरषै बर बारि बिचारू। होहिं कवित मुकुता मनि चारू। बा० ११।६।

लब्ध विमलमति ही भक्ति-काव्य का मुख्य हेतु है।[११]

विमल-मति से उत्पन्न कविता-सरिता लोक और वेद के मंजुल किनारों के मध्य प्रवाहित होती है।[१२] कवि को सरस्वती की कामना रहती है।[१३] तुलसी ने भक्त-हृदय के उद्‌गारों की अभिव्यक्ति के स्वरूप पर स्वयं ही पर्याप्त प्रकाश डाल दिया है—

> हिय सुमिरी सारदा सुहाई। मानस तें मुख पंकज आई।
> बिमल बिबेक धरम नय साली। भरत-भारती मंजु मराली॥ अयो० २६७।३,०६

जिस निर्मल विवेक को तुलसी, काव्य का प्रमुख हेतु मानते हैं, उसके उद्‌भव में देव-कृपा के साथ गुरु-कृपा का भी हाथ है। उसी की नख-ज्योति से दिव्य-दृष्टि उन्मीलित होती है। विमल विलोचन की उपलब्धि से ही रामचरित का ज्ञान होता है। उसके गुप्त और प्रकट रहस्यों को उद्‌भासित करने में गुरु-कृपा ही महत्त्वपूर्ण है।[१४]

इस विमल-विवेक और विमल-विलोचन की उपलब्धि में सत्संग द्वारा भी सहायता मिलती है।[१५]

वाणी, गणेश, शिव, राम और गुरु की कृपा कारण है विमल विवेक की उपलब्धि के, और सत्संग से इस विवेक-बुद्धि को पुष्टि मिलती है। विवेक बुद्धि के जागरण और निर्मल दिव्य-नेत्रों के उद्‌घाटन से रहस्यमय रामचरित का ज्ञान हो जाता है। राम की कृपा से उल्लसित और प्रेरित-हृदय चरित गान के लिये कवि को तत्पर कर देता है।[१६] हृदय का उल्लास या आवेग जो कवि की विमल-बुद्धि में ही संभव है, कविता या काव्य के सृजन का मुख्य हेतु है।

देव-कृपा को प्रतिभा में, लोक वेद-निगमागम-ज्ञान को व्युत्पत्ति में तथा गुरु-

११ सो न होइ बिनु बिमल मति, मोहि मति, बल अति थोर।
करहु कृपा हरि जस कहौं, पुनि पुनि करौं निहोर॥ बा० १४।११

१२ चली सुभग कविता सरिता सो। राम बिमल जस जल भरिता सो।
सरजू नाम सुमंगल मूला। लोक बेद मत मंजुल कूला॥ बा० ३६।२५

१३ करिहहिं चाह कुसल कवि मोरी। अयो० ११।१८४।

१४ श्री गुर पद नख मनिगन जोती सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती।
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के।
सूझहिं राम चरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥ बा० १।दु० २

१५ बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई। बा० ३।३

१६ जस कछु बुधि बिबेक बल मेरें। तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरें। बा० ३१।२०
संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरित मानस कवि तुलसी। बा० ३६।२२
भएउ हृदय आनन्द उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रवाहू।
चली सुभग कविता सरिता सो। राम बिमल जस जल भरिता सो।

कृपा, सत्सग आदि को अभ्यास के अन्तर्गत माना जाता है। तुलसी का मत है कि ये तीनो हेतु, विमल-बुद्धि के निर्माता है। काव्य का मुख्य हेतु तो विमल-बुद्धि और कवि के हृदय का आनन्दपूर्ण आवेग है जिससे अनायास ही काव्य-धारा प्रवाहित हो चलती है।

काव्य प्रयोजन—

सभी भक्त कवियो के काव्य-सृजन का प्रमुख प्रयोजन हरि का नामस्मरण और उसका गुण या यशः गान होता है। शेष सभी प्रयोजन इसी के भीतर अन्तर्भूत हो जाते है। रामचरित मानस मे तुलसी ने स्थान-स्थान पर प्रसगवश निम्नलिखित काव्य-प्रयोजनो का सकेत किया है—

(१) स्वान्त सुख—

> स्वान्त सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा
> भाषानिबन्धमतिमजुलमातनोति। बा० १।१
> मत्वा तद्रघुनाथ नाम निरत स्वान्तस्तम शान्तये। उ० पृ० ५६६
> भाषाबद्ध करबि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई। बा० ३१।२०

(२) कलिमलहरण—

> राम कथा कलिमल हरनि, मगल करनि सुहाइ। बा० १४१।७३

(३) मगल—

वाणी और विनायक की वन्दना मे तुलसी ने उन्हें मगलकर्ता, कहा है। राम की कथा को 'मगल करनि' भी तुलसी ने कहा है।[१७] इसी मगल मे लोकहित प्रतिष्ठित है।[१८]

(४) साधु-महिमा-वर्णन—

> विधि हरि हर कवि कोविद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी।
> सो मो सन कहि जात न कैसे। बा० ३।३

(५) हरि-यश वर्णन—

इसी के अन्तर्गत रामनाम तथा राम-गुण वर्णन आदि आ जाते है। चरित या कथा भी हरि-यश के वर्णन का एक रूप है अतः सारा रामचरित मानस इसी प्रयोजन को लक्ष्य कर वर्णित है—

१७ द्रष्टव्य रा० च० मा० बा० का०—१।१, १४१। ७३।
१८ मथा जो सकल लोक हितकारी। बा० १०७।५८

(अ) बरनों रघुवर विमल जसु जो दायक फल चारि। अयो० १। पृ० १७६
कवि कोविद अस हृदय बिचारी। गावहिं हरिजस कलिमलहारी।
बा० ११। पृ० ८।

(आ) कवि न होउँ नहिं चतुर कहावौं। मति अनुरूप राम गुन गावौं। बा० १२।६

(५) नाम—राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहरहु जो चाहसि उजियार॥ बा० २१।१५

(६) मोह-नाश—

ससि कर सम सुनि गिरा तुम्हारी।
मिटा मोह सरदातप भारी। बा० का० १२०।६४

(७) जग को पावन बनाना—

पूछेहु रघुपति कथा प्रसंगा।
सकल लोक जग पावनि गंगा। बा० ११२। पृ० ६०॥

(८) बुद्धि को निर्मल बनाना—

(१०) लीलागान—

कीजै सिसु लीला अति प्रिय सीला यह सुख परम अनूपा। बा० ।१९२।६७।

सुनहु प्रिया व्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करबि ललित नर लीला।

आ० २४।३३७।

असि रघुपति लीला उरगारी। दनुज विमोहिनि जन सुखकारी।

उ० का० ७३।५२८

जब जब राम मनुज तन धरहीं। भगत हेतु लीला बहु करहीं।

उ० ७५।५२६।

इस लीलागान के अन्तर्गत यथामति, स्वमतिगान है। (उ० १२३।५६४ पृ०)

(११) भक्ति-निरूपण—

भगति निरूपन विविध विधाना। बा० ३७।२३

(१२) जन-रजन—

बुध विश्राम सकल जन रजनि।

राम कथा कलि कलुष विभजनि॥ बा० ३१।२०॥

(१३) कविता को श्रेष्ठ बनाना—

प्रभु सुजस सगति भनिति भलि होइहि सुजन मन भावनी।

भनिति विचित्र सुकवि कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ।

जदपि कवित रस एकौ नाही। राम प्रताप प्रगट एहि माहीं॥ बा० १०।१८

भाव वस्य भगवान्। उ० ९२।५३९

(१४) वाणी को पवित्र करना—

तेहि ते मैं कछु कहा बखानी। करन पुनीत हेतु निज वानी। बा० ३६१।१७८

इस प्रकार तुलसी द्वारा सकेतित और स्पष्ट उल्लिखित काव्य प्रयोजन है—स्वान्त सुख, कलि-मल-हरण, मगल या लोकहित, साधु-महिमा-वर्णन, हरियश-वर्णन, मोह-नाश, जग को पावन बनाना, बुद्धि को निर्मल बनाना, राम के प्रति रति, लीलागान, भक्ति-निरुपण, जन-रजन, कविता को श्रेष्ठ बनाना तथा वाणी को पवित्र करना।

इन सभी काव्य-प्रयोजनो के दो मुख्य वर्ग किये जा सकते हैं—प्रथम वर्ग मे भक्ति-सम्बन्धी प्रयोजन हैं—इनमे सर्व प्रमुख हरि-यश-वर्णन है। इसके अन्तर्गत-स्वान्त. सुख, अन्तस्तम नाश, कलि मल हरण, साधु महिमा वर्णन, सत्सग-महिमा-

वर्णन, मोह-नाश, वुद्धि, वाणी और जग को पावन करना, लीलागान, राम-चरण-रति और भक्ति-निरूपण तथा उसकी महिमा का वर्णन है। चारो पुरुषार्थो की प्राप्ति, इस हरियश-वर्णन का उपप्रयोजन है।

द्वितीय वर्ग मे काव्य-सम्वन्धी प्रयोजन आते हैं—

इनमे काव्य के हेतु, विमल-वुद्धि का प्रकाश, वाणी की पवित्रता, कविता को श्रेष्ठ वनाना, लोक मगल और जन-रजन का समावेश हो सकता है। जो दोनो मे सम्मिलित हैं वे मिश्रित प्रयोजन माने जा सकते हैं।

भक्ति-काव्य प्राकृत-जन का गुण-गान नही करते, अत विशुद्ध-काव्य-प्रयोजनो का उनमे अभाव, स्वाभाविक है। इन प्रयोजनो मे कुछ आत्मविषयक हैं और कुछ लोक या समाज-विषयक। तुलसी की विनय पत्रिका, हनुमान वाहुक और कवितावली के उत्तर भाग की रचना आत्म-पीडा से वचने के प्रयोजन से की गई है। कलिमल-शमन, आत्मरक्षा और आत्मोद्धार की मूल-वृत्ति का परिचायक है। राम-चरित-गान से भक्ति की प्राप्ति, रामचरण रति तथा लीला-जन्य-आनन्द, व्यक्ति-सुख हैं, और सदाचार, ज्ञान, धर्म तथा नैतिकता की वृद्धि के साथ असुर-विनाश और लोक-सुख की प्रतिष्ठा, समाज-सुख है। तुलसी के रामचरित मानस मे काव्य के उक्त प्रयोजनो और लक्ष्यो को अवतरित भी किया गया है। तुलसी, परम-पुरुषार्थ मोक्ष से भी वढ कर भक्ति को मानते हैं, अत चतुर्वर्ग की सिद्धि की अपेक्षा भक्ति-सिद्धि को ही प्रमुखता मिली है।

सन्तो और भक्तो ने यश और अर्थ के लिए कभी काव्य-रचना नही की। प्रिय-उपदेश देने मे वे पीछे नही रहे, पर तुलसी ने सीधे उपदेश की अपेक्षा काव्यात्मक-उपदेश को ही आधार वनाया है। तुलसी ने दो स्थलो पर 'यश' को मानव-लक्ष्य वताया है। राम, भरत को उपदेश देते हुए कहते हैं—

> मोर तुम्हार परम पुरुषारथु। स्वारथु सुजसु धरमु परमारथु।
>
> अयो० ३१५।३।२।

दूसरे स्थल पर लोमस मुनि, 'काग-भुशुण्डी से कहते हैं—

> पावन जस कि पुन्य विनु होई। विनु अघ अजस कि पावइ कोई।
>
> उ० ११२।५५३।

भरत परम भक्त हैं, तुलसी ने उन्हे इसी रूप मे चित्रित किया है, तो क्या भक्त का स्वार्थ, सुयश और परमार्थ धर्म है? यदि इसे सकेत मान लिया जाय तो यश प्राप्ति को भी तुलसी के काव्य का एक प्रयोजन माना जा सकता है।

काव्यफल—

तुलसी ने काव्य के प्रयोजनो को ही काव्य का फल भी मान लिया है, इसका कारण है साधन, भक्ति को ही, साध्य मान लेना। भक्ति से सम्बद्ध जो भी उसके अग-उपाग हैं वे ही रामचरित मानस के फल हैं। भक्ति, सत्सग, मति-कीर्ति, वाणी की पुनीतता, विश्राम और सुख, विरति-विवेक की प्राप्ति, हरिपद की प्राप्ति तथा प्रसगवश मुक्ति ही इस काव्य या रामचरित मानस के फल हैं। कुछ फल-निर्देश द्रष्टव्य है—

(१) जे एहि कथहि सनेह समेता। कहिहहिं सुनहहिं समुझि सचेता।
होइहहि राम चरन अनुरागी। कलिमल रहित सुमगल भागी॥ बा०१५।१२

(२) रावनारि जसु पावन गावहिं सुनहिं जे लोग।
राम भगति दृढ पावहिं बिनु बिराग जप जोग। अर० ४६।३५२।

(३) राम चरित मानस एहि नामा। सुनत स्रवन पाइय बिश्रामा। बा० ३५।२२
एहि विधि कहत राम गुन ग्रामा। पावा अनिर्वाच्य बिश्रामा। सुन्दर० ८।३७५

(४) येह चरित जे गावहिं हरि पद पावहिं ते न परहिं भव कूपा। बा० १९२।१९७।

(५) सकल सुमगल दायक, रघुनायक गुन गान।
सादर सुनहिं ते तरहिं भव, सिंधु बिना जलजान॥ सु० ६० । पृ० ४०१

(६) गाइ गाइ भवनिधि नर तरहीं।

(७) बिनु हरि भजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल॥ उ० १२२। ५६४।

फल-श्रुति पौराणिक काव्यो की मुख्य विशेपता रही है। तुलसी ने विविध प्रासगिक कथाओ का भी फल-निर्देश कर दिया है, पर इन सभी प्रासगिक कथाओ और मुख्य-कथा के फलो मे कोई अन्तर नही है। हरि-पद-रति, भक्ति, मुक्ति आदि ही उनके फल है।

काव्य-रूपो के सकेत—

तुलसी ने अपने 'रामचरित मानस' की विशेपताओ का स्थान-स्थान पर सकेत किया है। इन सकेतो के आधार पर एक ओर रामचरित मानस के काव्य-रूप पर प्रकाश पडता है और दूसरी ओर तुलसी के उन विचारो पर, जो रामचरित मानस को आकार देने वाले थे। ये सकेत निम्नलिखित है—

रामायण—

तुलसी के रामचरित मानस का आदर्श वाल्मीकि कृत रामायण है, जिसे वे

नानापुराणनिगमागमसम्मत[19] मानते हैं।

भाषा निबन्ध प्रबन्ध—

तुलसी ने रघुनाथ-गाथा को स्वान्तःसुख के लिये भाषा-निबन्ध का रूप दिया। तुलसी की दृष्टि में निबन्ध और प्रबन्ध एक ही हैं, क्योंकि कुछ स्थलों पर उन्होंने रामचरित मानस को प्रबन्ध भी कहा है।[20] वाल्मीकि के साथ-साथ पूर्व सुकवि शम्भु (स्वयम्भू) का प्रबन्ध-काव्य, रामायण (पउमचरिउ) भी तुलसी की दृष्टि में था और स्वयम्भू द्वारा प्रस्तुत अनुपमेय-विविध-प्रसंगों पर आश्चर्य न करने का उल्लेख भी उन्होंने किया है। स्वयम्भू जैन थे और तुलसी वैष्णव, अतः हरि-कथा वर्णन में भिन्नता स्वाभाविक थी, इसी कारण उन्होंने हरि और हरि-कथा को अनन्त कहकर भिन्नता के समय का परिहार कर दिया है।[21] स्वयम्भू ने अपने काव्य को स्वयं 'रामायण', 'रामायण काव्य' और 'राघव-चरित' कहा है। विषय के अनुसार उसे कथा भी कह दिया है।[22]

चरित—

तुलसी ने अपने काव्य को तीन से अधिक बार चरित कहा है। चरित से

१९ नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्—
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा
भाषा निबन्ध मति मञ्जुल मातनोति॥ बा० का० श्लो० ७। पृ० ९।
रामचरित मानस के अध्ययन के लिये, तुलसी ग्रन्थावली, भाग १, खंड १
सम्पादक—माता प्रसाद गुप्त, हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद प्रति प्रयुक्त।

२० तब तब कथा मुनीसन्ह गाई। परम पुनीत प्रबन्ध बनाई। बा० १४० ॥ पृ ७३।

२१ यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्री शम्भुना दुर्गमं।
श्री मद्रामपदाब्ज भक्तिमनिशं प्राप्त्यै तु रामायणम्।
मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमः शान्तये।
भाषाबद्धमिदं चकार तुलसी दासस्तथा मानसम्। उ० क० पृ० ६६॥
विविध प्रसंग अनूप बखाने। करहिं न सुनि आचरजु सयाने।
हरि अनंत हरिकथा अनंता। कहहिं सुनहिं बहुविधि सब संता॥ बा० का० १४०। पृ० ७३।
भाषाबद्ध करबि मैं सोई। बा० ३१। पृ० ३०।
हरिगुन नाम अपार, कथा रूप अगनित अमित। बा० १२०। पृ० ६४
रामचरित सत कोटि अपारा। उ०। ५२।१३
कथा प्रबंध बिचित्र बनाई। बा० ३३।२१

२२ यथा रामहुकसुवणिउण्ण रामायण। पउम चरिउ १।२३।१। रामायण काव्य १।१।१० राहव चरिउ २३।१।६
राम-कहा १।२।१

तुलसी का अभिप्राय कही पूर्ण रामचरित से रहा है और कही प्रासगिक कथाओ के चरित से और कही घटना-विशेष के चरित से —

पूर्ण रामचरित से—[२३]

सूझहिं राम चरित मनि मानक । बा० १ । पृ० २
करन चहों रघुपति गुन गाहा ।
लघु मति मोरि चरित अवगाहा । बा० ८ । पृ० ६
कहं रघुपति के चरित अपारा ।
कह मनि मोरि निरत ससारा ॥ बा० १२।५-६ ।
राम चरित चिन्तामनि चारू । बा० का० ३२।पृ० २०

प्रासगिक कथाओ से—[२४]

उमा चरित सुन्दर मैं गावा ।
सुनहु सभु कर चरित सुहावा ॥ बा० ७५। पृ० ४१ ।
मार चरित सकरहिं सुनाए । बा० १६७।६७
देखा मैं चरित्र कलिजुग कर । बा० १००।५४३

घटनाओ से—

अब प्रभु चरित सुनहु अति पावन ।
करत जे वन सुर नर मुनि भावन । अरण्या० १।पृ० ३१६ ।
श्री राम-रावन समर-चरित अनेक कल्प जे गावहिं । लका १०१।८६६

तुलसी ने चरित की विशेषताओ का सकेत करने के लिये कही रुचिर, कही अनूप, और कही पावन शब्दो को जोड दिया है ।

तुलसी ने इस 'चरित' के दो अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषणो का भी प्रयोग किया है—समास और व्यास :—

कपि सन्न चरित समास बखाने । लंका० ६०। पृ० ४६८ ॥
कहेउं नाथ हरि चरित अनूपा । व्यास समास स्वमति अनुरूपा ॥
उ० १२३। ५६४ ॥

जहा सपूर्ण-घटनाओ का सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर दिया गया हो वहा

२३ अन्य स्थल द्रष्टव्य—बा० ३८। पृ० २४, १११।६०, १२१।६४, १८८।६५, लका ७४।४७७, लका १२१।४८६, उ० २०।५०१, २६।५०४, ४२ । ५१०, ५३।५१८, ११३।५५४

२४ अन्य स्थल द्रष्टव्य—बा० १०४। पृ० ५७, १२८।६८,

तो समास-चरित है और जहाँ विस्तृत विवरण दिया गया है वहाँ व्यास-चरित। समास-चरित का प्रदर्शन उत्तर काण्ड में तुलसी ने किया है, जहाँ काग भुशुण्डी, गरुड़ को पूरी सारी रामायण सुनाते हैं।[२५] यह रामचरित मानस के वर्ण्य की संक्षिप्त रूप रेखा है।

कथा—[२६]

तुलसी ने चरित के साथ ही साथ 'कथा' शब्द का भी प्रयोग किया है और स्वतन्त्र रूप में चरित-ग्रंथ के बोध के लिये भी उसका उपयोग किया गया है। तुलसी की दृष्टि में चरित और कथा में कोई अन्तर नहीं है। जिन अर्थों में चरित का प्रयोग हो सकता है, उन्हीं अर्थों में कथा का प्रयोग भी। तुलसी के युग में सैकड़ों वर्षों से चली आ रही काव्य-परम्परा में ये शब्द पर्यायवाची से बन गये थे। कथा के वास्तविक स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिये तुलसी के निम्नलिखित कथनों में निहित रूप पर ध्यान दिया जा सकता है—

(अ) हरि हर पद रति मति न कुतरकी। तिन्ह कहँ मधुर कथा रघुबर की। बा०६।१७
मंगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की। बा० १०।८॥

(आ) जागबलिक जो कथा सुहाई। भरद्वाज मुनिबरहि सुनाई।
कहिहौं सोइ संबाद बखानी। सुनहु सकल सज्जन सुख मानी। बा० ३०।१८
प्रभु अवतार कथा पुनि गाई। तब सिसु चरित कहेसि मन लाई। उ० ६४।५२३

(इ) रति गवनी सुनि संकर बानी। कथा अपर अब कहौं बखानी। बा० ८८।८८
सबहु सती संकरहि बिबाही। कथा प्रसिद्ध सकल जग जाही। बा० ६८।५३

'कथा' का (अ) में प्रयोग पूर्ण राम-चरित के अर्थ में, (आ) में घटना विशेष के अर्थ में तथा (इ) में प्रासंगिक चरित के अर्थ में हुआ है। तुलसी सुविधा के अनुसार कहीं कथा, कहीं चरित और कहीं दोनों का प्रयोग कर लेते थे—

सुनहु राम अवतार, चरित परम सुन्दर अनघ।
हरि गुन नाम अपार, कथा रूप अगनित अमित॥ बा० १२०।

अकथ-कहानी—

विद्यापति, कबीर, जायसी आदि ने अकथ-कहानी शब्द को सामान्यतः प्रेम-

२५ द्रष्टव्य—उत्तरकाण्ड ६४। पृ० ५२३।

२६ कथा के विविध उल्लेखों के लिए द्रष्टव्य—बा० का० १४।११, ३३।२१, ४७।८, ५१।३० १०७,५८, तथा पृ० ७३, ७८, ८३, १०३, २३८, २४६, ३०२, ३७८, ४६१, ५१२, ५२३, ५२६, ५६१, ५६७।

कहानी के अर्थ मे प्रयुक्त किया है, भले ही यह प्रेम-कहानी लौकिक हो या आध्यात्मिक। तुलसी ने एक स्थान पर इस शब्द का प्रयोग किया है—

> सुनहु तात यह अकथ कहानी। समुझत बनइ न जाइ बखानी।
> ईश्वर अंश जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥
>
> उ० ११७। पृ० ५५७।

तुलसी की यह अकथ-कहानी दार्शनिक और आध्यात्मिक है। यह ब्रह्म, जीव, माया (अविद्या), ज्ञान और भक्ति तथा मुक्ति की कहानी है। तुलसी ने इस प्रसग मे कहा है—

> ब्रह्म पयोनिधि मदर, ज्ञान सत सुर आहिं।
> कथा-सुधा मथि काढहीं, भगति मधुरता जाहिं। उ० १२०। पृ० ५६१

प्रसंग और सवाद—

पूर्ण कथा के भाग या प्रासगिक कथाओ के लिये तुलसी ने इन दोनो शब्दो का प्रयोग किया है—

> बहुरि राम अभिषेक प्रसगा। उ० ६५।५२३ पृ०।
> तब नारद सबही समुझावा। पूरब कथा प्रसगु सुनावा। बा० ६८।५३
> जन महु व्यापेउ सकल पुर, घर घर यह सवाद॥ बा० ६८।५३
> जनक भरत सवादु सुनाई। अयो० २९६।३०५
> भरत राम सवादु सुनि, सकल सुमगल मूल। अयो० ३०८।३११
> यह सुभ सभु उमा सवादा। सुख सपादन समन बिषादा। उ० १३०।५६८

राम-रहस्य—

राम के ब्रह्म-स्वरूप की अभिव्यजना और उनके प्रति भक्तो के प्रेम-वर्णन को तुलसी ने 'राम-रहस्य' शब्द से अभिहित किया है। तुलसी ने तीन स्थलो पर इसका प्रयोग किया है—

(१) शिव-उमा के सवाद मे—

> औरौ राम-रहस्य अनेका। कहहु नाथ अति बिमल बिवेका। बा० ११११६०

उमा के यह पूछने पर हर-हृदय मे सारा राम-चरित आ गया। वे प्रेम से पुलकित हो गये, नेत्रो मे प्रेमाश्रु उमड आये और दो दड के लिये वे 'ध्यान-रस' मे मग्न हो गये।[२७]

२७ हर हिय राम चरित सब आये। प्रेम पुलक लोचन जल छाये।
मगन ध्यान रस दड जुग, पुनि मन बाहेर कीन्ह॥ बा० ११११६०

(२) काग-भुसुण्डी और गरुड के सवाद मे—

तव पसाद मन मोह नसाना। राम रहस्य अनूपम जाना। उ० ९३।५४०

यहाँ भी मोह-नाश की बात कही गई है।

(३) इन्ही दोनो पात्रो के सवाद मे भक्ति और ज्ञान के स्वरूप का वर्णन तथा भक्ति के प्रति अधिक रुचि प्रदर्शित करते हुए या उनकी महत्ता का प्रतिपादन करते हुए काग भुसुण्डी ने कहा है—

यह रहस्य रघुनाथ कर बेगि न जानइ कोइ।
जाने ते रघुपति कृपा सपनेहु मोह न होइ॥ उ० ११६।५५७

राम की कृपा इस रहस्य-ज्ञान के लिये आवश्यक है।[२८]

कवित्त और भनिति—

तुलसी ने कवित्त का प्रयोग सामान्यत कविता या काव्य के अर्थ मे ही किया है। 'निज कवित्त केहि लाग न नीका'[२९] मे 'कविता' ही अभिप्रेत है। अपनी कविता सरस हो या फीकी, अच्छी लगती है। इसी प्रसग मे साथ-साथ जो 'परभनिति सुनत हरषाही'[३०] मे भनिति का प्रयोग कविता के स्थान पर उसी अर्थ मे किया गया है। आचार्य विनयमोहन शर्मा का कथन है कि 'काव्य के लिये कवित्त और भणिति का का प्रचलन सस्कृतेतर भाषाओ मे तुलसी के बहुत समय पूर्व से होने लगा था। हिन्दी मे रीति-काल तक कवित्त तो इसी अर्थ मे प्रचलित रहा, पर भणिति नही।' 'कवित रसिक न राम पद नेहू'[३१] मे कवित-रसिक से तुलसी का अभिप्राय काव्य-रसिक से ही है। कवित और भनिति काव्य या कविता के अर्थ मे ही प्रयुक्त हुए है।

मानस-रूपक—[३२]

मानस-रूपक तुलसी की काव्य-सम्बन्धी धारणा का स्पष्ट चित्र सामने लाता है। शिव की कृपा से हृदय मे सद्बुद्धि का उल्लास हुआ और कवि तुलसी ने राम-चरित मानस का सृजन किया। काव्य को मनोहर बनाने के लिये यथाशक्ति प्रयत्न किया गया है। सुजन इसे सुनते है। सुमति भूमि है, वेद-पुराण उदधि हैं, साधु जन मेघ हैं। राम का सुजस ही मधुर, मनोहर और मगलमय जल है, जिसकी वर्षा

२८ यह सुभ चरित जान पै सोई। कृपा राम कै जापर होई। बा० १९६। पृ० ९९।
२९ बालकाण्ड ८। पृ० ७।
३० 'मानस में तुलसी के काव्य-सिद्धान्त'— लेख से, मानस मयूख ११४ पृ० २९६
३१ और भी—भाषा भनिति मोरि मति भोरी। बा० ९।७
भनिति मोर सियकृपा विभाती। बा० १५।पृ० १२ -
३२ बालकाण्ड दो० ३६-३७। पृ० २८-२३

होती है। सगुण-लीला का वर्णन जल की निर्मलता है। प्रेम और भक्ति ही उस सुजस जल की मधुरता और शीतलता है। इससे उत्पन्न सुकृत-सालि राम-भक्तो का जीवन है अथवा वह जल ही भक्तो का जीवन है। मेधा-भूमि-गत यह पवित्र जल, श्रवण मार्ग मे प्रवाहित होता है और सुन्दर मानस-रूपी मानस मे स्थिरता प्राप्त करता है। सवाद ही घाट है।

इस राम चरित मानस के सात प्रबन्ध (काण्ड) ही सुभग सोपान है। ज्ञान-नयन से इनका दर्शन होता है। रघुपति महिमा इसका अथाह जल है। राम-सीता का यह यश जल, सुधा-सदृश् है। काव्य मे आई उपमायें ही वीचि-विलास हैं। चौपाई, कमल-पत्र हैं, युक्तिया मुक्तासीप है। छन्द, सोरठा, दोहा बहुरगी कमल है। इनमे निहित अर्थ, पराग, सुन्दर भाव मधु, और सुन्दर भाषा सुगन्धि है। सुकृत-समूह भ्रमर है, ज्ञान, वैराग्य और विचार राजहस हैं, ध्वनि, वक्रोक्ति और कविता के गुण ही विविध प्रकार के मीन है। नव रस, जप, तप, योग और वैराग्य उस सुन्दर तडाग के अन्य जलचर हैं। साधु, सुकृती, नाम, गुणगान, विचित्र जल-विहग हैं। सत-सभा तडाग के चारो ओर की अमराई है। श्रद्धा वसन्त-ऋतु है। भक्ति का विविध रूपो मे निरूपण किया गया है। क्षमा, दया, दम आदि लता वितान है, सम, यम, नियम, फल है, ज्ञान फूल है और हरि-पद-रति ही 'रस' है। अन्य कथा प्रसग, शुक-पिक आदि विविध वर्णो के विहग हैं। पुलक, सुख आदि की उपलब्धि करने वाले मानस के अधिकारी, श्रोता नर-नारी है। जो इस चरित को गाते हैं, वे ही इसके रक्षक हैं।

तुलसी ने इस मानस-रूपक मे रामचरित मानस के हेतु, प्रयोजन, गठन, वर्ण्य-विषय, छन्द-विधान, भाषा, रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, गुण, अलकार (उपमा), सवाद और युक्ति आदि, सबके समाविष्ट या प्रयुक्त होने का उल्लेख कर दिया है। तुलसी के कथनानुसार काव्य का मुख्य लक्ष्य भक्ति का विधान है और उसका आनन्द है 'हरिपदरति-रस'। यही भक्ति-रस है, यही रामचरित मानस की आत्मा है।

काव्य-सिद्धान्त-रस—

तुलसी के अपने ही कथन इस तथ्य के साक्षी हैं कि रस ही काव्य की आत्मा है। यह तुलसी का मान्य रस नव रसो मे से कोई नही है। यह इन सबसे उत्तम, भक्ति-रस है और तुलसी के कथन के अनुसार ही हरिचरण मे रति इसका स्थायी भाव है। तुलसी के समय तक मधुसूदन सरस्वती, रूप गोस्वामी आदि भक्ति को भाव-कोटि से ऊपर उठा कर रस कोटि मे रख चुके थे। आचार्य विनयमोहन शर्मा के कथनानुसार 'भाव पर बल देने के कारण तुलसी स्पष्ट ही काव्य की आत्मा रस मानते हैं तथा ध्वनि, वक्रोक्ति और गुणो को रसोत्कर्षक तत्त्व।'[33]

३३ मानस में तुलसी के काव्य सिद्धान्त—शीर्षक लेख, मानस मयूख, पृ० ३६६

सकेत—तुलसी ने रामचरित मानस में अनेक स्थलों पर रस[34] शब्द का प्रयोग किया है—

(१) भाव भेद रस भेद अपारा। बा० ९।७।१०
(२) जदपि कबित रस एकौ नाहीं। बा० १०।८।
(३) जे राम भगति रस लीन। बा० २२।१।
(४) नव रस जप तप जोग बिरागा। बा० ३७।१३
(५) भय सकोच प्रेम रस सानी। बा० ६१।३४
(६) मगन ध्यान रस दंड जुग। बा० १११।६०
(७) आनन रहित सकल रस भोगी। बा० ११८।६३
(८) सुत बिषयक तव पद रति होऊ॥ बा० १५१।७८।
(९) जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप। अयो० २४१।१२०
(१०) प्रेम प्रताप बीर रस पागी। अयो० २८३।१४६
(११) जनु करुना बहु बेष बिसूरति। अयो० २८१।२९९
(१२) सो सकोचु रसु अकथ सुबानी अयो० ३१८।३१६।
(१३) अवसि होइ भव रस बिरति। अयो० ३१६।३१८॥
(१४) बोली बचन नीति रस पागी। सु० ३६।२८६।
(१५) देखि महा रस भंग। लं० १३।६२०।
(१६) जनु प्रेम सिंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही उ० ८।४६१।
(१७) रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं। उ० ५३।५१७ पृ०

भाव-भेद से रस-भेद अनेक होते हैं। तुलसी इसे स्वीकार करते हैं कि परिस्थिति विशेष मे अपनी तीव्रता के कारण सचारी भाव भी रसत्व प्राप्त कर सकते हैं। काव्य-रस और उसके नव-रस, भक्ति-रस से भिन्न हैं। काव्य-रस, भक्ति-रस के पोषक हैं। भय, सकोच और प्रेम, रसत्व प्राप्त करते हैं। इनमे सकोच स्पष्टतः सचारी है पर तुलसी ने सकोच रस का भी उल्लेख किया है। ध्यान-रस भी होता है। प्रभुपद रति के विविध रूप हो सकते हैं, सुत-विषयक-रति उनमे से एक है। शृगार अतुलनीय रूप धारण कर सकता है। वीर रस और करुण रस, नव रसो मे परिगणित हैं। भव-रस का प्रयोग तुलसी ने सासारिक आनन्द के अर्थ मे किया है।

[34] रस सकेत के अन्य स्थल—प्रेमरस—पृ० ७६, २३३, ३८६, ५००, ५१५
शान्तिरस—पृ० २६८।
वीररस—पृ० २७७, ४४५
विस्मय—पृ० ४३५

अत रस को वे आनन्द स्वरूप मानते है। नीतिजन्य आनन्द को तुलसी नीति-रस कहते हैं। 'महारस', जो सिद्धो के समय से समाज मे, ब्रह्म रस या आत्मा और परमात्मा के मिलन-विरह-रस के अर्थ मे प्रयुक्त होता था, तथा जो रहस्यपूर्ण था, तुलसी के समय तक अपने मूल अर्थ को छोड कर केवल शृगार के अर्थ मे व्यवहृत होने लगा था। शृगार का स्थायी भाव प्रेम है। महारस और शृगार दोनो का मिलन या रस-परिपाक सौन्दर्य की लडी पिरो देता है। रसानुभूति को जो बार-बार ग्रहण नही करते, वे रस की विशेषता को नही समझ सकते।

ध्वनि-सकेत—

तुलसी यद्यपि ध्वनि, वक्रोक्ति और गुण को कविता या काव्य के लिये आवश्यक मानते हैं, पर इन्हे भी वे अपने भक्ति-रस का पोषक ही समझते है। तुलसी ने ध्वनि के निम्नलिखित सकेत दिये हैं—

(१) धुनि अवरेब कवित गुन जाती। बा० ३७।२३ पृ०

(२) कुहू कुहू कोकिल धुनि करहीं। सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरही।

अरण्य० ४०। ३४९

ध्वनि, शब्द की भी हो सकती है और अर्थ की भी, पहले की गणना अलकार मे और दूसरे की आर्थी-व्यजना तथा ध्वनि सिद्धान्त मे होती है। द्वितीय उद्धरण मे 'रव-सरस' कह कर तुलसी ने रस-ध्वनि का सकेत किया है।

गुण या रीति-सकेत—

गुण, रीति-सिद्धान्त के मुख्य आधार हैं। तुलसी ने 'गुण' का निम्नलिखित रूपो मे सकेत किया है—

(१) अनमिल आखर अरथ न जापू। बा० १५। पृ० ११।

(२) सखर सुकोमल मजु, दोष रहित दूषन सहित। बा० १४।११

(३) एहि बिधि निज गुन दोष कहि, सबहि बहुरि सिरु नाइ।
बरनौ रघुबर बिसद जसु, सुनि कलि कलुष नसाइ। बा० २६।१६

(४) धुनि अवरेव कवित गुन जाती। बा० ३७।२३।

(५) दोषौ गुन सम कह सबु कोई॥ बा० ६६।३८॥ देव वर्णन में॥

(६) कहि न सकहि गुन रुचि अधिकाई।
मति गति बाल वचन की नाई। अयो० ३०३।३०८

(७) कवित दोष गुन बिबिध प्रकारा। बा० ६।७।

(८) सब गुन रहित कुकवि कृत बानी।
राम नाम जस अंकित जानी॥ बा० १०।८।

तुलसी के इन सकेतो के आधार पर ज्ञात होता है कि अर्थाभिव्यक्ति मे, अनमेल अक्षर (वृत्तियो के परस्पर प्रतिकूल) समर्थ नहीं होते हैं। परुषा, कोमला और मधुरा वृत्तियाँ काव्य के लिये आवश्यक हैं। दोष रहितता भी अपेक्षित है। गुण, कविता के गुणो की वृद्धि करते हैं। देवादि (शकर-विवाह) के वर्णन मे दोष भी कभी-कभी गुण हो जाते हैं।[३५] अन्तिम उद्धरण भरत के गुणो की महिमा के वर्णन मे स्वय तुलसी द्वारा कहा गया है। हृदय के उल्लास मे वर्णन करते समय गुणो की वास्तविक महत्ता का प्रतिपादन कभी कभी सभव नही भी हो पाता।

वक्रोक्ति-सकेत—

तुलसी ने ध्वनि और गुण के साथ ही 'अवरेब' का भी सकेत किया है।[३६] अन्य सकेत निम्नलिखित है—

(१) जयति वचन रचना अति नागर। बा० २८५।१४० पृ०
(२) दूत वचन रचना प्रिय लागी। प्रेम प्रताप वीर रस पागी। बा० २९३।१४४
(३) राम कृपा अवरेब सुधारी। बिबुधधारि भइ गुनद गोहारी।
मेंटत भुज भरि भाइ भरत सो। राम प्रेम रस कहि न परत सो।
अयो० ३१७।३१
(४) बक्र उक्ति धनु बचन सर, हृदय दहेउ रिपु कीस। लं० २३।४१६

तुलसी ने रसानुकूल वचन-रचना को महत्त्व दिया है। वक्रोक्ति मे व्यग्य या ध्वनि-वक्रोक्ति को ही उन्होंने विशिष्टता दी है। तृतीय उद्धरण तो अत्यन्त सकेत-पूर्ण है। यहाँ 'अवरेब' सुधरा हो तो गुण बन जाता है। गुण और वक्रोक्ति के मिलने से राम-प्रेम-रस या रसोत्कर्ष बढ जाता है। वस्तु-वक्रोक्ति भी उनकी दृष्टि से ओझल नही है।[३७]

अलकार-सकेत—

प्राय सन्तो और भक्तो की परम्परा, काव्य या भक्तिवाणी को अलकृत बनाने की ओर ध्यान नहीं देती थी। भाव ही उनकी दृष्टि मे मुख्य था, वह भी

३५ द्रष्टव्य—काव्य प्रकाश ८।७८ और उसकी व्याख्या—दोष भी गुण।
३६ धुनि अवरेब कवित गुन जाती। बा० ३७।२३।
३७ भनिति कूर कविता सरित की ज्यो सरित पावन पाथ की। बा० १०।८

आराध्य के प्रति प्रेम और श्रद्धा का भाव। उनकी दृष्टि मे हरिनाम-भक्ति-प्रेम-युत सरल वचन भी रसपूर्ण हो सकता था और उसे काव्य का स्तर प्राप्त हो जाता था। तुलसी ने अलकारो को भाव का वहिरग या शोभा-विधायक धर्म ही माना है। उनका निम्नलिखित कथन अत्यन्त सकेत-पूर्ण है—

> तुलसी देखि सुवेषु भूलहिं मूढ न चतुर नर।
> सुंदर केकहि पेखु वचन सुधा सम असन अहि ॥ बा० १६१।८२॥

तुलसी के चतुर नर भक्ति-रसिक है। बाह्य सौन्दर्य मूल्यवान् नही है, यदि अन्त मे विष हो। यही वाणी या कविता के विषय मे भी सत्य है। तुलसी शब्द और अर्थ मे द्वैत भाव नही मानते।[३८] साथ ही वे 'आखर अरथ' को नाना प्रकार का मान कर श्लेषादि की ओर तथा 'अलकृति नाना' कह कर अनेक प्रकार के अलकारो की ओर सकेत करते हैं।[३९] अपने मत के अनुसार राम नाम रहित विचित्र-भनिति को वे शोभनीय नही मानते।[४०] 'भनिति मदेस वस्तु भलि वरनी। राम-कथा जग मगल करनी'[४१] से स्पष्ट है कि 'सुदेश भनिति' के अभाव मे भी लोक-मगल करने वाली रामकथा 'सुजन-मन-भावनी' हो सकती है, आचार्य विनय मोहन शर्मा का कथन है कि 'तुलसी के मत से काव्य मे कथ्य ही प्रधान है, शिल्प नही।[४२] सिया राम-जस, ग्राम्य-गिरा मे भी सज्जनो के गाने-सुनने योग्य है।[४३] कवि की वास्तविक शक्ति, अक्षर और उनमे निहित अर्थ के प्रयोग मे है, उनके चमत्कार-प्रदर्शन मे नही, ये तो कवि के सकेत पर नृत्य करते है।[४४] सरल कविता मे विमल-कीर्ति का गान ही सुजनो के लिये आदरणीय है।

अलकारो को महत्त्व न देते हुए भी तुलसी ने काव्य को उससे शून्य नही माना है। उपमाओ को तुलसी ने रामचरित-मानस का वीचि-विलास कहा है।[४५]

अलकारो के नाम मे तुलसी ने केवल—उपमा,[४६] अति उक्ति (अति-शयोक्ति

३८ गिरा अरथ जल वीचि सम कहिअत भिन्न-न-भिन्न। बा० १८।१३
३९ आखर अरथ अलकृति नाना। बा० ८।७। ४, बा० का० दो० १०। पृ० ७
४० भनिति विचित्र सुकवि कृत जोऊ। राम नाम विनु सोह न सोऊ। बा० १०।८
४१ मानस में तुलसी के काव्य सिद्धान्त—शीर्षक लेख से।
४२ गिरा ग्राम्य सिय राम जस, गावहि सुनहिं सुजान। बा० १०।८
४३ कविहि अरथ आखर बल साचा।
   अनुहरि ताल गतिहि नट नाचा ॥ अयो० २४१।२८७।
४४ सरल कवित कीरति विमल, सोइ आदरहिं सुजान। बा० १४।११
४५ उपमा वीचि विलास मनोरम। बा० ३७। पृ० ३३।
४६ बा० का० २३०।११४, २४७।१२२, ३२०।१५६, ३२५।१५८, उ० ८२।५३८,

या अत्युक्ति)[४७] और युक्ति[४८] का ही उल्लेख किया है। इनमे से उपमा का प्रयोग उपमान के लिये ही किया गया है। जैसे, नव उपमा कवि रहे जुठारी।' केवल एक स्थान पर इनका सकेत, उपमा अलकार के अर्थ मे प्रतीत होता है—'प्रभु निलत अनुजहि मोह सो पहि जाति नहि उपमा कही।' सादृश्य-मूलक अलकारो को तुलसी अधिक उपयुक्त समझते हैं, यह 'उपमा' के कई स्थलो पर प्रयोग से स्पष्ट होता है।

औचित्य—

तुलसी, काव्य का मुख्य हेतु 'विमल-बुद्धि' मानते हैं। विमल-बुद्धि, औचित्य का पूर्ण पालन करने मे समर्थ होती है। जीवन मे जिस प्रकार वह मर्यादापूर्ण सदाचार पक्ष की उपेक्षा नही करती उसी प्रकार काव्य मे भी वस्तु आदि के औचित्य का वह त्याग नही कर सकती। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि रस, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि सिद्धान्तो के तुलसी पूर्ण मर्मज्ञ थे, अत रसौचित्य आदि के पालन के लिये भी वे सतर्क हैं।

औचित्य के सम्बन्ध मे तुलसी का स्पष्ट दृष्टिकोण है कि—

अनुचित उचित काजु कछु होऊ। समुझि करिअ भल कह सब कोऊ।

तुलसी लोक मान्यता के प्रति कितने सतर्क हैं; यह निम्नलिखित पक्ति से स्पष्ट हो जाता है—

लोक मान्यता अनल सम कर तप कानन दाहु। बा० १६१। पृ० ८२॥

लोकहु वेद विदित नहि गोई। अयो० २६७।२६३।

काव्य-सम्बन्धी गौण विचार—

तुलसी ने काव्य-सिद्धान्तो के अतिरिक्त अन्य विचारो को भी स्थान-स्थान पर व्यक्त किया है, जिनसे काव्य के सम्बन्ध मे उनके दृष्टिकोण की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है—

कवि—

तुलसी की दृष्टि मे कवि वह है जो देव-कृपा (प्रतिभा), निगमागम ज्ञान (व्युत्पत्ति) और गुरुकृपा (अभ्यास) से सम्पन्न होकर निर्मल-बुद्धि का धनी हो। उसकी विनम्रता स्पृहणीय हो।[४९] कलिमलहारी हरिजस गाता हो। प्राकृत जन का

४७ लका० ९।४०३,
४८ लका० ३४। ४८२ पृ०
४९ कवि न होउ नहि बचन प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू। बा० ८।७ पृ० और १२।९
म० ३०४।३०९

गुण-गान न करे।[५०] कवि के दो रूप है—सुकवि और कुकवि।[५१] सुकवि राम भक्त होता है।[५२] यथामति, भवानीशकर का स्मरण कर राम कथा कहता है।[५३] कुकवि यह है, जो प्राकृत नारी का अगवर्णन करे।[५४] पूर्व कवियो को प्रमाण-भूत मानना भी कवि का एक विशिष्ट गुण है।[५५] लोक-वेद-विदित (मान्य) का वर्णन ही कवि को करना चाहिए।[५६] कवि की गति अलखित होती है।[५७] अक्षरो और अर्थो को भावानुकूल प्रयुक्त करने मे समर्थ वह हो।[५८] लोभग्रस्त कवि को तुलसी अच्छा नही समझते।[५९] कलि के कवि उदार नही होते।[६०] वे प्राकृत कवि होते है।

सहृदय या काव्य रसिक—

तुलसी वास्तविक सहृदय तो राम-भक्तो को ही मानते हैं क्योकि काव्य ही वह है, जो रामकथा-सयुक्त हो। इनकी दृष्टि मे काव्य-दोषो को क्षमा करने की उसमे शक्ति होनी चाहिए।[६१] यदि वह कवि हो तो 'पर-भनिति' को सुनकर भी उसे प्रसन्न होना चाहिये।[६२] श्रद्धा और सत्सग-रहित को मानस तो अगम्य ही है।[६३] सहृदय को सुजन होना चाहिए।[६४] समदरसी (निष्पक्ष-द्रष्टा) ही सुजन है।[६५] श्रोता के गुणो और विशेषताओ को इस एक दोहे मे तुलसी ने एकत्र कर दिया है—

५० गावहि हरि जस कल्मष हारी। बा० ११।८ पू०
कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना। बा० ११।८॥
५१ सुकवि कुकवि निज मति अनुहारी। बा० २८।१८।
५२ सुकवि सरद नभ मन उडुगन से। राम भगत जन जीवन धन से। बा० ३२।२१
उ० १२७। ५६६
५३ सुमिरि भवानी सकरहि कह कवि कथा सुहाइ। बा० ४४।२७, उ० १३०।५६८
उ० १२८।५६७।
५४ उपमा सकल मोहि लघु लागी। प्राकृत नारि अग अनुरागी।
सिय बरनिअ भति उपमा देई। कुकवि कहाइ अजसु को लेई। बा० २४७।१२२
५५ सत्य कहहि कवि नारि सुभाऊ। अयो० ४७। १६६। और भी उ० १०६। ५४७।
५६ लोकहु वेद विदित कवि कहही। अयो० २५२।२८७।
५७ कवि अलखित गति वेपु विरागी। मन क्रम वचन राम अनुरागी। अयो० ११०।२२५
५८ कविहि अरथ आखर बलु साचा। अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा। अयो० २४१।२८७
५९ ज्ञानी तापस सूर कवि कोविद गुन आगार। केहि कै लोभ विडबना, कीन्ह न येहि ससार॥
उ० ७०।५२६।
६० कवि वृन्द उदार दुनी न सुनी। उ० १०१।५४४
जे प्राकृत कवि परम सयाने। बा० १४।१०।
६१ छमिहहि सज्जन मोरि ढिठाई। बा०८।७६
६२ जे पर भनिति सुनत हरषाही। बा० ८।७
६३ बा० ३८।२४
६४ बा० ४०।२५।
६५ स० ४८।३६५

सोना सुमति सुसील सुचि, कथा रसिक हरिदास।
पाइ उमा अनि गोप्यमपि सज्जन करहि प्रकास। उ० ६६। पृ० ५२६

काव्य की परख—

तुलसी ने काव्य की परख की एक निश्चित कसौटी सामने रखी है। माणिक्य अन्यत्र पैदा होते है पर उनकी शोभा अन्यत्र होती है। वैसे ही सुकवि की कविता भी उत्पन्न कही होती है और उसे गौरव अन्यत्र (पाठक और श्रोता-समाज मे) मिलता है।[६६] जिस काव्य-प्रबन्ध का आदर विद्वज्जन न करें ऐसे काव्य का किया जाने वाला श्रम, कवि की अजता का प्रतीक है।[६७] तुलसी जन-भाषा को काव्योपयोगी तो मानते ही थे, उनका स्पष्ट विचार दिखाई पडता है कि 'भाषा-भनिति' का प्रभाव अधिक होता है।[६८] जिस प्रकार शुक के पाठ की प्रवीणता पाठ कराने वाले के ऊपर निर्भर करती है, उसी प्रकार कवि-कौशल हरिकृपा का फल है और सहृदय-पाठक या श्रोता ही उसकी प्रशसा कर सकते हैं।[६९] रसिक-सुजन ही तुलसी की दृष्टि मे सच्चे काव्य-पारखी है। वे ही काव्य के रक्षक भी हैं।[७०]

छन्द सकेत—

वर्ण, अर्थ और रस के साथ छन्द के महत्त्व को भी तुलसी स्वीकार करते हैं।[७१] छन्द, सोरठा, दोहा का उल्लेख तो उन्होंने मानस-रूपक मे ही कर दिया है।[७२] प्रमुख छन्द, चौपाई को उन्होने पुरइन पात माना है।[७३] अपभ्र श काल से ही प्रबन्धो मे छन्दो का कितना प्रमुख स्थान था, इससे तुलमी परिचित थे।

काव्य-सिद्धान्तो के प्रयोग—

तुलमी के सम्पूर्ण साहित्य की इतनी आलोचना-प्रत्यालोचना, मन्थन, मनन और चिन्तन सहित लेखन हो चुका है कि विद्वज्जनो के व्यक्त उन विचारो की सूची-मात्र देना भी यहा सम्भव नही है। 'राम चरित मानस' तुलसी का सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण प्रवन्ध-काव्य है। तुलसी ने मानम-रूपक मे जिस प्रकार प्रबन्ध के बीच-बीच मे

६६ तैसेहि सुकवि कवित बुध कहही। उपजहि अनत अनत छवि लहही। बा० का० ११।८॥
६७ जे प्रबन्ध बुध नहि आदरही। सो श्रम वादि बाल कवि करही। बा० १४।१०।
६८ तो फुर होउ जो कहेउ सब, भाषा भनिति प्रभाउ॥ बा० १५।१२।
६९ गुन गति नट पाठक आधीना। अयो० २६९।३०७।
७० जे गावहि यह चरित सभारे। तेइ एहि ताल चतुर रखवारे। बा० ३८।२४।
७१ रमाना छदमामपि बा० १।१
७२ छद सोरठा सुदर दोहा। बा० ३७।२३॥
७३ पुरइनि सघन चारु चौपाई। वही।

आई कथाओ को विश्राम-स्थल माना है, उसी प्रकार तुलसी की काव्य-सरिता के विनय पत्रिका, कवितावली, दोहावली आदि तटीय-विश्राम-स्थल है। मुख्य-साधना तो रामचरित-मानस मे ही अभिव्यजित हुई है।

रामचरित मानस हिन्दी का सर्वाधिक लोकप्रिय काव्य है। उसकी महानता और उसकी ऊचाई उसे महाकाव्यो की परम्परा मे सर्वोच्च स्थान प्राप्त कराती है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ऐसे ही महाकाव्यो के सम्बन्ध मे लिखा है—'दूसरी श्रेणी के कवि वे हैं जिनकी रचना मे, अन्तस्तल से, एक सारा देश, एक सारा युग अपने हृदय को और अपनी अभिज्ञता को प्रकट करके उस रचना को सदा के लिए समादरणीय सामग्री बना देता है। इस दूसरी श्रेणी के कवि ही महाकवि कहे जाते हैं। सारे देशो और सारी जातियो की सरस्वती इनका आश्रय लेती है। इनकी उक्तिया देशमात्र और जातिमात्र को मान्य होती है। उनकी रचना उस बडे वृक्ष सी मालूम होती है", जो देश के हृदय-रूपी-भूतल से उत्पन्न होकर उस देश भर को आश्रय रूपी छाया देता हुआ खडा हो।[७४] रामचरित मानस, रवि बाबू के महाकाव्य सम्बन्धी विचारो का मूर्तरूप है। यह हिन्दू जाति मात्र मे रामायण-महाभारत की भाति ही धर्मग्रन्थ माना जाता है और इसकी पक्तिया प्रमाण स्वरूप उद्धृत की जाती है।

श्री कृष्णलाल के अनुसार रामचरित मानस महाकाव्य नही, पुराण या पुराण-काव्य है।[७५] इतिहास और पुराण, काव्यो के उपजीव्य होते हैं, क्योकि नायक प्रख्यात होना चाहिए। भारतीय साहित्य मे पौराणिक शैली के महाकाव्यो की कमी नही है। अत. रामचरित मानस को रामायण, पउमचरिउ, महापुराण आदि पौराणिक शैली के महाकाव्यो की परम्परा मे रखकर ही उसका मूल्याकन होना चाहिए। 'रामचरित मानस' में सर्ग, प्रतिसर्ग, मन्वन्तर आदि का वर्णन तो नही ही हुआ है विभिन्न राजवशो का वशानुक्रम, तीर्थ-व्रत का माहात्म्य तथा अन्य बातें भी जो प्रायः सभी पुराणो मे मिलती है, इसमे नही है। ऋषियो और देवताओ का वश-वर्णन तो दूर, उसमे काव्य के नायक के वश का भी वर्णन नही हुआ है। रामचरित मानस अपभ्रश के चरित काव्यो की परम्परा का पौराणिक-शैली मे लिखा गया प्रबन्ध-काव्य है।[७६]

तुलसी स्वय अपने काव्य को 'प्रबन्ध' कहते है। इसकी आत्मा 'हरिपद-रति-रस' है। इसी की पुष्टि के लिए वे पौराणिक शैली का आश्रय लेते हैं। प्रसगवश आई बीच-बीच की कथाओ ने इसे पुराण नही बनाया है, केवल पौराणिक शैली के ग्रहण

७४ प्राचीन साहित्य—पृ० १-२ पर—(हिन्दी अनुवाद, बम्बई सस्करण स० १६८०)।

७५ मानस-दर्शन-काशी—स० २००६—पृ० १५७-१५६ द्रष्टव्य।

७६ हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—डॉ० शभूनाथ सिंह हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय-वाराणसी—१, द्वितीयावृत्ति, मई १६६२, पृ० ४५३, ४८७ और ४८८ द्रष्टव्य।

का ही इसमे प्रमाण मिलता है। स्वय रामायण और महाभारत ने तथ्यो के पोषण और ज्ञान-वृद्धि के लिये प्रासगिक कथाओ की अवतारणा की है। यह काव्य को, पुराण बनाना नही, भारतीय-प्रवन्ध-काव्य-परम्परा मे गृहीत एक मान्य शैली का अवतरण मात्र है। तुलसी के काव्य लक्ष्य की उपेक्षा कर इन प्रासगिक कथाओ का मूल्याकन नही किया जा सकता न उनके योग से वनने वाली काव्य-शैली का ही।[७७] तुलसी के रामचरित मानस मे सभी रसो का प्रयोग हुआ है। इनका शृ गार मर्यादित है। वे सीता के सौन्दर्य-वर्णन मे या तो अपनी वाणी को मौन कर लेते हैं अथवा उपमा की अप्राप्ति वता देते हैं, और जूठे उपमानो से सीता के सौन्दर्य-वर्णन को अनुचित कहकर टाल देते हैं। नायक के शील, शक्ति और सौन्दर्य का उन्होंने खुलकर वर्णन किया है। विनय पत्रिका तो नायक के महत्त्व का प्रतिष्ठापक और तुलसी की काव्य-क्षमता तथा उपमान-सकलन का पूर्ण परिचायक ग्रन्थ है। दोहावली का चातक-प्रेम एक भक्त के राम-चरण-रति का प्रतीक है।

शृगार के मर्यादित वर्णन का सर्वोत्तम रूप वालकाण्ड के भीतर उपवन मे सीता और राम के परस्पर प्रथम-दर्शन के समय मिलता है। यहा आलम्बन, उद्दीपन, सचारी, स्थायी, सभी शृगार के अग उपलब्ध हो जाते हैं।[७८] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रामचरित मानस की विशेषताओ की गणना करते हुए लिखा है कि 'चौथी वात है शृगार रस का शिष्ट मर्यादा के भीतर वहुत ही व्यजक वर्णन।[७९] विप्रलम्भ शृगार के मनोरम स्थल हैं—नायकारव्ध-राम विलाप[८०] तथा नायिका पक्ष का अशोक वाटिका स्थित सीता की विरह दशा।[८१]

करुण की अभिव्यजना दशरथ-निधन के प्रसग मे अयोध्या काण्ड मे हुई है।[८२] लका काण्ड मे भी इसके दर्शन होते हैं। शान्त रस की प्रतिष्ठा मे उत्तर काण्ड का दर्शन किया जा सकता है। रौद्र की अभिव्यजना भरत के ससैन्य चित्रकूट-गमन के

७७ कहेउ परम पुनीत इतिहासा।
सुनत स्रवन छूटहिं भव पासा॥
प्रनत कलप तरु करुना पुजा।
उपजइ प्रीति राम पद कजा॥ उ० १२६। पृ० ५६६

७८ द्रष्टव्य—वालकाड दोहा २२८-२४३ तक पृ० ११४-१२१।
रामहि चितव भाव जेहि सीया। सो सनेहु सुख नहि कथनीया। वा० २४२। पृ० १२०।

७९ हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृ० १६०

८० अरण्यकाण्ड ३०। पृ० ३४२।

८१ सुन्दरकाण्ड—दो० १२। पृ० ३७८

८२ मुख सुखाहि लोचन स्रवहिं, सोकु न हृदय समाइ।
मनहु करुन रस कटकई, उतरी अवध वजाइ॥ अयो० ४६। पृ० १६६

समय लक्ष्मण की उक्तियो मे हुई है।[८३] यहा वीर, रौद्र का सहायक रहा है। लका काण्ड तो वीर, रौद्र और भयानक सहित अद्भुत और वीभत्स सहित सभी रसो से परिपूर्ण है। नारद-मोह और शिव-विवाह मे हास्य का दर्शन किया जा सकता है।

रस-प्रयोग की विस्तृत-स्थिति का विवरण यहा प्रस्तुत करना सभव नही है। अनेक तुलसी-अध्येताओ ने तुलसी-प्रयुक्त रसो का सविस्तार विवेचन किया है।[८४] इसी प्रसग मे रामचरित् मानस के अगी-रस को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न हुआ है।

अंगी-रस—

डॉ० शिव कुमार शुक्ल ने वस्तु-योजना के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'मानस मे उत्साह का निरूपण ही कवि-भावना का प्रधान लक्ष्य है। जहा तक नायक की प्रवृत्तियो का सम्बन्ध है, उनका पर्यवसान वीर रस मे ही होता है। कथा के अनेक परिवर्तन और परिवर्धन भी इसी दृष्टिकोण से सोद्देश्य हैं। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि मानस का प्रधान रस वीर रस ही है।[८५] 'डॉ० शम्भूनाथ सिंह के मतानुसार 'रामचरित मानस की आधिकारिक कथा मे वीर रस अगी-रस है पर ग्रन्थ का पर्यवसान वीर रस मे नही वल्कि भक्ति रस मे हुआ है।[८६] डॉ० राजपति दीक्षित कहते है कि 'इसमें शान्त (भक्ति) रस ही सर्वोपरि विराजमान है। अन्य सभी रस इसी के (भक्ति रस के) अग भूत है।[८७] डॉ० भगीरथ मिश्र के विचार से मानस का प्रमुख रस, शान्त रस है।[८८]

इन सभी प्रतिष्ठित विद्वानो के मत के अपने-अपने आधार और तर्क हैं। इन सभी मे आशिक सत्य निहित है। वीर रस को अगी-रस मानने वाले विचारक रामचरित मानस के दो भाग कर देते है—(१) राम-रावण सघर्ष की कथा (आधिकारिक) और (२) अन्य प्रासगिक कथायें तथा उत्तरकाण्ड का राम-राज्य वर्णन के उपरान्त का शेप भाग। यह ऐच्छिक विभाजन आलोचको की अपनी देन है। स्वय तुलसी ही की काव्य-दृष्टि इसकी समर्थक नही है। शान्त-रस को अगी-रस मानने वाले विद्वान् या तो भक्ति रस को काव्य-शास्त्रीय परम्परा से वाहर रखना चाहते हैं या शान्त रस मे ही उसको अन्तर्भुक्त कर लेने पर वल देते है। तुलसी की काव्य-

८३ द्रष्टव्य—प्रगट करौ रिस पाछिल आजू। २३०। २७७। अयो०

८४ द्रष्टव्य—रामचरित मानस का शास्त्रीय अध्ययन—डा० राजकुमार पाण्डेय
अनुसधान प्रकाशन—कानपुर, १९६३, पृ० २७८-३१३।
रामचरित मानस का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० शिवकुमार शुक्ल, अनुसधान प्रकाशन कानपुर—१९६४, पृ० २९५-३०४॥

८५ रामचरित मानस का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० २९६

८६ हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० ५५७।

८७ तुलसीदास और उनका युग, पृ० ३९४

८८ तुलसी रसायन, पृ० २९७

दृष्टि इसे भी स्वीकार नहीं करती। तुलसी नव रस मानते हैं उनमें शान्त रस की स्थिति स्वत सिद्ध है। फिर भी वे इन सभी रसो को 'हरिपद-रति-रस' या भक्ति रस का अग और सहायक मानते हैं। रामचरित मानस का अंगीरस 'भक्ति-रस, ही मानना चाहिए। इससे एक ओर तो तुलसी के अपने अंगी-रस-सम्बन्धी-विचार को समर्थन मिलता है, तथा दूसरी ओर रामचरित-मानस को खण्ड-खण्ड करके देखने की खड-दृष्टि का खडन हो जाता है। रामचरित मानस को उनके समग्र रूप मे ही ग्रहण कर अंगीरस का निर्धारण किया जाना चाहिए। विनय-पत्रिका, कवितावली, गीतावली, दोहावली सभी भक्ति-रस के समर्थक हैं। अन्य नव रस अग हैं, अगी नहीं।

अन्य काव्य सिद्धान्तो के प्रयोग—

भक्त-कवियों में एकमात्र तुलसी ने ही ध्वनि-सिद्धान्त के प्रयोग की चर्चा की है। शब्द-चित्र[८६] भी रामचरित मानस मे हैं और अर्थ-ध्वनि भी। भक्ति-काव्य मे वक्ता और श्रोताओ के समावेश तथा सवादो के उपयोग से अर्थशक्ति-समुद्भवा-व्यग्य या ध्वनि की कमी नही है। रामचरित-मानस मे—शंकर-पार्वती, भुशुण्डी-गरुड, भरद्वाज, याज्ञवल्क्य, आदि-सामाजिक उज्ज्वल व्यक्ति तथा पात्रो के पारस्परिक सवादो की योजना की गई है। इनके अतिरिक्त कवि और पात्रों के स्वत. कथन आते हैं। ध्वनि काव्य की दृष्टि मे इन्हे पात्रगत और कविगत ध्वनि-भेद कहा जा सकता है।

> बहुरि सक्र सम बिनवौं तेही। सन्तत सुरानीक हित जेही ॥
> बचन बज्र जेहि सदा पियारा। सहस नयन पर दोष निहारा ॥

जैसी उक्तिया कविगत ध्वनि के उदाहरण हैं तथा 'कान नाक बिनु भगिनि निहारी। छमा कीन्हि तुम्ह धर्म बिचारी।'[९०] जैसी उक्तिया सवाद-गत ध्वनि है। 'सीता हरन तात जनि कहहु पिता सन जाइ।'[९१] जैसी उक्तिया गूढ व्यग्योक्तियो या ध्वनि के उदाहरण हैं। गुण, रीति या वृत्तियो का प्रयोग भी तुलसी ने प्रसगानुकूल किया है। 'मानस मजु मराल'[९२] मे मधुरा, 'क्रुद्ध कृतान्त समान कपि'[९३] मे परुषा तथा अधिकाश-स्थलो पर कोमला वृत्तियो का प्रयोग देखा जा सकता है।

'लाजवत तव सहज सुभाऊ। निज मुख निज गुन कहसि न काऊ'[९४] मे ध्वनि

८६ शब्द चित्र—ककन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। बा० २३०।११४
९० लका० २२।४१५
९१ जो मैं राम तो कुल सहित, कहिहि दसानन जाइ ॥ अरण्य३१ ॥ ३४२
९२ बा० १४।११,
९३ लका० ८१।४५३
९४ लका० २६। ४१६

वक्रोक्ति है। यदि रसानुकूल वक्रोक्ति के अन्य उदाहरण देखने हो तो कुछ उद्धरण द्रष्टव्य हैं—

श्लेप-वक्रोक्ति—

बहुरि शक्र सम बिनवौ तेही। सन्तत सुरानीक हित जेहीं। बा० ४।४

अर्थश्लेष-वक्रता—

बन्दौं मुनि पद कजु, रामायनु जेहि निरमयउ।

सखर सुकोमल मजु, दोष रहित दूषन सहित ॥ बा० १४।११

पद-पूर्वार्ध-वक्रता—

भए बिलोचन चारु अचचल।

मनहु सकुचि निमि तजेऊ दृगचल ॥ बा० २३०।११४ पृ०

रूढि-वक्रता—

गिरा मुखर तनु अरघ भवानी। बा० २४७। १२२ पृ०

पर्याय-वक्रता—

विस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई।

पद-परार्ध-वक्रता—

अहित तोर प्रिया केहि कीन्हा।

केहि दुइ सिर केहि जमु चहलीन्हा। कारक वक्रता ॥

पुरुष-वक्रता—

नाथ समु धनु भजनि हारा।

होइहै कोउ इक दास तुम्हारा ॥

वस्तुत. भक्ति काव्य मे वक्रोक्ति की वक्रात्मा से कही अधिक पुष्टि, रसात्मकता या प्रयोजन-शीलता को मिली है। इन काव्यो के लिये वक्रोक्ति तो शैली-पक्ष की सार्थकता मात्र सूचित करती है।

अलकार को तुलसी सिद्धान्त पक्ष मे महत्त्व नही देते, पर किसी भी महाकवि के लिये इनकी उपेक्षा भी सभव नही है। अलकार, कथन की शैली मात्र है और कवि की मनोरम उक्तियो मे इनका समावेश स्वय ही हो जाता है। तुलसी के सबसे प्रिय अलकार रूपक और उपमा है। इनके विविध भेद बडी प्रचुरता से तुलसी की सभी कृतियो मे उपलब्ध होते हैं। रामचरित मानस को इन्होने मानस का रूपक

दिए हैं।[६५] उन्हें मानस में उद्भूत सुरसरिता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। चौंसठ अर्धालियों का विस्तृत रूपक[६६] उत्तरकाण्ड में 'अकथ कहानी' के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इतने बड़े-बड़े साग-रूपकों का प्रयोग हिन्दी के किसी भी अन्य काव्य-ग्रन्थ में अलभ्य है। तुलसी ने शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक, पुनरुक्ति प्रकाश, शब्द श्लेष तथा अर्थालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, उल्लेख, अतिशयोक्ति, स्मरण, अपह्नुति, दीपक व्यतिरेक, पर्यायोक्ति, सहोक्ति, परिकर, परिकरांकुर, अप्रस्तुत प्रशंसा, परिसंख्या, सार आदि अनेक अलंकारों का प्रयोग किया है।[६७] अलंकार प्रयोग में तुलसी किसी भी कवि से बढ़ चढ़ कर सिद्ध होते हैं। 'संस्कृत साहित्य में कालिदास की उपमा, भारवि का अर्थगौरव, दण्डी का पद-लालित्य और माघ की उपर्युक्त तीनों विशेषतायें सर्वत्र प्रसिद्ध मानी गई हैं, किन्तु तुलसी के काव्य के समक्ष यह मान्यता फीकी पड़ जाती है।[६८] गोस्वामी जी इस तथ्य से परिचित थे कि अधिक अलङ्कृत-काव्य, जन-साधारण के लिए न तो सुगम होते हैं और न प्रशंसनीय, इसीलिये उन्होंने अपने 'मानस' में केवल उन्हीं स्थलों पर अलंकारों का प्रयोग किया है, जहां वे प्रसंगानुकूलता के साथ-साथ भावोत्कर्ष के भी विधायक सिद्ध हुए हैं।[६९]

औचित्य-प्रयोग—

रस के बाद तुलसी की मान्यता में यह सिद्धान्त सर्वथा उपयुक्त प्रयोग का विषय रहा है। रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, गुण-रीति वृत्ति तथा अलंकारों का उन्होंने उचित प्रयोग किया है। वस्तु, नायक और पात्रौचित्य का भी उन्होंने पूर्ण ध्यान रखा है। औचित्य-प्रयोग के समय उन्होंने पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का मार्मिक चित्रण किया है। सतीमोह के प्रसंग पर शिव का अन्तर्द्वन्द्व द्रष्टव्य है—

> परम प्रेम नहि जाइ तजि, किए प्रेम बड़ पापु।
> प्रगटि न कहत महेसु कछु हृदय अधिक संतापु॥ बा० ५६।३३।

औचित्य के सम्बन्ध में रामचरित मानस के दो स्थल विवाद के विषय बने हैं। राम के वन गमन के समय कौशल्या की आतुरता का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है—

बहु विधि विलपि चरन लपटानी। परम अभागिनि आपुहि जानी। बा० ५६।२०३ तथा देव योनि स्थित दशरथ का लंका आकर राम को प्रणाम करना—

६५ द्रष्टव्य-बालकाण्ड—दो० ३५-दो० ४३ तक
६६ उत्तरकाण्ड—दोहा ११७ से १२० तक
६७ विवेचन और सामान्य तन उदाहरण—स्थलों के लिये द्रष्टव्य—रामचरित मानस का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ३०८-३१८ तक
६८ वही, पृ० ३०८
६९ वही, पृ० ३१८-३१९

वार-वार करि प्रभुहि प्रनामा । दसरथ गए हरषि सुर धामा । ल० ११२।४७६
इन दोनो ही स्थलो पर राम ने कौशल्या और दशरथ दोनो को पहले प्रणाम किया है । माता का आतुरता मे पुत्र के पैर पकड लेना काव्य-दृष्टि से अनुचित नही था । बादल के युद्ध-यात्रा के समय उसकी माता का भी जायसी ने ऐसा ही वर्णन किया है ।[100] दूसरे स्थल पर दशरथ देव योनि मे है और अन्य देवताओ के साथ परब्रह्म राम उनके भी आराध्य हैं। लोक-मर्यादाशील तुलसी अनौचित्य को प्रश्रय दे ही नही सकते थे ।

छन्द-प्रयोग—

तुलसी ने रामचरित मानस मे चौपाई, दोहा, सोरठा और छन्द-प्रयोग को स्वय स्वीकार किया है । सामान्यत आठ अर्धालियो पर एक दोहा, या दोहा-सोरठा युग्मक का प्रयोग किया गया है दोहे के साथ कही-छन्द भी है । प्रसगानुकूल अधिक चौपाइयो का एक साथ प्रयोग अपभ्र श की कडवक पद्धति के प्रयोग का सूचक है। डॉ० पुत्तूलाल ने लिखा है कि तुलसी की चौपाइयो के प्रयोग मे एक विशेपता परिलक्षित होती है । उन्होंने चौपाइयो मे १६ मात्राओ वाले ढिल्ला, पादाकुलक, पज्झटिका, सिह अरिल्ल, मतसमक, विश्वलोक, पदपादा-कुलक, विहग आदि मात्रिक छन्दो तथा तोटक, विद्युन्माला दोधक, जलोद्धत गति, जलधर माला, सौरभ, सुर सरित, स्वागता और द्रुतपदा आदि अनेक वर्णवृत्तो की विशेपताओ को भी समाहित कर लिया है जिसके फलस्वरूप चौपाई के किसी चरण मे तोटक किसी मे विद्युन्माला, किसी मे स्वागता किसी मे दोधक आदि का चतुर्धा चमत्कार भी दिखलाई पड जाता है। कही दो चरणो मे एक छन्द है तो शेप दो चरणो मे दूसरा है । इससे तुलसी के विस्तृत छन्द-ज्ञान एव उसकी प्रयोग-क्षमता का भी परिचय मिल जाता है ।[101]

रामचरित मानस मे तुलसी ने जिन छन्दो को 'छन्द' का नाम दिया है उनमे १४० हरिगीतिका, ५ त्रिभगी, ६ चौपाइया और २३ तोमर छन्द है ।

वर्णवृत्त सभी सस्कृत श्लोको में है । इनमें इन्द्रवज्रा, वशस्थ और मालिनी का एक वार, वसन्त तिलका, रथोद्धता और स्रधरा का दो वार, अनुष्टुपका का सात वार, भुजंग प्रयात का आठ वार, शार्दूल विक्रीडित का दस वार, प्रमाणिका का तेरह वार और तोटक का इकतीस वार प्रयोग किया गया है ।[102]

१०० द्रष्टव्य—पद्मावत—पृ० २८२ (जायसी ग्रन्थावली)
१०१ द्रष्टव्य—आधुनिक हिन्दी काव्य मे छन्द-योजना—पृ० १५७, २५६-२६७
१०२ छन्दो के मानस गत उद्धरणो के लिए द्रष्टव्य—रामचरित मानस का तुलनात्मक अध्ययन- पृ० ३२८-३३४ ।
तथा रामचरित मानस का काव्य शास्त्रीय अनुशीलन—पृ० ३६२-४०६ ।

कला की दृष्टि मे तुलसीदास छन्द शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् सिद्ध होते है। उन्होने दोहा, कवित्त सवैया, बरवै, मगल, सोहर और शास्त्रीय रागों पर आश्रित गीत आदि अनेक छन्दो को लेकर स्वतन्त्र काव्यों का भी प्रणयन किया है। मानस के मर्म-स्पर्शी स्थलो मे उन्होने भाव और प्रबन्ध के अनुरूप ही ललित और सुन्दर छन्दो का विधान किया है।

सगीतात्मकता मानस के पद-पद मे है। भक्तों के लिये ही नहीं, जन साधारण के लिये भी वह गेय काव्य है। तुलसी ने जहा-तहा रामचरित और उसकी कथा के पढने सुनने के स्थान पर गाने का भी सकेत किया है। विनयपत्रिका शास्त्रीय राग रागिनियो मे गेय तो है ही, गीतावली भी इसी दृष्टि से लिखी गई है। काव्य और सगीत का मजुल समन्वय तुलसी के छन्द-प्रबन्ध-पटुता का ही निदर्शक है। छन्द-सम्बन्धी त्रुटि, हत-वृत्तत्व, यतिभग आदि दोषो को रामचरित मानस मे ढूढने की अपेक्षा, शुद्ध-पाठ-निर्धारण का प्रयत्न कहीं अधिक उपयोगी है।[१०३]

काव्य के विविध-तत्त्वो के सम्बन्ध मे तुलसी के व्यक्त विचार और रस, ध्वनि, अलकार, रीति, वक्रोक्ति तथा औचित्य-सम्बन्धी सकेत और इनके प्रयोग तुलसी के महान् कवि-व्यक्तित्व के समर्थक है। यदि रूप गोस्वामी ने भक्ति रस का मार्मिक और शास्त्रीय-विवेचन किया है, तो तुलसी ने उसे काव्य में उतार कर प्रयोगात्मक रूप दिया है। इनकी भक्ति रस के पोषक, ये सारे काव्य तत्त्व ही नहीं है अपितु यह काव्य-साधना भी तुलसी की भक्ति-साधना का एक रूप मात्र है। नर तनु धारी ब्रह्म, राम ही इस भक्ति का आलबन है। नवनीत सदृश सन्तो का हृदय ही आश्रय है। हरिपद रति स्थायी भाव है। कथा-यश श्रवण या गान, गुरु कृपा आदि उद्दीपन है। सन्तो के पुलक, अश्रु आदि सात्विक भाव तथा नवधा भक्ति के व्यजक कार्य अनुभाव हैं। दीनता, मानमर्षता, भय-दर्शना, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचरण आदि भक्ति-साधना के सोपान है। स्मरण, दैन्य, अलौकिक सौन्दर्य-दर्शन से उद्भूत विस्मय आदि सचारी हैं। हरिपद रति भी भक्ति है और हरिपद रति रस ही भक्ति रस है। इसी की उपलब्धि मे जीवन की सार्थकता है। सन्तो के चित्त की भक्ति रस मे द्रवणशीलता से ही विविध प्रकार की मुक्ति और परमानन्द की उपलब्धि सभव है। रामचरित मानस का यह प्रयोज्य रस है और विनयपत्रिका मे इसी का

१०३ मानस की रूसी भूमिका—केसरी नारायण शुक्ल, लखनऊ, १९५५ पृ० ७२ पर प्रो० ई० पी० वरान्निकोव के विवेच्य दोहे के सम्बन्ध मे विवाद।
तब रघुनाथ दसेस के तीन भुजा सर चाप। काटे भए बहुत बढे जिमि तीरथ के पाप॥
लका० ६७
श्री हर० कान्ति द्विवेदी का निबंध मानस की रूसी भूमिका—आलोचनापत्रिका
डॉ० माता प्रसाद गुप्त सम्पादित तुलसी ग्रन्थावली, पृ० १०७॥ भाग १। खड १। दोहे का पाठ इस प्रकार है—

स्पष्ट रूप दिखाई पडता हे। वियोगी हरि के शब्दो मे 'भक्ति रस का पूर्ण परिपाक जैसा विनय-पत्रिका मे देखा जाता है वैसा अन्यत्र नही।'[१०४]

तुलसी का यह भक्ति रस जितना स्वान्त सुखाय है उससे कही अधिक लोक मगल की भावना से अनुप्राणित है। आचार्य शुक्ल के शब्दो मे—'लोक मे फैली दु ख की छाया को हटाने मे ब्रह्म की आनन्द कला जो शक्तिमय रूप धारण करती है, उसकी भीषणता मे भी अद्भुत मनोहरता, कटुता मे भी अपूर्व मधुरता, प्रचण्डता मे भी गहरी आर्द्रता साथ लगी रहती है। सत्त्व गुण के इस शासन मे कठोरता, उग्रता और प्रचण्डता भी सात्त्विक तेज के रूप मे भासित होगी। इसी से अवतार रूप मे हमारे यहा भगवान् की मूर्ति एक ओर तो 'वज्रादपि कठोर' और दूसरी ओर "कुसुमादपि मृदु' रखी गई है —

कुलिसहु चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहु चाहि ॥[१०५]

तुलसी ने नव रस तो भगवान् की व्यापक अभिव्यजना के लिये ग्रहण किया है। शुद्ध, सात्त्विक-भावापन्न रस तो भक्ति रस ही है। रसवादी तुलसी का अपने सभी काव्यो मे यही प्रयोजन रहा है।

काव्य की कोई भी विधा रही हो तुलसी का लक्ष्य एक ही रहा है · भक्ति का प्रतिपादन और उसमे निज तथा लोक का मगल। एक ही आदर्श-चरित गेय रहा है, वह चरित है राम का। शैली बदली है, लक्ष्य या प्रयोजन नही। चाहे छन्दनाम वाची मुक्तक काव्य हो, जैसे कवितावली, बरवे रामायण, कुण्डलिया रामायण, दोहावली आदि, अथवा चरितात्मक, ६१ प्रकार के गीतो से भकृत गीतावली, या स्तुति, उपदेश, सिद्धान्त, आत्म-चरित, विनय और दैन्य से सवलित विनय पत्रिका, सर्वत्र पूजा के फूल बदले हैं, आराध्य एक ही रहा है। साधना की शैली बदली है, साध्य अचचल रहा है। यही तुलसी के काव्य के लिये भी सत्य है।

सूरदास के संकेतित और व्यवहृत काव्य-सिद्धान्त

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूरदास के सम्बन्ध मे लिखा है कि इनके 'सूर सागर मे कृष्ण जन्म से लेकर श्रीकृष्ण के मथुरा जाने तक की कथा अत्यन्त विस्तार से फुटकल पदो मे गाई गई है। भिन्न-भिन्न लीलाओ के प्रसग लेकर इस सच्चे-रस-मग्न कवि ने अत्यन्त मधुर और मनोहर पदो की झडी सी वाध दी है। इन पदो के

तब रघुपति लकेश के, सीस भुजा सर चाप।
काटे भए बहोरि जिमि, कर्म मूढ कर पाप ॥ ल० ६७। पृ० ४६६

१०४ विनय पत्रिका—सपादक, वियोगी हरि-साहित्य सेवा सदन—२००७ भूमिका पृ० १ पर।

१०५ चिन्तामणि—काव्य मे लोक मगल की साधनावस्था—पृ० २१६
(प्रथमभाग)
इण्डियन प्रेस प्रयाग १९५३
३, वही, पृ० २२६ ॥

प्रवृत्ति ने कृष्ण साहित्य को लगभग गीतिमय बना दिया, क्योकि आत्माभिव्यजन मे ही गीति-काव्य का उद्भव होता है। आराध्य की तुष्टि के लिये उसका लीला गान भी आवश्यक हो जाता है। वल्लभाचार्य ने अपने जिस पुष्टि मार्ग का प्रतिपादन किया उसके अनुसार 'ब्रह्म मे ही सब धर्म निहित है। उसकी लीला के लिये सारी सृष्टि ही आत्म कृति है।' अपने को अश रूप जीवो मे विखराना ब्रह्म की लीला मात्र है। श्रीकृष्ण ही परब्रह्म है, और दिव्य गुणो से सम्पन्न होकर 'पुरुषोत्तम, कहलाते है। इसी श्रेष्ठ रूप मे आनन्द का पूर्ण आविर्भाव होता है। नित्य गोलोक उनका क्रीडा-स्थल है। भगवान् की नित्य-लीला-सृष्टि मे प्रवेश करना ही जीव की सबसे उत्तम गति है। वल्लभाचार्य ने प्रेम-लक्षणा-भक्ति पर बल दिया। इसमे लोक-मर्यादा और वेद-मर्यादा का त्याग, भगवान् की अनुग्रह प्राप्ति के लिये आवश्यक ठहराया गया। सूरदास अष्ट छाप के प्रमुख कवि और वल्लभाचार्य के प्रिय पात्र थे। वल्लभ की दार्शनिक-चिन्तन-धारा को सूर ने काव्य का परिवेप दिया। काव्य सम्बन्धी उनके विचारो की एक झाकी देने का प्रयत्न हम करेंगे।

काव्य हेतु—

सन्तो और भक्तो की सम्पूर्ण परम्परा गुरु कृपा को सर्वाधिक महत्त्व देती रही है। ज्ञान, भक्ति और काव्य के उद्भव के लिये गुरु ही एक मात्र हेतु हैं। सूर भी गुरु प्रसाद[११२] का उल्लेख करते है। श्री वल्लभाचार्य ने उन्हे श्रीमदभागवत की कथा का गान करने का आदेश दिया था। सूर काव्य की दूसरी प्रेरणा सूर के भक्त-हृदय की अपनी मान्यतायें है। हरि स्मरण और हरि गुन गाकर इस ससार से तरा जा सकता है।[११३] ससार से तरने या मुक्ति के लिये अग्रसर होने के मूल मे चिन्ता है। इस चिन्ता के अनेक रूप विनय सम्बन्धी पदो मे व्यक्त हुए हैं। माया, अविद्या और सासारिक तृष्णा मे जीवन, को व्यर्थ जाते देख कर ही भक्तो को चिन्ता होती है।[११४] भव समुद्र है और हरि पद नौका, नाव विना कौन पार उतर सकता है।[११५]

११२ गुर प्रसाद होता यह दरसन सर सठ बरस प्रवीन। सूर सारावली। सूर सागर विनय ५६। द्रष्टव्य।

११३ हरि हरि हरि हरि सुमिरन करौ। हरि चरनारविंद उर धरौ।
चिता छाडि भजौ जदुराइ। सूर तरौ, हरि के गुन गाइ॥ स्क० २।१, १२।१
सूर सागर, ना० प्र० सभा की प्रति प्रयुक्त।
हरि गुन गाइ परम पद लह्यौ। सूर नृपति सुनि धीरज गह्यौ। विनय ३४३।

११४ माया नटी ल्कुटि कर लीन्हे कोटिक नाच नचावै। विनय ४२।
किते दिन हरि सुमिरन विनु खोए। विनय ५२
रे मन छाडि विषय कौ राचिवौ। विनय ५६॥

११५ भव समुद्र हरिपद नौका विनु कोउ न उतरै पार।
सूर पाइ यह समौ लाहु लहि, दुर्लभ फिरि ससार॥ विनय ६८॥

कृष्ण भक्त कवियों को काव्य की प्रेरणा श्री कृष्ण के अलौकिक-सौन्दर्य से भी मिली है। इस सौन्दर्य का, सत्य-शील सम्पन्न सुमूर्ति का दर्शन केवल विवेक-नयन से ही सम्भव है। इसमें आनन्द या सुख प्राप्ति की कामना भी कृष्ण भक्तों की प्रेरणा रही है। कृष्ण और राधा के अलौकिक सौन्दर्य का बार बार वर्णन करने के मूल में यही प्रेरणा रही है।[११६]

इस प्रकार गुरु-कृपा, माया-अविद्या और तृष्णा से उत्पन्न चिन्ता, मुक्ति-कामना और दिव्य-सौन्दर्य के दर्शन के लिये उत्सुकता, अनन्य आनन्द और सुख की उपलब्धि की तीव्र इच्छा ने हरि यश का वर्णन करने की प्रेरणा उन्हें दी। इस हरि-यश वर्णन को ही कृष्ण भक्त कवियों का काव्य कहा जाता है। सूर काव्य की प्रेरणा भी यही है। इन प्रेरणाओं को काव्य-शास्त्रीय रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है। सूर ने श्री मद्‌भागवत के आधार पर सूर सागर के पदों को गाया है। अतः भागवत-ज्ञान व्युत्पत्ति है, गुरुकृपा, अभ्यास, अलौकिक सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होकर अथवा स्वयं अपनी ही मर्म-वेदना से गुन गुना उठना कवित्व-बीज की विद्यमानता का सूचक है। गीति-पदों में आत्म-निवेदन प्रतिभा का ही विषय है।

काव्य-प्रयोजन—

काव्य-प्रयोजन के निर्णय से पूर्व सूर के निम्नलिखित पद पर ध्यान दिया जा सकता है जिसमें जीवन-यापन की पद्धति-सहित जीवन का प्रयोजन ही प्रस्तुत किया गया है—

नर देही पाइ चित चरन कमल दीजै।
दीन वचन सनन संग दरस परस कीजै॥
लीला गुन अमृत रस स्रवननि पुट पीजै॥
सुन्दर मुख निरखि, ध्यान नैन माहि लीजै॥
गद गद सुर पुलक रोम अंग प्रेम भीजै॥
सूरदास गिरिधर जस गाइ गाइ जीजै॥ विनय ७२॥

कृष्ण के चरण कमल में चित्त की अनुरक्ति, दीन वचन, सत्संग, लीला या कृष्ण-गुण-गान, अमृतरस (भक्ति रस) का पान, सौन्दर्य दर्शन (ध्यान में), प्रेमासक्ति, सात्त्विक भावों में मग्नता, और हरियश गान जीने का वास्तविक ढंग है।

११६ सहई मन आनंद अवधि सव।
निरख सरूप विवेक नयन भरि, या सुख तें नहि और कछू अब।
सत्य शील संपन्न सुमूरति, सूर नर मुनि भक्तिन भावै।
अंग अंग प्रति छवि तरंग गति सूरदास क्यों कहि आवै। विनय ६६॥

जीवन के प्रति यह दृष्टि केवल सूर की ही नहीं सभी कृष्ण-भक्तो की है। इसी जीवन-दृष्टि ने कृष्ण-काव्य का प्रयोजन भी निर्धारित कर दिया है। ये ही विषय कृष्ण-काव्य के वर्ण्य हैं। इसके विश्लेपण से निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं—

(१) मानव-जीवन की बहुमूल्यता, विषयासक्ति और उससे विरति, मन या चित्त को हरि चरणों मे अनुरक्त करना।

(२) दैन्य-वचन
ये दोनो प्रकार के वर्णन विनय सम्बन्धी पदो मे निहित हैं।

(३) सत्सग—
इसमे सतो के चरित या मुक्ति-प्राप्त भक्तो के आख्यान या नाम-वर्णन के विषय हैं।

(४) ध्यान मे, अलौकिक कृष्ण सौन्दर्य का दर्शन, कृष्ण लीला या गुण का गान, प्रेमासक्ति, सात्त्विक भाव, भक्ति-रस सम्बन्धी सभी पद, तथा हरि-यश मे, कृष्ण-चरित सम्बन्धी सभी पद समाहित हो जाते हैं।

सूर-काव्य के प्रमुख प्रयोजनो मे से दो को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त है—(१) लीला गान (२) कलि-भय मे त्राण या आत्मरक्षा अथवा मुक्ति। इनके अतिरिक्त प्रयोजन है—आनन्द या सुख की उपलब्धि, आत्म शुद्धि, भक्ति-रस-सिक्तता आदि। काव्य शास्त्रीय दृष्टि से यश और अर्थ की प्राप्ति भक्त कवियो का कभी प्रयोजन नही रहा। शिवेतर क्षति के सम्बन्ध मे सूर व्यक्ति-निष्ठ अधिक है। अपना मगल उनका प्रमुख लक्ष्य है। कृष्ण के असुर विनाशक कार्यों का चरित-गान के समय प्रस्तुत करना एक अस्पष्ट लोक-मगल के प्रयोजन की झलक अवश्य दिखाता है पर वह गौण है। चतुर्वर्ग मे से धर्म और मोक्ष दो प्रयोजन ही मुख्य हैं। कृष्ण भक्तो का उपदेश 'सुनो रे लोगो' जैसी ध्वनि के साथ नही है, मूलत यह अपने ही मन को सम्बोधित करके प्रस्तुत किया गया है।[११७] अत काव्य के श्रोता यदि उपदेश ग्रहण करते हैं तो यह 'कान्ता सम्मित' मधुर या अप्रत्यक्ष उपदेश ही माना जाएगा।

कृष्ण लीला भक्ति का अंग है। लीला गान, चरित गान के लिए हैं। इससे भगवान् प्रसन्न होते है। इनकी प्रसन्नता ही सूर काव्य का प्रमुख प्रयोजन है। शाण्डिल्य भक्ति सूत्र मे एक भक्त के लिये आनन्द और मुक्ति दो ही मुख्य उद्देश्य बतलाये गये हैं।[११८]

आनन्द की उपलब्धि ब्रह्म के उदात्त स्वरूप का चित्रण न करने पर सम्भव नही है। अवतारवाद की धारणा, उसके विराट् स्वरूप की अनेक स्थलो पर अभि-व्यक्ति, असुर नाश के बाद उसके अनन्त शक्तिपूर्ण व्यक्तित्व की झलक तथा भक्त-हृदय के रोमाच और विस्मय के सहित हर्ष के मनोभाव, ब्रह्म के उदात्त स्वरूप से ही

११७ तजो रे मन हरि विमुखन को सग। सू० सागर-विनय।
११८ द्रष्टव्य—शाण्डिल्य भक्ति सूत्र ७।६२

सम्बन्ध रखते हैं। कृष्ण भक्त कवियो ने ऐसे स्थलो पर अनन्त सौन्दर्य को सम्मिलित कर लिया है। ब्रह्म के ये उदात्त, शील-शक्ति और सौन्दर्य के भाव ही, सूर-काव्य के प्रयोजन को निश्चित करते हैं।

लीला और आनन्द के अतिरिक्त सूर-काव्य का एक और प्रयोजन है—कृष्ण रस का वर्णन। यह लीला का फल है। इसे लीला मे अन्तर्मुक्त करना सभव नही है। लीला का फल आनन्द है, तथा कृष्ण रस भी आनन्द मूलक है, किन्तु यह आनन्द नही, अपितु आनन्द का कारण है। वस्तुत लीला, रस और आनन्द के प्रतिफलन से सिद्ध होती है। कृष्ण, रसिक[११९] और रसिक-शिरोमणि हैं, अनन्य सुन्दर है, इसी रस-रूप को देखते-देखते सूर अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर देने के लिये कृत-सकल्प हैं, क्योंकि इस रसिक रूप का दर्शन आनन्दप्रद है। लीलागान के भीतर राधाकृष्ण की प्रणय-लीला का गान भी सम्मिलित है।

सूर के समकालिक कुभन दास ने स्त्री लीला मे नृत्य-गान का उल्लेख किया है। कृष्ण, अपनी लीला के नृत्य-गान मे निपुण हैं, वे रास-रस की वर्षा कर रहे हैं। समस्त कलाओ मे प्रवीण कृष्ण, मुग्ध-भाव से गोपियो को रसमग्न कर रहे हैं। व्रज-बालाओ के इस नृत्य पर सुर मुनि दोनो मग्न हैं।[१२०] सूर ने भी रास-वर्णन मे नृत्य-गीत आदि कला-युक्त-लीला का गान किया है।

लीला गान का स्वरूप बहुविध है। बाल-लीला, चीरहरण लीला, यज्ञपत्नी लीला, गिरिधारण लीला, रास लीला, जल क्रीडा, पनघट लीला, दान लीला, ग्रीष्मादि ऋतु लीला, मान लीला, धनुष भग लीला, रुक्मिणी विवाह लीला, आदि सहित असुरो के वध और पापियो के उद्धार की लीलाये उसके बहुविध रूप को स्पष्ट करती हैं। इस लीला गान मे ही सूर की आत्म-मगल और लोक-मगल की प्रयोजन-दृष्टि पहचानी जा सकती है।

सूर सारावली तो वर्षोत्सव वर्णन का ही रूप प्रस्तुत करती है, पर साहित्य लहरी के सृजन का प्रयोजन नन्ददास को काव्य-शिक्षा देना प्रतीत होता है।[१२१]

लीला गान और आनन्द मुख्य प्रयोजन हैं, काव्य-शिक्षा गौण प्रयोजन है। सत-जन का अनुरजन या उन्हें भक्ति रस से आप्लावित करना भी एक प्रयोजन हो सकता है, पर यह लीला गान का फल है।[१२२]

११९ सूर प्रभु रसिक प्रिय राधिका रमिकनी, कोक गुन महित सुख लूटि लीने।
सू० सा० १०।२१२६

१२० कुम्भन दास, पद १०। सूर के पद द्रष्टव्य—१०।१०५६,

१२१ नन्द नदन दास हित साहित्य लहरी कीन। साहित्य लहरी १०९।

१२२ स्याम कही जो मुख सौं गाइ। कहौं सो सुनौ सत चित लाइ॥ सूरसागर १।२२६
यहाँ सो कथा, सुनौ चित लाइ। सूर स्याम भक्तनि मन भाइ। १।२३६

सूर ने यह सारा लीला गान 'यथामति' किया है।[123]

काव्य रूप—

सूरदास ने सूर सागर की रचना भागवत के आधार पर की है, वे स्वय ही इसका उल्लेख करते हैं—

श्री मुख चारि स्लोक दए, ब्रह्मा कों समुझाइ।
ब्रह्मा नारद सों कहे, नारद व्यास सुनाइ।
व्यास कहै सुकदेव सों द्वादस स्कध बनाइ।
सूरदास सोई कहे पद भाषा करि गाइ॥ सूर सागर १।२२५।
सूर कह्यो भागवतऽनुसार। ११२, १,२१२

सूरसागर, भागवत का भाषा रूपान्तर है अथवा उसका अनुसृत काव्य है, यह पदो मे गाया गया है। सूर सागर गीति काव्य है, और पक्के राग-रागनियो मे इसे गाया गया है। यह 'गाइ' और 'पद' शब्दो से स्पष्ट है। सगीत-परम्परा मे पद का अर्थ यही है।

पौराणिक आख्यान एव गीति तत्त्व के काव्यात्मक परिवेश की झलक तो वैदिक-साहित्य, सुत्त-पिटक तथा पुराणो के स्तोत्रो मे सहज ही प्राप्त हो जाती है। 'मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि' की परपरा तो भक्तो मे प्राचीन काल मे ही भगवान् के सम्बन्ध मे गृहीत रही है। काव्य और सगीत के मजुल समन्वय से ही वैदिक ऋषियो ने देवों को इस धरती पर अवतरित किया था। कृष्ण-भक्त कवियो का काव्य-बोध, पुराणो एव धार्मिक साहित्य से अधिक जाग्रत है। केवल स्तुति ही इन्होने नही की है, प्रेम-मूलक काव्य-वाणी को भी आधार बनाया गया है। अत कवित्त्व और रसात्मकता का अधिक समावेश हो गया है।

सूर सागर अपने बाह्य आकार-प्रकार मे तो भागवत सदृश ही बारह स्कन्धो मे विभाजित है, पर सम्पूर्ण सागर को एक लडी मे पिरोने का सूत्र कृष्ण-चरित ही है। कथावस्तु की सम्बद्धता, एक प्रबन्ध-काव्य की तरह इसमे नही है। इसे चरितमूलक गीति-काव्य कहा जा सकता है। तुलसी की गीतावलिया इसी प्रकार की कृतिया हैं। सूर सारावली वर्णनात्मक काव्य है।

सूर सागर को चरितात्मक गीति काव्य मान लेने पर भी इसके भीतर कथा-हीन प्रसगो की कमी नही आ जाती है। विनय, मगलाचरण, सगुणोपासना, भक्त-वत्सलता, माया, अविद्या तथा तृष्णा आदि के वर्णन, कृष्ण वर्णन, नाम वर्णन, विनती, नाम-माहात्म्य, मन-प्रबोध, चित्त-बुद्धि-सवाद और निर्गुण-खडन आदि ऐसे कथाहीन प्रसग हैं, जिनके बीच-बीच मे आ जाने से कथा मे शिथिलता आ जाती है और इसके

१२३ सूर प्रभु चरित अगनित न गनि जाहिं।
कछु जथामति आपनी कहि सुनाए। सू० ४।११

चरित-काव्य का रूप धु धला पड जाता है। सूरदास का उद्देश्य लीला गान था, आत्म निवेदन था अत एक ही घटना को बार बार गाने या बीच बीच मे अपनी बात कहने मे उन्हे सकोच नही था। काव्य-सृजन से भी अधिक उनका लक्ष्य था, हरिभक्ति।[१२४]

सूर सागर मुख्यत गीति काव्य है। सूर सहित प्राय सभी कृष्ण भक्त कवियो ने आत्माभिव्यजन को प्रमुखता दी है, यह उनकी साधना-गत विशेषता है। इसी कारण प्रबन्ध काव्य के सृजन की ओर उनका कम ध्यान गया, जिसमे वस्तु-निष्ठता की प्रमुखता रहती है। आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति, कृष्ण-भक्ति का राग-प्रधान-रूप तथा नाद-मार्गीय साधना ने उन्हे मुक्तक गीति-काव्यो की सीमा मे आबद्ध कर दिया। श्री मती महादेवी वर्मा के शब्दो मे 'साधारणत. गीति काव्य व्यक्तिगत सीमा मे तीव्र सुख-दुखात्मक अनुभूति का वह शब्द-रूप है, जो अपनी ध्वन्यात्मकता मे गेय हो सके।'[१२५] कृष्ण के प्रति भक्तो का निजी सुख-दुख निवेदन, उनकी समर्पण-भावना और अनुग्रहप्राप्ति के प्रयत्न का परिचायक है। सूर भी पुष्टि जीव थे। अपने गीतो मे अपनी भावनाओ को उन्होंने त्रिविध रूपो मे प्रस्तुत किया है- (१) कृष्ण के प्रति प्रत्यक्ष आत्म-निवेदन के रूप मे, (२) गोपी भाव की अभिव्यक्ति के रूप में तथा (३) उपास्य की महत्ता या शील-शक्ति- सौन्दर्य सपन्नता के वर्णन मे, चरित के रूप में। तीसरे वर्ग के पदो की उपस्थिति से ही सूर सागर विशुद्ध-गीति-काव्य की श्रेणी मे न आकर आख्यानात्मक या चरितात्मक-गीति-काव्य के अन्दर आता है। प्रथम दो प्रकार के गीत विशुद्ध-गीति-काव्य के भीतर आ जाते हैं।

डॉ० सावित्री सिन्हा ने कृष्ण भक्त कवियो के गीत-विवेचन के प्रसग मे इन गीतो का निम्नलिखित रूप मे वर्गीकरण किया है—[१२६]

(१) शुद्ध गीति-काव्य—विनय सम्बन्धी 'पद'[१२७]

(२) लीला-गीत—माधुर्य भक्ति मे आलवन हैं कृष्ण, और आश्रय हैं गोपिया, गोपियो की उक्तियो मे कवि-हृदय का आभास मिलता है, उनके हृदय की अनुभूतिया भक्त हृदय की शुद्ध अनुभूतिया है। इस लीला के दो रूप हैं—(क प्राकृत-लीलाये और (ख) अति प्राकृत लीलायें। प्रथम मे रास और गोपी-विरह के पद हैं तथा दूसरे मे बाल-लीला, असुर-वध-लीला आदि।

१२४ बिनु हरि भक्ति मुक्ति नहिं होई। कोटि उपाय करो किन कोई॥ १२।४
हरि कों भजै सो हरिपद पावै। जनम मग्न तिहिं ठौर न आवै। १२।४।

१२५ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य—पृ० १४७।

१२६ ब्रजभाषा के कृष्ण भक्ति काव्य में अभिव्यजना शिल्प, पृ० ४३६-४४४ द्रष्टव्य

१२७ उदाहरणार्थ—सू० विनयपद ८६। तथा ४।१३

(३) लोक-गीत—प्राय सभी कृष्ण भक्त कवियो की रचनाओ मे व्रज मे प्रचलित लोक गीतो का अस्तित्त्व सुरक्षित मिलता है। शास्त्रीय रागो तथा साहित्यिक भाषा के स्पर्श से उन्होने उनका रूप परिष्कृत कर दिया है, परन्तु लोकगीतो की आत्मा और प्रकृति की रक्षा करने का प्रयास उन्होने सर्वत्र किया है। इन गीतो मे भावुकता और सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति, वर्णनात्मक ढग से हुई है। गीत का शुद्ध सहज रूप उनमे विद्यमान है।[१२८] कृष्ण-जन्म और जनसमुदाय की प्रसन्नता से सम्वद्ध सूर के पदो मे लोकगीतो की झलक मिलती है।[१२९] विवाह गीत, ज्योनार आदि के कुछ पद भी उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये जा सकते है।

सूर की साधना-पद्धति को ध्यान मे रखकर इनके गीति पदो का विभाजन वीर-भाव (असुर विनाश), दास्य भाव (विनय), वात्सल्य (जन्म से किशोर तक के पद), सख्य (गोपियो के उपालम) तथा मधुर-भाव (मुरली, रास) सम्वन्धी पदो के रूप मे किया जा सकता है। अन्य पदो मे गुरु या आचार्य से सम्वद्ध पद तथा पर्व या उत्सव-सम्बन्धी पद आयेंगे।

सूर सागर आख्यानक या चरितात्मक गीति काव्य है, जो भागवत को आश्रित कर भाषा पदो मे गाया गया है। सूर की पुष्टिमार्गीय साधना से सम्वद्ध सभी प्रकार के पद इसमे उपलब्ध है। शुद्ध गीतो की भी इसमे कमी नही है। लीला गीतो की सख्या अधिक है। शास्त्रीय राग रागिनियो मे बधे होने पर भी इसके कुछ पद, परिष्कृत लोक-गीतो का मनोरम रूप प्रस्तुत करते हैं जिनमे सामूहिक-चेतना के सुख-दु ख, हर्षोल्लास आदि के स्वर मुखरित हुये हैं।

काव्य-फल—

प्रवन्ध-काव्य न होने से किसी एक स्थल पर कोई फल-श्रुति नही मिलती, पर हरि-यश-गान के मुख्य प्रयोजन होने के कारण फल-निर्देश के सकेत मिल जाते है। जहा हरि की कथा होती है, वहा समस्त तीर्थ स्वय दौडे चले जाते हैं। अतः तीर्थ-फल सूर-सागर के श्रवण का फल है।[१३०] पतित से पतित का उद्धार इसका दूसरा फल है, क्योकि हरि-कथा मे यह भी गुण है।[१३१] हरि गुण की मिठास—प्राप्ति तीसरा

१२८ अ० कृ० भ० का० अभिव्यजना शिल्प—पृ० ४४१-४४२

१२९ सूर सागर १०।२८,

१३० हरि की कथा होई जव जहाँ। गगाहू चलि आवै तहा।
जमुना सिंधु सरस्वती आवै। गोदावरी विलव न लावै।
सर्व तीर्थ को वासा तहा। सूर हरि कथा होवै जहा॥ १।२२४।

१३१ विनय सम्वन्धी पदो का स्वर यही है।

फल है।[132] प्रभु कृपा और उससे प्राप्त सुख चतुर्थ फल है।[133] हरि-पुर निवास या नित्य गोलोक की प्राप्ति पंचम फल है।[134] ज्ञान प्राप्ति और भक्ति तो लीलागान के श्रवण का अनिवार्य फल है।[135] हरि की भक्ति से तो नीच भी ऊंचा हो जाता है यह जीवन में ही उपलब्ध होने वाला फल है।[136] इसी जीवन में उपलब्ध होने वाली प्रेमा-भक्ति भी है।[137]

सूर ने इन सभी फलों का संकेत हरिकथा के सुनने, सुनाने या लीला गान के सुनने-सुनाने के प्रसंग में किया है। सूर सागर का वर्ण्य हरि कथा या लीला गान है, अतः सूर सागर के भी ये ही फल-संकेत माने जा सकते हैं। तीर्थफल, पतित का उद्धार, माधुर्य, प्रभु कृपा, सुख या आनन्द, मुक्ति, जीवन में उच्चपद-प्राप्ति और अंत में नित्य गोलोकवास तथा प्रेमा-भक्ति में से कुछ इसी जीवन में प्राप्त होने वाले फल हैं, कुछ परलोक में। भक्ति काव्यों के ये सामान्य श्रवण फल हैं।

सूर का काव्य-सिद्धान्त : 'रस'—

रस, रति, प्रीति भाव या रागावेग का ही पर्याय है।[138] 'लीला' इष्ट भाव का अनुवर्तन है।[139] 'भक्ति रसामृत सिन्धु' में भक्ति की सात भूमिकाओं का उल्लेख किया गया है।[140] परानन्द को इसकी अन्तिम भूमिका माना गया है।[141] गीता में भक्ति को आसक्ति-जन्य माना गया है।[142] ये उल्लेख भक्ति की रागात्मिका-वृत्ति के सूचक हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने श्रद्धा और प्रेम के योग को भक्ति कहा है। यह कथन भी उनकी रागात्मक वृत्ति का परिचय देता है। जब पूज्य भाव की वृद्धि के साथ श्रद्धाभाजन के सामीप्य लाभ की प्रवृत्ति हो, उसकी सत्ता के कई रूपों के साक्षात्कार की वासना हो, तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए।[143]

१३२ सूर दास प्रभु हरि गुन मीठे, नित प्रति सुनियत कान ॥ विनय १७०।
१३३ सूरदास प्रभु तुम्हरी कृपा तें, पाए सुख जु घनेरे ॥ विनय १७०।
कहि न जाइ या सुख की महिमा, ज्यौं गूंगे गुर खायो। ४।१३ ॥
१३४ सूर वर्त सो हरि पुर जाइ ॥ ३।१३
१३५ यह लीला जो सुने सुनावै। सो हरि कृपा ज्ञान को पावै। ४।१२
सूर तरौ हरि के गुन गाइ। ५।१, ६।१, ७।१, ८।१
१३६ हरि की भक्ति करै जो कोइ। सूर नीच सौं ऊँच सो होइ। ७।८।
१३७ जो यह लीला सुनै सुनावै। सूर सो प्रेम भक्ति को पावै। ११।४।
१३८ द्रष्टव्य—कामसूत्र २।१।६५
१३९ तदिष्ट भाव लीलानुवर्तनम्। का० सू० २।२।३२
१४० द्रष्टव्य—हरिभक्त रसा० पूर्व विभाग प्रेमा भक्ति लहरी ४।५-१० तक
१४१ वही, १।३३-३६ तक।
१४२ गीता १०।८
१४३ चिन्तामणि—भाग १। पृ० ३२

भक्ति की स्पष्ट अभिव्यक्ति मे आसक्ति की अभिव्यजना भी होती है। रूप गोस्वामी ने स्पष्ट रूप से प्रेममूला रागात्मिका भक्ति को गौडीय सम्प्रदाय की भक्ति का मूल तत्त्व बताया है। इस प्रकार इनकी भक्ति का आधार अमूर्त भाव है। यह भाव, रागात्मक-सम्बन्ध के कारण रति मे परिणत हो जाता है। यही रति, कृष्ण रस या भक्ति रस की निष्पत्ति मे सहायक होती है।

सूर की भक्ति भी प्रेमा-भक्ति[१४४] है, उसमे भी आसक्ति वैसी ही विद्यमान है, जैसी इस भक्ति मे आवश्यक होती है—

> चकई री चलि चरन सरोवर जहाँ न पेम वियोग।
>
> अब न सहात निशि रस छीलर, वा सम द्र की आस॥ १।३३७॥
>
> भृंगी री भजि स्याम कमल पद, जहा न निशि को त्रास।
>
> सूरज प्रेम सिन्धु मे प्रफुलित तह चलि करै निवास॥ १।३३८॥

सूर ने अन्य सभी रसो को 'छीलर' और भक्ति रस को 'समुद्र' कहा है।

रस-सकेत—

सूर सागर मे सैकडो ऐसे पद है, जिनमे 'रस' का सकेत किया गया है। अपने मूल रूप मे ये आनन्द के बोधक है। इन सकेतो मे से निम्नलिखित द्रष्टव्य है—

(१) यह गति मति जानै नहिं कोऊ किहि रस रसिक ढरै।

(२) सूर प्रभु रस भरी राधा दुरत नही प्रकास। १०। १८४५।

(३) या रस ही मैं मगन राधिका चतुर सखी तब हों लखि लीन्ही। १०।१८५८

(४) तुम अब प्रकट कही मो आगे स्याम प्रेम रस माची। १०
    सूर दास राधिका सयानी रूप रासि रस—जाची॥ १०।१८६०।

(५) कहा कहो दरसन अटक्यो बहुरि नहीं घर आयौ। १०।१८८६

(६) सूर स्याम भयो निडर तबहिं तें गोरस लेन अजोरी। १०।१८६४

(७) भय चिन्ता हिरदै नहिं एकौ स्याम रग रस पागी। १०।१६०

(८) सूर दास प्रभु नदनदन कौ रस लै लै टाडोगी। १०। १६३६

(९) स्याम रस भरे मदन निग हो सुन्दरी बात को भेद पायौ। १०।१६४६॥

(१०) अलिहि मगन महा मधुर रस, रसन मध्य समाहि॥ १।३१८

(११) सुआ चलि ता वन को रस पीजै।
    जा बन राम नाम अमृत रस, स्रवन पात्र भरि पीजै। १।३४०

१४४ सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंस कारणे।
    यद् भावबन्धन यूनो स प्रेमा परिकीर्तिता। उज्ज्वलनीलमणि पृ० ४१८॥

(१२) अति सुकुमार डोलत रस भीनौ सो रस जाहि पियावै ।
ज्यों गूगौ गुर खाइ अधिक रस सुख सवाद न बतावै । २।१०

इन उक्त उद्धरणो मे (कि-हि) रस, प्रभु रस, (या) रस, प्रेम रस दरसन, रस, गो रस, स्याम रग रस, रस (लै), स्याम रस, मधुर रस, अमृत रस तथा (सो) रस का सकेत किया गया है। किहि रस, या रस सो रस भेदकातिशयोक्ति के रूप मे भक्ति रस की ओर ही सकेत करते है। स्याम रस, मधुर रस, अमृत रस इसके विभिन्न रूप है। रस, सामान्य रूप मे आनन्द के लिये तथा दरसन रस और गोरस इन्द्रिय-ग्राह्य आनन्द के लिये प्रयुक्त हुए हैं। ये रस—सकेत सूर की काव्य-सिद्धान्त सम्बन्धी मान्यता को व्यक्त करते है। वक्रोक्ति, रीति, अलकार और ध्वनि का प्रयोग करते हुये भी सूर ने इनके सम्बन्ध में कोई विशिष्ट सकेत नही दिया है।

रस-प्रयोग

सूर के रस प्रयोग के सम्बन्ध मे डॉ० हरबंशलाल शर्मा का कथन है कि 'सूर आचार्यों द्वारा गिनाये हुए इन भावो और अनुभावो मे ही बधकर नही चले। उन्होंने दाम्पत्य रति के अतिरिक्त भगवद्-विषयक-रति और वात्सल्य-रति को भी रस की कोटि तक पहुचाया है और आचार्यों द्वारा प्रतिपादित शृगार-रस सम्बद्ध-सचारियो के अतिरिक्त अन्य कितनी ही मनोदशाओ की अभिव्यक्ति कर शृ गार को रस राजत्व प्रदान किया।[१४५] सूर ने कृष्ण के सौन्दर्यपक्ष को ही अधिक महत्व दिया है। प्रेमा-भक्ति के लिये यह आवश्यक भी है कृष्ण के मधुर रूप की अभिव्यजना, उन के बाल और किशोर जीवन मे ही अधिक निखर सकती थी। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि वात्सल्य और शृ गार के क्षेत्रो का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बन्द आखो से किया, उतना अन्य किसी कवि ने नही। [१४६] वल्लभ-सम्प्रदाय मे वात्सल्यासक्ति और दाम्पत्यासक्ति को अधिक महत्त्व दिया गया है, अत स्वाभाविक ही था कि सूर उस ओर अधिक प्रवृत्त होते।

शृ गार के प्रयोग—

सूर सागर मे प्रेम का रूप विविध प्रकार का मिलता है। दसवें स्कन्ध का उत्तरार्ध मुख्यत शृगारिक प्रयोगो से सम्पन्न है। यहा राधा और कृष्ण का प्रथम-दर्शन, प्रेम तथा विहार है। मान तथा खडिता आदि की अवस्थाओ मे विरह प्रस्तुत किया गया है। सयोग शृ गार के रूप को इतना अधिक उभार कर और प्रेम की

१४५ सूर और उनका साहित्य—डॉ० हरबशलाल शर्मा—भारत प्रकाशन मदिर, अलीगढ, पृ० ४६५

१४६ सूरदास—पृ० १६७।

कृष्ण-भक्त कवियों ने अपने भावावेग में शृंगार के उत्तान रूप-वर्णन में भी शिष्टाचार नहीं दिखाई है।[147] श्याम नागर और रसिक शिरोमणि हैं और राधा नागरि तथा रसिकनि। दोनों ही कोक-कला मर्मज्ञ हैं, फिर उत्तान शृंगार के वर्णन में कोई कमी कैसे रह जाय।[148] विद्यापति, कबीर और जायसी ने अपने नायकों की बहु-पत्नी सम्पन्नता का उल्लेख किया है। सूर ने भी शृंगार वर्णन में इस काव्य परम्परा का अनुसरण किया है—

> सूरदास प्रभु रसिक रसीले, बहुनायक है नाउ जिना। १०।१६९५

जिस प्रकार अन्य कवियों ने प्रणय कथा को अकथ-कहानी कहा है, उसी प्रकार सूर ने राधा कृष्ण की प्रणय-कथा को रस-कथा कहा है—

> राधा आधा देह स्याम की तू उनकी त्रिचवानी।
> सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि यह रस कथा बखानी॥ १०।१६०७

प्रेमा भक्ति में समर्पण का बड़ा महत्त्व है। राधा का अनुराग, पूर्ण-समर्पण-युक्त है।[149] शृंगार के विविध सात्त्विक भावों और अनुभावों में से कुछ की झाँकी निम्नलिखित पंक्तियों में ली जा सकती है—

रति-युद्ध का वर्णन, मध्य काल की काव्य-रूढि बन गया था। सूर ने भी इनका उपयोग किया है।[१५०] जीत दोनो की होती है, क्योंकि दोनो ही कोक-कला-निपुण हैं।[१५१]

सूर ने प्रयोग की दृष्टि से विविध प्रकार की नायिकाओ का रूप प्रस्तुत किया है—अज्ञात-यौवना (पद १०।१५५०), वचन-विदग्धा (१०।२०२४), क्रिया-विदग्धा (१०।२०२५), वासक-सज्जा (१०।२०२६), खडिता (१०।२४८२), मानवती (१०।२५८०), उत्कठिता (१०।२४७८), प्रोषित-पतिका (१०।३३६१), विप्रलब्धा (१०-२०७५) तथा कलहान्तरिता (१०।२०८५) आदि विविध प्रकार की नायकायें, सूर काव्य मे दिखाई पडती हैं।

भाव की अलकृति और आवेग की तीव्रता, विप्रलम्भ शृंगार मे ही दिखाई पडती है। शृगार का यह द्वितीय पक्ष कवियो, साधको और भक्तो, विशेषत कृष्ण-भक्तो के लिये अत्यन्त आकर्षक रहा है। इसी पक्ष मे उन्हें अपनी सवेदनाओ की अभिव्यक्ति का अवसर मिला है। यही उन्होने अपनी साधना-पद्धति का काव्यात्मक स्पष्टीकरण किया है। काव्यकौशल के प्रदर्शन का भी यह प्रचुर क्षेत्र रहा है। विरह की विविध अनुभूतियो तथा अन्त और वाह्य दशाओ के चित्रण मे उनकी प्रतिभा और काव्य-क्षमता की परख हुई है। सयोग शृगार मे मानजन्य विरह का वर्णन तो सूर ने किया ही है, प्रवासजन्य विरह का भी उन्होंने उतना ही विस्तृत वर्णन किया है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि 'आगे चल कर गोपियो की वियोग दशा का जो धारा-प्रवाह वर्णन है, उसका तो कहना ही क्या है। न जाने कितनी मानसिक दशाओ का सचार उसके भीतर है, कौन गिना सकता है?'[१५२] कुछ भावो और दशाओ के सकेत देखिए—

(१) चलत जानि चितवनि ब्रज जुवती मानहु लिखी चितेरे। १०।२६६०
(२) सूरदास प्रभु पठै मधुपुरी मुरझि परीं ब्रज बाल॥ १०।२६६६॥
(३) विचारत ही लागे दिन जान॥ १०।३२१३

प्रथम मे जडता, द्वितीय मे मूर्छा और तृतीय मे चिन्ता और अधैर्य सचारियो की अभिव्यजना हुई है।

सूर का विरह-वर्णन इतना व्यापक है कि उसमे व्रज की प्रकृति, पशुपक्षी, नन्द-यशोदा, ग्वाल-बाल, गोपियो और राधा, सभी का विरह वर्णन आ गया है।

१५० सूरसागर १०। १९८६
१५१ कोक गुन करि कुसल स्यामा, उन कुसल नदलाल। १०। १९८९
१५२ द्रष्टव्य—भ्रमर गीत सार की भूमिका, पृ० २४

ऋतुयें और सयोगावस्था की क्रीडायें स्मृति पथ पर बार बार उतर कर इस विरह-वेग को बढा जाती है।[153] वियोग की विविध दशाओ और सचारी भावो मे—अभिलाषा (१०।३३८७), चिन्ता (१०।३४७७) स्मृति (१०।३३६५) गुण कथन (१०।३३८४), उद्वेग (१०।३६६२), प्रलाप (१०।२०८५), व्याधि, (१०।४०६८), उन्माद (१०।४०७०), जडता (१०।४११५), मूर्छा (१०।४१४१) और मरण (१०।४०७३) आदि के चित्रण ने विरह की अभिव्यजना मे सूर के शास्त्रीय दृष्टिकोण और परिज्ञान की झलक मिलती है।

वात्सल्य के प्रयोग

सूर का वात्सल्य-वर्णन विश्व-साहित्य की बहुमूल्य निधि है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कथनानुसार 'जितने विस्तृत और विशद रूप मे बाल्य जीवन का चित्रण इन्होंने किया है, उतने विस्तृत रूप में और किसी कवि ने नही किया।'[154] 'मैया कबहि बढेगी चोटी' मे स्पर्द्धा, 'कत हो आरि करत मेरे मोहन यो तुम आगन लोटी' आदि मे बाल चेष्टाओ तथा 'बलि गई बाल रूप मुरारि' मे नृत्य चेष्टा आदि के दर्शन होते है।[155] वात्सल्यासक्ति मे नन्द और यशोदा की हार्दिक भावनाओं और मनोरम कामनाओं की भी अभिव्यजना हुई है। दधि माखन चोरी, गोचारण आदि के प्रसग वात्सल्य वर्णन के ही अन्तर्गत है। यशोदा विलाप वात्सल्य रति का विप्रलभ पक्ष है।[156] वात्सल्य और सख्य के आलबन कृष्ण तथा उनके सखा है। उद्दीपन कृष्ण का शैशव, किशोर, अलकरण, क्रीडा और चेष्टायें है। आश्रय है—यशोदा, नन्द, गोप-गोपिया तथा कृष्ण-सखा और स्वय सूर। अनुभाव है—युद्ध, राक्षस वध, क्रीडा, छाक, दधिदान और शय्या-शयन आदि। इस प्रसग मे भी प्राय सभी सचारियो का वर्णन हुआ है। स्थायी भाव हैं—रति, सख्य, प्रणय, प्रेम, स्नेह आदि राग-भेद। उदाहरण के लिये— 'चरावत वृन्दावन हरि धेनु'[157] पद देखा जा सकता है।

अन्य रसो के प्रयोग

सूर के काव्य के मुख्य रस ये ही दो है, पर अन्य रसो का भी सर्वथा अभाव नही है—

१५३ सूर के विरह वर्णन के लिये द्रष्टव्य—भ्रमर गीत की भूमिका, पृ० २२ से
तथा सूर और उनका साहित्य, पृ० ४६२-५०८ तक

१५४ भ्रमर गीत सार की भूमिका, पृ० १२

१५५ द्रष्टव्य—विस्तृत विवेचन के लिए—सूर और उनका साहित्य, पृ० ४६७-४७७

१५६ कह स्यायो तजि प्रान जिवनधन। राम कृष्ण कहि मुरछि परी घर, जसुदा देखत ही पुर लोगन ॥ १० । ३१६ ॥

१५७ सूर सागर १०।४४८

हास्य रस—

मैं जान्यौ यह मेरो घर है ता धोखे में आयौ।
देखत हौं गोरस में चींटी काढन कौं कर नायौ। १०।२७९

करुण रस—

अबकै राखि लेहु गोपाल। १०।६।१२५।

रौद्र रस—

प्रथमहिं देउँ गिरिहिं बहाई। इन्द्रकोप १०।८५२।

वीर रस—

आजु जो हरिहिं न सस्त्र गहाऊं। १।२७०।

भयानक रस—

भहरात भहरात दावानल आयौ। १०।५९६

अद्भुत रस—

नदहि कहत जसोदा रानी।
माटी कै मिस मुख दिखरायौ तिहू लोक रजधानी। १०।२५६।

शान्त रस—

थोरे जीवन भयौ तन भारौ। विनय १५२॥

अलौकिक सौन्दर्य के कवि सूर ने बीभत्स रस का वर्णन नहीं किया है।

अलकार-प्रयोग

सूर जैसे रस-सिद्ध और सहृदय भक्त-कवि के लिये अलकार केवल रसोत्कर्ष का साधक है। भक्ति काव्य मे साम्यमूलक अलकारो की बहुलता है। गम्य मूलक अलकारो मे उत्प्रेक्षा महत्त्वपूर्ण है। साम्यमूलक अलंकारो की प्रचुरता का मूल कारण माहात्म्य निरूपण, सौन्दर्य चित्रण और अग-प्रत्यग वर्णन है। उदाहरण और दृष्टान्त, सौन्दर्य वर्णन सहित भक्ति भावना के पोषक पदो मे अधिक आए है। ये सभी अलकार भक्ति काव्य के वर्ण्य विषय के पोषण एव स्पष्टीकरण के लिए प्रयुक्त हुए हैं। अनुरजन और चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति न होते हुए भी दृष्टकूट के पदो मे अलकार चमत्कार की कुछ छटा दिखाई पडती है। रूपक, रूपकातिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा तथा इनसे कुछ कम उपमा, सूर के प्रिय अलकार हैं। सूरदास की अप्रस्तुत योजना का

प्रभावोत्पादन मे पूर्ण योग रहा है।[१५८] विरोधमूलक अलकारो की योजना व्यग्य-प्रधान स्थलो पर हुई है। रूपक, साग रूपक, उत्प्रेक्षा उपमा, अपह्नुति, सन्देह, अतिशयोक्ति और उसके विविध भेद, सभावना, व्यतिरेक आदि के अनेक उदाहरण सूर सागर मे बिखरे पड़े है।[१५९] बाल चेष्टाओ मे स्वभावोक्ति के दर्शन होते हैं। साहित्य लहरी मे यमक, अनुप्रास, श्लेष, वीप्सा और वक्रोक्ति का अधिक प्रयोग हुआ है।

वक्रोक्ति-प्रयोग

नाभादास ने सूर के काव्य-वैशिष्ट्य का परिचय देते हुए भक्तमाल मे 'उक्ति चोज अनुप्रास अर्थ अद्‌भुत तुक धारी' कहा है। गोपियो की वाग्विदग्धता के अनेक उदाहरण मिल जायेंगे, जिनमे वक्रोक्तियो का प्रचुर प्रयोग हुआ है। यहा एक दो उदाहरण देने का अर्थ केवल इतना ही है कि यह स्पष्ट हो जाय कि सूर काव्य मे वक्रोक्ति का शास्त्रीय रूप विद्यमान है—

वर्णमूलक-वक्रोक्ति—देखि सखि तीस भानु इक ठौर। १०।२४६६

काल-वक्रोक्ति—वे हरि बातें क्यों बिसरी॥ १०।३६३२॥

छन्द और संगीत-प्रयोग

छन्द और सगीत दोनो के ही मूल तत्त्वो मे लय और गति समान रूप से विद्यमान हैं। स्वर का आरोह-अवरोह सगीत का प्राण है। छन्द पाठ के समय सगीत का स्वर उसमे और आकर्षण तथा प्रभाव उत्पन्न कर देता है। सूर के सभी पद गेय हैं। सगीत की राग-रागिनियो मे वे बंधे हुए हैं। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा ने 'सूरदास' मे सूरसागर के वर्णनात्मक एव गेय सभी अशो का विश्लेषण कर प्रयुक्त छन्दो का उल्लेख किया है। वर्णनात्मक प्रसगो के छन्दो मे—चौपई, चौपाई, दोहा, रोला और इनसे निर्मित मिश्रित छन्द मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त चन्द्र,(मात्रा-१०,७),भानु(६,१५)कुडल (१२,१०), सुखदा (१२,१०), राधिका (१३,९), उपमान (१३,१०), हीर (६,६,११), तोमर (१२,१२), शोभन (१४,१०), रूपमाला (१४,१०), गीतिका (१४,१२), विष्णुपद (१६,१०), सरसी (१५११), हरिपद (१६,११), सार (१६,१२), लावनी (१६,१४), वीर (१६,१५), समान सवैया (१६,१६), मत्त सवैया (१३,१६) हंसाल (२०,१७), तथा हरि प्रिया (१२,१०) छन्दो का प्रयोग सूर ने किया है।[१६०]

१५८ सूर की अप्रस्तुत योजना के लिए द्रष्टव्य—ब्रजभाषा के कृष्ण-भक्ति काव्य मे अभिव्यजना शिल्प, पृ० २६६-२७२ तक

१५९ अलकारो के उदाहरण के लिए सूर सागर के पद क्रमश १४४, १५३, ६७०, २७३ (६२२, ६६८) १२६०, १२४४ (१२५८), १२६१, ४१६० आदि तथा—सूर और उनका साहित्य, पृ० ४३६-४४६

१६० सूरदास—ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० ५७२ और ५७६ पर

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार काव्य अपनी व्यापक कला मे मूर्त्त-विधान के लिये चित्र-रला का और नाद-सौष्ठव के लिये संगीत का आश्रय लेता है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार कविता और संगीत मे गति आने की ओर रहती है तथा डॉ० दीन दयालु गुप्त के अनुसार संगीत की कलात्मक विशेषताओं के लिये भमर रा ससग, माह का महिया आदि उच्चारण आवश्यक हो जाता है।'१५१ डॉ० सावित्री सिन्हा के अनुसार 'सूरदास, नन्ददास तथा परमानन्द दास जी की रचनाओ मे भावानुकूल लय का प्रयोग किया गया है।'१५२ सूर ने वात्सल्य मे मध्य लय, रास-लीला और फाग के पदो मे द्रुत, लय, तथा विरह-वर्णन मे विलम्बित लय का प्रयोग किया है। सूर के भवरगीत के कुछ पद जिनमे गोपियो का उल्लास झलकता है, मध्यलय मे गाये जा सकते है। शैली की दृष्टि से ध्रुपद और धमार शैली का ही प्रयोग किया गया है। यह सत्य है कि वीर रस के उपयुक्त मारु राग है और विनय सबधी पदो मे से कुछ मे सूर ने उसका प्रयोग किया है, पर वहा भी भक्त का उत्साह और उसकी आशा अभिव्यजित है।' 'आजु जो हरिहिं न सस्त्र गहावो' जैसे वीर रस के पद मे सूर ने मारु राग का ही प्रयोग किया है। सूर ने सगीत की व्यापक-पद्धति का ध्यान रखकर भावानुकूल राग-रागिनियो का ही प्रयोग किया है। सूर के सगीत ज्ञान और प्रयोग का सुन्दर उदाहरण सूर-सारावली है। इसके सम्बन्ध मे डॉ० मुन्शी राम शर्मा का यह मत द्रष्टव्य एव महत्त्वपूर्ण है कि 'सारावली' एक वृहद् होली नाम का गीत है, जिसकी टेक है 'खेलत यह विधि हरि होरी हो, हरि होरी हो, वेद विदित यह बात'। इसी एक गीत की १००७ कड़िया है, जो सारावली के छन्दो के रूप मे प्रकट की गई है।'१५३

भक्ति और शृंगार

-- देवता-विषयक रति को प्राचीन आचार्यो ने निषिद्ध माना, पर रूप गोस्वामी प्रभृति भक्त आचार्यो ने उसे शास्त्रीय रूप देकर सम्मानित कर दिया। मध्यकाल के भक्त कवियो ने उसी भक्ति-रस को अपने काव्यो का प्राणतत्त्व बना लिया। भक्ति-रस अपनी प्रकृति मे काव्य-रस से भिन्न है। रस-सामान्य,मानव-हृदय या मस्तिष्क का अग है, उससे भिन्न भक्ति-रस, अलौकिक सम्बन्धो मे अनुभूत, उज्ज्वल एव पवित्र है। भक्त का मानसिक भावन-व्यापार भी सामान्य प्रमाताओ से भिन्न है। अतः भक्त और सामान्य प्रमाता के रस-बोध का स्तर भी बदल जाता है और सिद्धान्त की प्रकृति भी भिन्न हो जाती है। यह भिन्नता होते हुए भी भक्ति-रस की रस-रीति,काव्य-शास्त्रीय रस-रीति का अनुसरण करती है। काव्य-रस की भाति ही इसमे भी विभाव,अनुभाव एव सचारियो की स्थिति वर्तमान है। साधारणीकरण तथा रसबोध की ही भाति इसका भी अपना पृथक् रसबोध-सिद्धान्त है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भक्ति-रस को शास्त्रीय-रस न मानने की प्रतिक्रिया इतनी तीव्र हुई कि प्रौढ भक्त कवियो ने उसके काव्य-प्रयोग मे भी काव्य-शास्त्रीय नियमो की अनुकूलता बरतने की सफल चेष्टा की। प्रेम-मूला भक्ति की सम्पूर्ण-प्रक्रिया, शृगार रति के समानान्तर खडी हो गई। भक्ति-रस की रचना-प्रक्रिया मे लगा मानव-मस्तिष्क, उसके आराध्य की भाति अलौकिक नही था। विभावानुभाव और सचारियो के वर्णन मे से केवल आलबन विभाव की अलौकिकता को ही वह सुरक्षित रख सका। शेष वर्णनो मे वह शृगार के स्तर पर स्वत. उतर गया। आध्यात्मिक संकेतो के कुछ शब्द, पुलक, रोमाच, स्वेद आदि के आवरण मे अदृश्य हो गये। लौकिक शृगार की ही भाति नायक-नायिका, दूत-दूती, सयोग-विप्रयोग, उसके समस्त भेद तथा उसमे प्रयुक्त होने वाले समस्त विभावादि भक्ति-काव्य के भी वर्ण्य बने। काव्य शास्त्रीय परिभाषाओ के अनुकूल ही इन सबका प्रयोग सूर ने किया। राधा का मान, शृंगारिक मान से कुछ भिन्न नही प्रतीत होता। सुरति और कोक-कला की निपुणता जैसे सकेतो ने तो शृगार को भी पीछे छोड दिया है। भागवत के प्रबन्ध की पृष्ठभूमि से पृथक्, सूर के इन मुक्तको का मूल्याकन, रीति-काल के मुक्तको के मध्य रख कर किया जा सकता है।

केवल आलबन के सौन्दर्य-पक्ष पर बल देने के कारण सूर द्वारा कृष्ण की अलौकिकता भी सर्वत्र सुरक्षित नही रह सकी है। रूप-योजना, अलौकिक-लीला तथा अवतार मे ब्रह्मत्व के निर्देश से ही आलबन की अलौकिकता सुरक्षित रह सकती थी। भक्ति, लीला और प्रेमजन्य-आनन्द का ग्रहण सूर जैसे पुष्टि-जीव ने भले ही आध्यात्मिक धरातल पर किया हो, पर काव्य-रसिको मे से प्रत्येक के लिये यह सभव न था। भक्ति-काव्य, काव्य-रसिक न पढें, ऐसा कोई विधान नही है। लीला पदो मे

शुद्ध शृगार है, अत तुलसी की तरह ही सूर के रस सिद्धान्त की मान्यता को समान स्तर पर नही रखा जा सकता। सूर सागर मे उन सम्पूर्ण प्रवृत्तियो, काव्य-रूढियो एव शृगार-भावना के बीज विद्यमान है, जिनसे न केवल रीतिकालीन काव्य को ही, अपितु काव्य-शास्त्र को भी अपना मार्ग निर्धारित करने की प्रेरणा मिली। सूर ने सम्पूर्ण हिंदी-जगत को मध्यकाल मे एक नई दिशा दी।

नंददास द्वारा सकेतित और व्यवहृत काव्य-सिद्धान्त

सूरदास के बाद कृष्णभक्त कवियो मे सर्वाधिक काव्यप्रयोग नंददास ने किए हैं। अष्टछाप के कवियो मे भी सूर के बाद उन्हे ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। नददास ने अपने काव्यसबधी विचारो को इतनी स्पष्टता के साथ रखा है कि वे अपने सप्रदाय के काव्यप्रयोक्ता ही नही, काव्यसिद्धात-प्रवक्ता भी कहे जा सकते हैं। इनके द्वारा व्यक्त काव्यसबधी विचारो का मूल्य कृष्णकाव्य की मूल प्रवृत्तियो की विवेचना की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

नददास की चौदह रचनाए प्रामाणिक मानी गई हैं—१ रासपचाध्यायी, २ भागवत दशम स्कध, ३ भ्रमरगीत, ४ रूपमजरी, ५ रसमजरी, ६ विरह-मजरी, ७ अनेकार्थमजरी, ८ नाममजरी, ९ रुक्मिणीमगल, १० स्यामसगाई, ११ सिद्धान्त-पचाध्यायी, १२ गोवर्धनलीला, १३. सुदामाचरित्र तथा १४. मुक्तक पदावली।[1]

इनमे से रासपचाध्यायी मे रासलीला वर्णित है। सिद्धात पचाध्यायी का विषय भी रास ही है पर इसके १३८ रोला छदो मे १०० सिद्धातविषयक है। पाँच मजरी काव्यों में अनेकार्थमजरी के १२० तथा मानमजरी के २९५ दोहे नददास कृत माने गए है।[2] यद्यपि ये अपने ढग के शब्दकोश है पर प्रत्येक दोहे या शब्दपर्यायो के अत मे काव्य भी हैं। रूपमजरी एक काल्पनिक खडकाव्य है, जिसमे रूपमजरी और कृष्ण का मिलन-विरह वर्णित है। रसमजरी नायक-नायिका-भेद निरूपक ग्रथ है। इसमे हाव, भाव और हेला आदि का भी वर्णन है। प० उमाशकर शुक्ल के मतानुसार यह भानुदत्त की रसमजरी के पद्यमय उदाहरणो का रूपातर मात्र है। मूल रसमजरी के व्याख्यात्मक गद्यभाग को, इसमे छोड दिया गया है।[3] विरहमजरी मे गोपियो का विरह वर्णित है। भ्रमरगीत उद्धव-सवाद है। रुक्मिणीमगल मे कृष्ण और रुक्मिणी का विवाह तथा स्यामसगाई मे कृष्ण तथा राधा की सगाई की परिस्थितियाँ वर्णित हैं। भागवत दशम स्कध, भागवत की कुछ कथाओ का भाषा-रूपातर है।

१ नददास ग्रन्थावली, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, भूमिका पृ० २६।

२ वही, पृ० ३८।

३ नददास ग्रथावली प्रथम भाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग, पृ० ६३। उद्धरणों के लिए भी प्रयुक्त।

इनके अतिरिक्त गोवर्धनलीला तथा सुदामाचरित्र भागवताश्रित आख्यान है। नददास के कुछ मुक्तक पद भी है जो सूरसागर की भाँति ही विविध राग रागिनियो मे आवद्ध है। इस प्रकार वहुविधि काव्यप्रयोग, नददास की एक महत्त्वपूर्ण विशेपता प्रतीत होती है।

(क) काव्य-रूप

नददास की उक्त १४ कृतियो को निम्नलिखित वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है—

१ खडकाव्य—स्यामसगाई, सुदामाचरित्र, रूपमजरी, रुक्मिणीमगल, रासपचाध्यायी।
२ एकार्थकाव्य—गोवर्धनलीला, भ्रमरगीत, सिद्धातपचाध्यायी।
३ रीतिग्रथ—रसमजरी, विरहमजरी।
४ कोशकाव्य—अनेकार्थमजरी, नाममजरी।
५ गीति काव्य—मुक्तक पद।
६ रूपातरित या भापातरित काव्य—भागवत दशम स्कध।

कोशकाव्य एक मिश्रित नाम है। नददास की अनेकार्थमजरी और नाम-मजरी को हम विशुद्ध कोशग्रथ नही कह सकते। इनमे काव्य भी है, अत. इनके दोनो रूपो की अभिव्यक्ति के लिये इन्हे कोशकाव्य कहना ही उपयुक्त प्रतीत होता है। विरहमजरी, रसमजरी की भाँति विशुद्ध रीतिग्रथ नही है। विरह के प्रत्यक्ष, पलकातर वनातर और देशातर जैसे नूतन भेदो को स्पष्ट करने के लिये ही उसकी रचना हुई है।

स्वय नददास की उक्तियो के आधार पर उनकी कृतियो को लीलाकाव्य, गीतिकाव्य, मजरीकाव्य, चरितकाव्य, मगलकाव्य तथा अध्यायीकाव्य के रूप मे वर्गीकृत किया जा सकता है।

(ख) काव्य-हेतु

कृष्ण-भक्ति-काव्य मे विविध काव्यरूपो के प्रयोग को देखकर ही यह अनुमान हो जाता है कि वे प्रतिभा के धनी थे। नददास सस्कृतज्ञ थे, असस्कृतज्ञो के लिये ही उन्होने अनेकार्थमजरी और नाममाला की रचना की है—

> उचरि सकत नहिं सस्कृत, अर्थ-ज्ञान असमर्थ।
> तिन हित नंद सुमति जथा, भाषा कियो सुअर्थ॥ अने० ३ ॥[४]

[४] द्रष्टव्य—नाममाला, २ भी।

रसमंजरी, इसी नाम के संस्कृत ग्रंथ का रूपांतर है, अतः यह भी उनके संस्कृत ज्ञान का द्योतक है। इन्होंने गुरुकृपा को भी काव्यसृजन का एक हेतु माना है।[५] कृष्ण की वंदना करते हुए नंददास ने उन्हें परम गुरु कहा है।[६] इस प्रकार गुरुदेव की कृपा से उद्भूत प्रतिभा, संस्कृतादि के अध्ययन से व्युत्पत्ति तथा अभ्यास आदि काव्यहेतुओं को वे स्वीकार करते हैं।

अपने विविध काव्यग्रंथों की रचना के बाह्य प्रेरक तत्त्वों का भी उन्होंने उल्लेख किया है—

> परम रसिक इक मीत मोहि तिन आज्ञा दीन्ही।
> तातें मैं यह कथा जथामति भाषा कीन्ही॥ रास प० १६।
> एक मीत हम सों अस गुन्यो, मैं नाइका भेद नहिं सुन्यो।
>
> रसमंजरी ग्रथा० पृ० १२६।
>
> परम विचित्र मित्र इक रहै कृष्ण चरित सुन्यौ सो चहै।
> तिन कही दशम स्कंध जु आहि, भाषा करि कछु वरनौं ताहि॥
>
> ग्रथा० पृ० १८६।

मित्रों का आग्रह भी नंददास के काव्यसृजन का प्रेरक तत्त्व रहा है। अज्ञों या संस्कृत से अनभिज्ञों को काव्यतत्त्व सिखाने की भावना भी कुछ ग्रंथों के सृजन की प्रेरणा रही है। प्रेमपद्धति के स्पष्टीकरण की कामना ने रूपमंजरी की रचना की प्रेरणा दी।[७] सिद्धांत पंचाध्यायी भी रासरस के स्पष्टीकरण की ही उपज है। हरि भक्ति और लीलागान की प्रेरणा उन्हें अपने गुरु और अष्टछाप के अन्य कवियों से मिली। अतः नंददास के काव्यहेतुओं को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

अंतः हेतु—प्रतिभा,[८] व्युत्पत्ति, अभ्यास (सिद्धांतनिरूपण और ज्ञानदान का उल्लास)।

बाह्य हेतु—काव्य-रसिक, मित्रों का आग्रह।

५ श्री गुरु चरन सरोज मनावौं। गिरि गोवरधन लीला गावौं। ग्रथा०, पृ० १६७।
६ तन्नमामि पद परम गुरु, कृष्ण कमल दल नैन। ग्रथा० पृ० ६६।
७ परम प्रेम पद्धति इक आही। नंद जथामति बरनत ताही॥ ग्रथा, पृ० १०३।
८ चली मनावन भारती, वचन चातुरी काम। अने० ८॥ भारती कृपा प्रतिभा के स्फुरण का हेतु है।

(ग) काव्य प्रयोजन

नददास कृष्णभक्त कवि है, अत उनके काव्य का मुख्य प्रयोजन भी हरि-लीला-गान है।[९] आनद उसका दूसरा प्रयोजन है जो भक्तिरस का प्राण है।[१०] काव्यरसिक मित्रो के आग्रह से लिखी गई कृतियो का प्रयोजन भी सत्सग या गोष्ठी-जन्य आनद ही है। अन्य गौण प्रयोजनो का समावेश इन्ही तीन मे किया जा सकता है। नददास के काव्यप्रयोजन विषयक सकेत निम्नलिखित है—

१ अघ हरनी, मन हरनी, सुदर प्रेम बितरनी।
नददास के कठ बसौ, नित मगल करनी॥ रा० पं०। ग्र० पृ० २०।

२. नाहिंन कछु शृगार कथा इहि पचाध्यायी।
सुन्दर अति निरवृत्त परा तें इती बढाई॥ सि० पं०। ग्र० पृ० ३३।

३ नददास सौ नद सुवन जो करुना कीजै।
तिन भक्तन की पदपकज रस सों रुचि दीजै॥ वही, पृ० ४०।

४ राजिव नाभि गोविंद की होइ रहिए मन लीन॥ ग्र० पृ० ४८।

५. तेल सनेह सनेह घृत बहुरो प्रेम सनेहु।
सो निज चरनन गिरधरन नददास कहँ देहु॥ ग्र० पृ० ५४

६. कौलाल तु जमत्रास ते छुटै भजै गोविंद। ग्र० पृ० ५७।

७ बिन जाने घनस्याम के आवागमन न जाइ।
तातें हरि गुरु वैष्णवन, भज निसि दिन चितलाइ॥ ग्र० पृ० ६३।

८ परम प्रेम पद्धति इक आही।
नद जथामति वरनत ताही॥ ग्र० पृ० १०३।

९ तदपि रंगीले प्रेम तें निपट निकट प्रभु आहि॥ ग्र० पृ० १२५।

१० रस परसे बिन तत्व न जाने॥ ग्र० पृ० १०३।

११. रूप प्रेम आनद रस, जो कछु जग में आहि।
सौ सब गिरधर देव कौ, निधरक बरनौ ताहि॥ ग्र० पृ० १२६।

१२ इहि विधि यह रस मजरी, कही जथामति नद।
पढत पढत अति चोप चित, रसमय सुख को कद॥ ग्र० पृ० १४१।

१३ नददास पावन भयौ सो यह लीला गाय॥ ग्र० पृ० १६६।

१४ गिर गोबरधन लीला गावौ॥ ग्र० पृ० १६७।

९ हरिदासन को सग करै, हरि लीला गावै। रा० प०। ग्र पृ० ३०।
१० परम कात एकात भाति रस तौ भल पावै। वही पृ० ३०।

१५. पावन गुन गावन रति दीजै ॥ ग्र० पृ० १६६ ।

१६. नददास अपने प्रभु कौ नित मगल गावै ॥ ग्र० पृ० १८५ ।

१७ अब चतुर्थ अध्याइ सुनि, परम अर्थ कौ दैन ॥ ग्र० पृ० २०१ ।

पापनाश, मनहरण, प्रेमवितरण, मगलकरण, शृगार कथा के आध्यात्मिक रूप का वर्णन, भक्तो को हरिचरण-कमल-रस का दान, मन की लीनता, प्रभुचरण-स्नेह, यमत्रास से मुक्ति, हरि का स्वरूप-निरूपण, हरिभजन, प्रेमपद्धति का यथामति वर्णन, रसस्पर्श से तत्त्वज्ञान, प्रेमाभिव्यजन, कृष्ण के रूप, प्रेम और आनदरस का निधडक वर्णन, रसजन्य सुख के उल्लास की प्राप्ति, लीलागान द्वारा स्वय को पावन बनाना तथा पावन गुणगान के प्रति रति और परमार्थ की उपलब्धि को नददास ने अपने काव्यो का प्रयोजन घोषित किया है। इन प्रयोजनो मे से 'रस परसे बिन तत्त्व न जानें' तो कृष्णभक्त कवियो की काव्योपासना की मूल धारणा को स्पष्ट करने मे अधिक समर्थ है। तत्त्वज्ञान की उपलब्धि के लिये ही कृष्णभक्त कवि रसमार्ग ग्रहण करते है। केवल रसोपलब्धि उनका प्रयोजन नही है अपितु रसमार्ग से तत्त्वज्ञान और तज्जन्य मुक्ति या परमार्थ की प्राप्ति ही उनका लक्ष्य है। इसीलिये यथामति लीलागान मे सभी भक्त कवि प्रवृत्त होते हैं। इन सभी प्रयोजनो को समन्वित रूप से देखने पर मम्मट के काव्यप्रयोजनो मे से व्यवहार या साधना की जानकारी, अमगल का नाश, मगल का अभ्युदय, मुक्ति और उपदेशदान के ही यहाँ दर्शन होते हैं, यश और अर्थप्राप्ति के नही।

(घ) काव्य-फल

नददास ने अपने खडकाव्यो मे फलश्रुति का सकेत किया है। इसे परपरा-पालन मात्र कहा जा सकता है पर उन्होंने कोशकाव्यो मे भी इसका निर्देश किया है। रासपचाध्यायी के रूप मे हरि लीलागान का फल है भक्तिरस,[११] सिद्धात-पचाध्यायी का फल है, विषयरस से मुक्ति[१२] अनेकार्थमजरी के अध्ययन का फल है, परमार्थ,[१३] नाममाला अध्ययन का फल है, आवागमन से त्राण,[१४] रूपमजरी का फल है प्रभु का सान्निध्य,[१५] रसमजरी के अध्ययन का फल है चित्त का उल्लास,[१६] विरह-

११ रा० प० पद ११८।
१२ सि० प० पद १३८
१३ अ० म० दोहा ५८।
१४ ना० मा० दोहा २६४।
१५ रू० म० दोहा ५६४।
१६ र० म० दो० ३३६।

मजरी का फल है सिद्धात-तत्त्व की उपलब्धि,[१७] भ्रमरगीत का फल है पावनता,[१८] गोवर्धनलीला का फल है पावनरति,[१९] स्यामसगाई का फल है प्रेमरस,[२०] रुक्मिणी-मगल का फल है मगलप्राप्ति,[२१] सुदामाचरित का फल है भक्ति और मुक्ति।[२२] भागवत दशम स्कध के प्रत्येक अध्याय के अत मे फलनिर्देश तो है ही अतिम दोहे मे सभी अध्यायो के पाठ का फल कलिमल ध्वस बताया गया है नददास की पदावली मुक्तक गीतो का सग्रह है पर उसके भी एक पद मे फलनिर्देश है—

> ज्यौं ही हिये हरि चरित अमृत सिंधु सौं रति मानी।
>
> नददास ताही कु मुरुती लोन को सो पनी ॥ पद १६१ ॥

प्रेम या भक्ति रस इसी जीवन मे प्राप्त होने वाले फल है, परमार्थ या मुक्ति इस जीवन के उपरात। फलनिर्देश भक्तिकाल की पौराणिक काव्यशैली के एक मान्यता-प्राप्त तथ्य की अभिव्यजना है।

(ड) काव्यसिद्धांत रस . भक्ति-रस

नददास अपनी प्रेमा भक्ति के कारण भक्ति रस को ही भक्तिकाव्य का मुख्य प्रयोज्य सिद्धात मानते है। इनके सभी काव्यो मे रस, रसिक, रास सयोग-वियोग, भावभेद तथा नायिकाभेद को वर्ण्य विषय बनाया गया है। इनकी रसवादिता मे कोई सशय नही है। रस के अनेक रूपो का उल्लेख इन्होने स्वय किया है—हरिलीला रस,[२३] रूपरग रस,[२४] कृष्णरसासव,[२५] रास रस[२६] उज्ज्वल रस,[२७] अधरसुधा रस,[२८]

१७ सि० म० १०२ दोहे की अतिम चौपाई।
१८ भ्र० गी० पद ७५।
१९ गो० ली० अतिम पक्ति।
२० स्या० स० पद २८।
२१ रु० म० दो० १३२।
२२ सु० च० अतिम पक्ति। ५ (७१-१)
२३ रा० प० २ अ० १।
२४ वही पद ५।
२५ वहीं पद ५।
२६ वही पद ४२, सि० प० १३ और १३७
२७ रा० प० अ० १ पद ७१, अ० ५ पद ४०।
२८ वही ५।८४।

अद्भुत रस,[२९] वचन रस,[३०] उपपत्ति रस,[३१] प्रेम-सुधा रस,[३२] हरि रस[३३] आदि के नाम से नददास ने जिस रस की ओर सकेत किया है वह भक्तिरस ही है।

नायक—

संपूर्ण मध्यकाल मे नायक को रसिक, नागर आदि शब्दो से अभिहित किया गया है। नददास के कृष्ण भी रासरसिक,[३४] रसिकपुरदर[३५] आदि हैं। वे मन्मथ के भी मनमथ हैं।[३६]

नायिका—

नददास ने रसमजरी मे नायिका भेद का विस्तृत निरूपण किया है। प्रयोग की दृष्टि से भी रासपचाध्यायी, विरहमजरी, रूपमजरी, रुक्मिणीमगल और स्यामसगाई मे विविध प्रकार की नायिकाओ के दर्शन होते हैं। कुछ प्रयोगो के स्थल निम्नलिखित हैं—

मुग्धा—ये सब नवल किसोरी भोरी भरीं नेह रस।
तातें समुझि न परी करी पिय प्रेम विवस अस॥ रा० प० परि० १६।

नवोढा—नेह नवोढा नारि कौ वारि बारुका न्याय।
थलराये पै पाइये, नीपीडें न रसाय॥ रूप म० ५०१।

रतिश्राता—सगवगि अलकैं अमकन झलकैं।
सोहनि पीक पगी दृग पलकैं॥ रूप म० ५२३।

सयोग—

रसप्रयोगो मे शृगार के सयोग और वियोग दोनो ही पक्षो का चित्रण नददास के काव्यो मे मिलता है। सयोग शृगार को आध्यात्मिक रूप देने के लिये और सगुणसाधना की प्रेमपद्धति को स्पष्ट करने के लिये इन्होने रूपमजरी और कृष्ण का

२९ वही पद ५।२२, ३०, परि० ८६, सि० प० १३४।
३० रा० प० ५।१।
३१ रसनि मैं जो उपपति रस आही। रस की अवधि कहत कवि ताही॥ रूप म० पृ० १०६।
३२ मूत छिये मदिरा पिये, सब काहू सुधि होय।
प्रेम सुधा रस जो पिवै, तेहि सुधि रहै न कोय। रूप म० पृ० १२१।
३३ कहत भयौ निश्चै यहै हरि रस की निज पात्र। भ्रमर गीत ग्र० पृ० १६३।
३४ रा० प० १।२८।
३५ वही १।३२।
३६ वही ४।३।

मिलन स्वप्न क्षेत्र मे कराया है। यहा सुरति रस तक का वर्णन है। नददास का यह शृगारवर्णन सूफियो के शारीरिक और निर्गुण भक्तो के भावमिलन से सर्वथा विलक्षण है।

वियोग—

नददास ने विरह को चार प्रकार का माना है—प्रत्यक्ष, पलकातर, वनातर और प्रवास। इनमे से अतिम दो को प्रवासविरह मे सहृत किया जा सकता है, पर आरभ के दो भेद नददास की अपनी सूझ है। इन दोनो का प्रयोग रास-पचाध्यायी मे हुआ है। प्रत्यक्ष विरह सभ्रमजन्य है। प्रीतम के अक मे पौढी राधा प्रेम की लहर मे ललिता से पूछ बैठती है कि मेरे लाल कहा है—

सभ्रम भई कहत रस वलिता। मेरे लाल कहाँ रीं ललिता ॥

विरहमजरी ग्र० पृ० १४२।

पलकातर विरह प्रियदर्शन के समय पलक गिरने के व्याघात से उत्पन्न होता है—

सो मुख जन अवलोकन करै। तब जु आइ विचि पलकैं परै ॥

वि० म० ग्र० पृ० १४३।

अन्य रस—

नददास ने शृगार के अतिरिक्त अन्य रसो मे अद्भुत रस का कई वार उल्लेख किया है। इनके मतानुसार विस्मयभाव भक्तिरस का वोधक या पोषक है। वीर रस के चार पद रुक्मिणीमगल मे मिलते है, पर वहा उनकी उपस्थिति कथापूर्ति के लिये प्रतीत होती है। वहाँ रसपरिपाक नही है। इन्होने विपक्षी जरासध आदि को वावला कुत्ता बना दिया है अत ऐसे प्रतिपक्षियो के साथ युद्ध मे वीर रस के परिपाक का प्रश्न ही नही उठता—

महासिंह के पाछे कूकत कूकर बौरे। रु० म० ग्र० पृ० १२३।

देखे रिपुदल भारे, तब बलदेव सभारे।

मद गज ज्यौं सर पैठि कमल कौ दलि मलि डारै ॥

वही ग्र० पृ० १२४।

यह कृष्ण भक्तो की प्रकृति के अनकूल भी नही है।

(च) महान काव्यप्रयोक्ता

प्रवध काव्य की दृष्टि से रूपमजरी पर सूफी काव्य-शैली-का प्रचुर प्रभाव है। सूफियो की प्रेमपद्धति से सगुण कृष्णभक्तो की प्रेमपद्धति की भिन्नता प्रदर्शित

करना इसका लक्ष्य है इसी मे नददास ने अपने काव्य सबधी विचार बडी स्पष्टता से रखे हैं। ये विचार निम्नलिखित हैं—

प्रभु परम ज्योतिर्मय और प्रेममय है। वह सौंदर्यनिधि है और उसका सौंदर्य परम पावन है। कवि उसे नित्य कहते हैं। प्रभु के परम प्रेम की एक पद्धति है। नद यथामति उसका वर्णन करते हैं। इसके श्रवण और मनन से मन सरस बनता है। सरस होकर ही वह रस वस्तु का स्पर्श कर सकता है। रसस्पर्श के बिना तत्वज्ञान नही होता। भ्रमर के अतिरिक्त कमल को कौन पहचान सकता है? परमात्मा घट-घट मे व्यापक है। जिस तरह अनेक घटो मे पृथक् पृथक् रखे जल मे एक चद्र अनेक दिखता है उसी तरह सभी शरीरो मे परमात्मा। मन की निर्मलता, ब्रह्म के इस प्रति-बिंब को अधिक तेजस्विता के साथ दिखला सकती है। जैसी स्पष्ट छाया मानसरोवर मे दिखाई पडती है वैसी क्षुद्र छीलर मे नही। सूर्यकात मणि ही तरणि किरण से प्रभावित होती है न कि सभी पत्थर।

प्रभु के चरणकमल की प्राप्ति के लिये कवियो ने अनेक मार्ग कहे हैं, उनमे यह एक सूक्ष्म मार्ग है। ससार मे नादअमृत का जैसा मार्ग है, सौंदर्यसुधाकर का मार्ग भी वैसा ही है। क्षीर-नीर-विवेकी ही इस मार्ग से प्रभुपद की प्राप्ति कर सकता है। दर्शनेंद्रिय से अतीत कमल का अन्वेषण तो उसकी सुगधि से ही किया जा सकता है।

नददास रसमयी सरस्वती को प्रणाम करते हुए यह वर मांगते हैं कि वह ऐसे अक्षर दे, जिनसे सुदर, कोमल और अनूठे वचन बनें, जो कहने सुनने और समझने मे अत्यत मिठास से भरे हो। वे न अति व्यक्त हो न अत्यत गूढ।[३७] कवि अपने मन मे यही गुनता है कि मेरी कविता कोई नीरस व्यक्ति न सुने। रसहीन व्यक्ति काव्य के जिस अक्षर को भी सुन लेता है, वह अक्षर स्वय अपना सिर धुनने लगता है। अधे के लिये किसी बाला की स्मिति, कटाक्ष और लज्जा का क्या मूल्य है? बधिरपति के लिये सुरति सीत्कार की सफलता क्या है? कवि के अक्षर और कामिनी के कटाक्ष सहृदय हृदय मे ही अच्छी तरह लगते हैं। जिस हृदय पर अक्षर रस का प्रभाव नहीं होता वह अर्जुन के बाण से भी नही बिध सकता। कवि उसे पाषाण समझते हैं। ऐसा कोई पत्थर भी नही जिससे उस हृदय की तुलना हो सके।

रूपमजरी के वर्णन को नददास प्रभु का यश मानते है। यह यशरूपी रस जिस कवि मे नही है, वह स्वय भित्तिचित्र के सदृश है। जिस कविता मे हरियश रस नही है, उसके सुनने से क्या फल मिलेगा? शठ नायक यदि काठ की पुतली के साथ सोए भी तो उसे क्या सुख मिलेगा?[३८] रस से अनभिज्ञ कवि नीरस होता है, वह अश्व और व्यालबाल सदृश होता है।[३९]

३७ तुलनीय पृथ्वीराज रासो के प्रारभ मे व्यक्त चद के 'अति ढक्यो न उघार' पद से।
३८ रूपमजरी की प्रारभिक ३५ पक्तिया।
३९ वही, पक्ति ६८।

केवल पाडित्य भक्तिरस के महत्त्व को समझने मे असमर्थ है। पडित तो 'पचाध्याई' को शृगार ग्रथ मान लेगे। वास्तविकता यह है कि वे हरि रस के भेद को नही समझ पाते, न शृगार और भक्ति के भेद का ही उन्हे ज्ञान है। वे तो हरि को भी विषयी मान लेंगे—

जे पडित शृगार ग्रथ मत यामैं सानैं।
ते कछु भेद न जानैं हरि को विषयी मानै ॥ सि० प० ४६।

हरि रस अनिर्मल मन और पाप पुण्य के प्रारब्ध से सचित तन मे पचता ही नही है—

पुण्य पाप प्रारब्ध सँच्यौ तन नाहिं पच्यौ रस ॥ रा० प० ११५२।

(छ) निष्कर्ष

नददास द्वारा व्यक्त कवि, सहृदय, पडित, शृगार और भक्ति के अतर आदि सबधी विचार इतने स्पष्ट हैं कि उनपर किसी टिप्पणी की आवश्यकता नही है। वे रसवादी हैं और शृगार की उपयोगिता हृदय को सरस बनाने के लिये मानते हैं जिससे सरस हृदय भक्तिरस को निर्मल भाव से ग्रहण कर सके। विविध प्रसगो पर नददास ने अधिकारी,[४०] अनधिकारी,[४१] अकथकथा,[४२] लीला,[४३] रहस्य[४४] आदि के सबध मे भी विचार व्यक्त किए हैं। इन सभी शब्दो का मध्यकालीन काव्यालोचन की प्रक्रिया मे अपना विशेष महत्त्व था।

आलबन के सौंदर्यपक्ष पर बल देने तथा भक्तिरस को भी काव्य की रसरीति पर प्रतिष्ठित करने के कारण तत्कालीन काव्यसमीक्षको की कटु आलोचना के पात्र ये भक्त-कवि भी बने होगे। इनमे शृगार रस की सत्ता ही स्वीकार की गई होगी। नददास के पूर्व भी कुछ रीतिग्रथ लिखे गए थे। इनमे कृपाराम की हिततरगिणी और मोहनलाल मिश्र का शृगारसागर उल्लेखनीय है। करणेश बदीजन, बलभद्र मिश्र और आचार्य केशवदास भी नददास के समकालिक थे। इनके कुछ समय बाद ही रहीम ने बरवै नायिका भेद लिखा।[४५] डॉ० भगीरथ मिश्र ने लिखा है कि 'कृपाराम के वर्णन से तो ज्ञात होता है कि उनके समय तक और ग्रथ भी इस रीति पर लिखे जा चुके

४० ग्र० पृ० १६, पद ३४।
४१ वहीं, पृ० २६, पद ७२।
४२ अकथ कथा मनमथ बिथा, तथा उठी तन आगि।
किहि बिधि राखै क्यो रहै, रूई लपेटी आगि ॥ रूप म० ३८०।
४३ ग्रया०, पृ० १६७, १८५।
४४ ताहू मैं पुनि अति रहस्य यह पचाध्याई। रा० प० ११९५।
४५ नददास ग्रथा०, उमाशकर शुक्ल, भूमिका, पृ० ६३।

थे। कृपाराम का आधार भरत का नाट्यशास्त्र है। यह रस रीति (नायिका भेद) पर लिखा गया ग्रंथ पाँच तरंगों में है। अंत में स्वाधीनपतिका आदि नायिकाओं के दस भेदों में स्पष्ट होता है कि उनमें भानुदत्त का भी आधार है, क्योंकि भरत ने उनके आठ भेद दिए हैं दस नहीं।'[46] भरत मतानुयायी निश्चय ही भक्तिरस को शृंगार में अंतर्भुक्त करते हैं। नंददास ने भानुदत्त की रसमंजरी का आधार लेकर भी 'यथामति' या अपनी स्वतंत्र दृष्टि के अनुसार ही नायिकाभेद प्रस्तुत किया है। उसका प्रयोजन भी वे प्रेमसार का विस्तार ही मानते हैं।'[47] धर्म के अनुसार स्वकीया, परकीया और सामान्या भेद को तो इन्होंने ले लिया है पर स्वभाव के अनुसार उत्तमा मध्यमा भेदों का इन्होंने उल्लेख भी नहीं किया। रसमंजरी में भी विवेचनात्मक अंश छोड़ दिए गए हैं और लक्षण तथा उदाहरण अत्यंत स्पष्टता से प्रस्तुत किए गए हैं। विरहमंजरी संदेशकाव्य है पर प्रत्यक्ष और पलकांतर विरह नंददास की मौलिक देन है जो भक्ति रस को चमत्कारपूर्ण सिद्ध करते हैं।

नंददास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन, उनकी विविध काव्य शैलियों के प्रयोग की है। तुलसी के अतिरिक्त उस समय के किसी भी अन्य कवि ने इतने काव्यप्रयोग नहीं किए हैं। विविध छंदों के प्रयोग में भी वे पीछे नहीं रहे हैं। उनकी कोमलकांत-पदावली का आश्रय पाकर रोला और भी संगीतमय हो उठा है। कोशकाव्यों के लिये उन्होंने दोहा अपनाया है। तीनों मंजरी काव्यों के लिये उन्होंने तत्कालीन आख्यान या चरितकाव्यों की भाँति दोहा-चौपाई की कडवक शैली का प्रयोग किया है। रूप-मंजरी की एक गाथा के प्रयोग से यह भी स्पष्ट होता है कि इनमें अपभ्रंश काव्यों की चरितशैली का ध्यान रखा गया है। वह गाथा है—

> गुणि गण गुणाण नमिऊं मन्नामणा विहॅग मारेहा।
> सिय रस पेम पनाण जाण जीयण दमिय जीहा॥ रू० मं० ५१५।

विरहमंजरी में सोरठे भी हैं। भ्रमरगीत में रोला, दोहा और दस मात्रिक टेक से एक नए मिश्र छंद का प्रयोग किया गया है। स्यामसगाई की शैली भी यही है पर इसमें लोकगीत के तत्त्व अधिक हैं। पदावली में—सरसी, सार, चौपई, विष्णुपद, चौपाई, सोरठा, दोहा और सवैया तथा मिश्र छंदों का प्रयोग मिलता है, यद्यपि ये पद राग-रागिनियों में गेय हैं। रूपमंजरी में ऋतुवर्णन तथा विरहमंजरी में बारहमासा का प्रयोग तत्कालीन काव्यरूढ़ियों के अनुकूल है।

नंददास जैसे रसवादी कवि के लिये अलंकार साधन रहे हैं, साध्य नहीं। स्वाभाविक रूप से आए अलंकारों में उत्प्रेक्षा के प्रयोग में उनकी निपुणता दर्शनीय

४६ हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास, भगीरथ मिश्र, पृ० ५०-५१।
४७ रस मंजरि अनुसार कै, नंद सुमति अनुसार।
बरनत बनिता भेद जहँ, प्रेम सार बिस्तार॥ र० मं०।

है। अप्रस्तुत योजनाओ मे भी सौदर्यबोध का प्रभाव झलकता है।[४८] शुकदेव और कृष्ण के रूपचित्रण मे उनके व्यक्तित्व को प्रतिबिंबित किया गया है। प्रकृति को उन्होंने शुद्ध सात्विक उद्दीपन के रूप मे ग्रहण किया है। शैली और छदो के विविध प्रयोग करते हुए भी नददास ने स्वय अपने दृष्टिकोण के अनुसार भाषा के माधुर्य और उसकी सरसता को नही छोडा है।

अपनी काव्य-सबधी मान्यताओ मे नददास अत्यत स्पष्ट थे। काव्शास्त्र-मर्मज्ञ होते-हुए भी वे उदार भक्त कवि थे।[४९] वे महान् सगीतज्ञ थे[५०] और सफल काव्य-प्रयोक्ता भी, क्योकि अष्टछाप के किसी भी कवि ने काव्यप्रयोग मे यह विविधता प्रदर्शित नही की है। उनके सभी काव्यप्रयोग उन्हे रससिद्ध कवि घोषित करते है।

सगुण भक्त-कवियो के काव्यादर्श

भक्ति-काव्य का लक्ष्य स्वय भक्ति है। कलि-ताप से सतप्त-हृदय की वेदना ही भक्ति-काव्य के स्वरो मे मुखरित हो उठती है। भक्त की वेदना मे अपनी उद्धार की कामना तो रहती ही है, करोडो सतप्त प्राणियो के उद्धार के लिये करुणा की स्रोतस्विनी भी उसके अन्तराल मे अन्त सलिला सरस्वती की भाति प्रवाहित होती है। इसी करुणा के कारण भक्ति-काव्य मे लोक-मगल की भावना भी प्रतिष्ठित हो जाती है। काव्य-साधना, भक्ति-साधना की एक पद्धति बन जाती है। काव्य का केवल कलात्मक मूल्य नही रह जाता, वह उपयोगी कला का रूप धारण कर लेता है। कला पक्ष उपेक्षित न होकर भी निरपेक्ष बन जाता है और भाव-पक्ष अपनी अतल गहराई के साथ भक्ति-उदधि का प्रतीक बन जाता है। टूटी-फूटी वाणी भी हरिनाम-यश के वर्णन के कारण भक्ति-भाव को तरगायित करने मे समर्थ हो जाती है।

भक्त-कवि की दृष्टि मे काव्य का मुख्य हेतु, निर्मल-मति है। गुरु और हरि की कृपा, सत्सग, वेद-पुराण और भक्ति ग्रन्थो का अध्ययन, निर्मल-मति के प्रतिपादक तत्त्व है। निर्मल और कोमल मन पर ही सरस्वती की कृपा होती है। उसी प्रकार के मन-मन्दिर मे प्रतिष्ठित होने के लिये वह स्वय लालायित रहती है। तुलसी, मन की निर्मलता पर बल देते हैं, और-कृष्ण-भक्त कवि, कोमलता और सरसता पर। इसके लिये वे रस-ज्ञान आवश्यक समझते है। एक विवेक पर बल देता है, तो दूसरा रस-स्पर्श पर, क्योकि इसके बिना न निर्मल-मति प्राप्त होती है, न चित्त की वह द्रवण-

४८ नददास की अप्रस्तुत योजना के लिये द्रष्टव्य—ब्रजभाषा के कृष्ण काव्य मे अभिव्यजना शिल्प, सावित्री सिनहा, पृ० २७२-२९०।

४९ रामकृष्ण कहिए उठि भोर। पदा० २, ३।

५० इनकी पदावली में ३० रागो का प्रयोग हुआ है। गीतो मे छदप्रयोग के लिए द्रष्टव्य—ब्र० का० अभि० शिल्प, पृ० ४१५-११७।

शीलता, जो भक्ति-काव्य के सृजन की मुख्य हेतु है। भक्ति-काव्य का पौराणिक हेतु सरस्वती (प्रतिभा) है, तथा व्यक्ति-हेतु, निर्मल-मति (व्युत्पत्ति) है। मति की निर्मलता के लिये भक्ति, सत्सगति और रसग्रन्थ सहित निगमागम का अभ्यास, आवश्यक है।

भक्ति-काव्य का मुख्य प्रयोजन स्वय भक्ति है। उसके अन्तर्गत हरि-नाम-गुण, यश-स्मरण, कलिमल-शमन, सत्सग, स्वान्त सुख, भक्त मित्रो का सुख, आत्मोद्धार, असुर-विनाश द्वारा लोक-मगल तथा सदाचार और नैतिकता की प्रतिष्ठा, स्वय प्रयोजन बन कर व्यक्त हो जाते हैं। भक्त कवियो के उपयोगितावादी प्रयोजन हैं—चतुर्थ पुरुषार्थ की प्राप्ति, यथामति गान, यश की प्राप्ति, कलिमलशमन, सत्सग, मनोकामना-पूर्ति, हरि भक्तो का भजन और चरित-गान[५१], भक्ति का प्रचार तथा मानव-मगल। भक्ति-काव्य के आनन्दवादी प्रयोजन हैं—कृष्ण या राम-रसायन का गान, आनन्द का गान और लीला का गान।

भक्ति-काव्य, पौराणिक-परम्परा और शैली के काव्य हैं। प्रेम-भक्ति-मूला वाणी से ब्रह्म-प्राप्ति, एव हरिचरण रति, तथा तज्जन्य रस या आनन्द, मानसिक-निर्मलता तथा नित्य गोलोक या अखण्ड शाश्वत नित्य-भक्ति की उपलब्धि ही फल हैं।

भक्ति साधना की बहुविधता मे भक्ति-काव्यो के रूप भी बहुविध बन गये हैं। कभी इन्होंने प्रबन्ध का रूप ग्रहण कर लिया है, कभी भाव-मुक्तक गीतो का। भक्ति-काव्यो के पहले, काव्य का केवल कलात्मक मूल्य था, भक्तो ने उसमे उपयोगितावादी मूल्यों की प्रतिष्ठा कर दी। भक्ति काव्यो के अन्त विश्लेषण से इनके तीन रूप मिलते है, केवल भक्ति के स्थल, केवल काव्य के स्थल और भक्ति तथा काव्य के मिश्रित स्थल। प्रथम मे विनय, द्वितीय मे लीला गान तथा तृतीय मे अन्य स्थल लिये जा सकते हैं। भक्ति-काव्यों मे वक्ता-श्रोता की निश्चित योजना मिलती है। परम्परा-प्राप्त काव्य की शब्दावली की इन्होंने उपेक्षा नही की है, अपितु अपने दृष्टिकोण के अनुसार उसे ढाल लिया है। विद्यापति की अकथ-कथा प्रणय-विरह की कथा है, जब कि तुलसी की अकथ-कथा दर्शन से अनुप्राणित ज्ञान-कथा, वही सूर की प्रेम-कथा तथा नन्ददास की मनमथ-कथा है। वीर, दास्य, वात्सल्य, सख्य और मधुर ही भक्ति-काव्यो के वर्ण्य रहे हैं। काव्य-रूपा के निर्माण मे सगुण-भक्तो के प्रयोग अधिक भी हैं और बहुमूल्य भी। आख्यानक और गीति काव्यो की दृष्टि से ही नही रीति-ग्रन्थ-निर्माण की दृष्टि से भी इन्होंने परवर्ती काव्यो और कवियो का पथ-प्रदर्शन किया है। चाहे प्रबन्ध हो या गीति-काव्य, सर्वत्र भक्ति, काव्य, और दोनो के मिश्रित

५१ केवल कबीर ने ही भक्तो मे प्रथम नामदेव का स्मरण नही किया है, सूर ने भी उन्हें कलि के प्रथम और ख्यात-भक्त के रूप मे स्मरण किया है—

कलि मे नामा प्रकट ताकि छानि छवावै।
सूरदास की बीनती कोउ लै पहुचावै॥ सूरसागर विनय ४।

स्थलो के रूप मे इनका विभाजन समव है। काव्य-सहित, सगीत मे भी इनकी देन सर्वाधिक है।

रस, ध्वनि, अलकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति और औचित्य मे से रस-सिद्धान्त को ही इन्होने सर्वोच्च स्थान पर रखा है। अन्यो का सहायक के रूप मे रसोत्कर्ष के लिये उपयोग हुआ है। भक्तो का यह रस भरत-प्रतिपादित नव-रसो से विलक्षण भक्ति-रस है, यह उपपत्ति रस है। नव-रस वर्ण्य हो सकते हैं, पर उन सबसे ध्वनित या व्यजित भक्ति-रस ही होना चाहिये। यही भक्ति-काव्यो का लक्ष्य है। तुलसी ने भक्ति-रस के लिये सभी नव-रसो का उपयोग किया, पर कृष्ण-भक्त कवियो ने केवल शृगार और वात्सल्य को ही वर्ण्य बनाया। तुलसी का भक्ति-रस, निर्वेद-जन्य शान्त-रस से व्यजित है, जबकि कृष्ण-काव्यो का, आसक्ति-जन्य शान्त-रस से।

भक्ति-रस की रस-रीति को काव्य-रस-रीति मे ढाला गया, फलत आलवन, उद्दीपन, अनुभाव, सात्विक भाव और सचारियो के वर्णन मे भक्ति-काव्य सामान्य काव्य से अधिक भिन्न नही दिखाई पडता है। प्रेम-मूला-भक्ति और शृगार मे इस समान रस-रीति के कारण भेद करना कठिन हो गया। तुलसी ने तो शृगार को भक्ति-शासित और मर्यादित रख कर तथा आलवन को विराट ब्रह्म का शील-शक्ति और सौन्दर्य-सम्पन्न रूप मान कर अपने भक्ति रस को निभा लिया पर कृष्णभक्त कवि, केवल सौन्दर्य-पक्ष को ही आलवन मे प्रतिष्ठित कर सकने के कारण काव्य-मर्मज्ञो की आलोचना के पात्र उस समय भी बन गये थे। शृगार और भक्ति का अन्तर समझना काव्य-रसिको के लिये कठिन हो गया। नन्द दास के रस-स्पष्टीकरण के मूल मे यह आलोचना भी रही है। आसक्ति-मूलक साधना मे तुलसी की भाति वे शृ गार और वात्सल्य के अतिरिक्त अन्य रसो का समावेश भी न कर सके, फलत आलवन का वैसा उदात्त और सुन्दर रूप वे प्रतिष्ठित नही कर सके, जैसा तुलसी ने किया। राम मे नव रस-प्रतिष्ठित था 'जाकी रही भावना जैसी' के अनुसार उसका दर्शन हो सकता था, पर परम सुन्दर नागर, रसिक कृष्ण के लिये यह सभव न था। सीता की मर्यादा 'रसिकनि राधा' न पा सकी।

तुलसी का भक्ति-रस सर्व-ग्राह्य था, पर कृष्ण भक्तो का भक्ति-रस सूक्ष्म और रहस्यमय बन गया। कृष्ण भक्तो के शृ गारिक-रहस्य-युक्त सम्प्रदायो के उद्भव के मूल मे यही कारण था। भक्ति-रस के रसिक और सहृदय को सृजन या काव्य-मर्मज्ञ मात्र मान लेने से काम नही चला, उसके लिये आवश्यक हो गया कि वह शृगार और भक्ति की रस-रीति के एक होते हुए भी, उनके सूक्ष्म पार्थक्य को समझे। रसबोध का साधारणीकरण भी कठिन हो गया, क्योकि भक्ति-काव्य के भाव का यदि शृ गार रस मे परिणमन होता है तो वह काव्य ही लक्ष्य-भ्रष्ट है, या श्रोता ही अज्ञ है। कृष्ण-भक्तो ने काव्य को लक्ष्य-भ्रष्ट मानना स्वीकार नही किया और श्रोता के लिये एक स्तर निर्धारित कर दिया कि वह शृ गार और भक्ति के अन्तर को समझने

वाला अधिकारी हो, भक्त और निर्मलचित्त हो। फलत. शृंगार की रस-रीति पर व्यक्त भक्ति-रस का रसबोध सीमित हो गया। उसका साधारणीकरण भक्त और भक्ति-जगत तक सीमित रह गया और सामान्य जन के लिये वह शृंगार मात्र बन गया। नायक-नायिका भेद की उपस्थिति ने इस प्रक्रिया को बल दिया। कृष्ण-भक्ति काव्य का ही शृंगार, रीति काल की व्यापक काव्य और काव्य-शास्त्रीय धारा में प्रवाहित हुआ। सगुण भक्तों की काव्य-साधना की निजी दिशा भक्ति के काव्य-काल में नहीं बदली। रीतिकालीन काव्य और काव्यशास्त्रीय कृतियां विलासिता की देन नहीं हैं, अपितु भक्ति-रस के रस-बोध की दुर्गमता और शृंगारिक रस-रीति के अनुसरण की स्वाभाविक परिणति मात्र हैं। यह सगुण-भक्तों के काव्यसिद्धान्तों के अध्ययन और उनके दृष्टिकोण से परिचित होने पर सहज ही लक्षित किया जा सकता है।

८ उपसंहार

मध्यकालीन हिन्दी-कवियो के सकेतित और व्यवहृत काव्य-सिद्धान्तो के अध्ययन से कतिपय महत्त्वपूर्ण तथ्य दृष्टिगोचर होते है। सभी कवि चाहे वे सूफी हो या सन्त, राम भक्त हो या कृष्ण भक्त, दरबारी हो या स्वतन्त्र, भारतीय है, पूर्णतः भारतीय। काव्य-सम्बन्धी धारणाओ और मान्यताओ मे वे सस्कृत-काव्य-शास्त्र मे प्रतिपादित विचारो का अनुगमन करते हैं। ऐसा करते हुए भी वे अपनी प्रतिभा, लोक-जीवन से प्राप्त अनुभव तथा निजी जीवन-दर्शन से उद्भूत वैशिष्ट्य का उनमे समावेश कर देते है। इस वैशिष्ट्य से उनका अपना अभिमत 'कवि मत' अन्यो से कुछ भिन्न धरातल पर प्रतिष्ठित दिखाई पडता है। काव्य-हेतु और काव्य-प्रयोजनो के विषय मे मम्मट की मान्यताओ का उन पर पूरा प्रभाव पडा है।

प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को सबने ही काव्य के हेतु-रूप मे मान्यता दी है। अपनी विनम्रता एव साधना के कारण उन्होंने दैवी कृपा-जन्य प्रतिभा को अधिक महत्त्व दिया है। सरस्वती और गुरु की कृपा को काव्योत्पत्ति एव प्रतिभा के प्रस्फुरण का मुख्य कारण सारे ही मध्यकाल में स्वीकार किया गया है।

चन्द, जायसी आदि कुछ कवि, अपने और काव्य-नायक, दोनो के यश और अमरत्व-प्रतिष्ठा को काव्य का मुख्य प्रयोजन मानते है। कुछ सम्पन्न है, कुछ सन्त, अत अर्थ-लाभ किसी का प्रयोजन नही हैं। लोक-ज्ञान की प्रतिष्ठा, मधुर-उपदेश-दान, अमगल-नाश, हरि-गान, लोक-मगल, चार पुरुषार्थो मे से एक की प्राप्ति आदि, काव्य-शास्त्रीय प्रयोजन ही इनके प्रयोजन रहे है। चन्द ने स्वामि-धर्म की प्रतिष्ठा तथा विद्यापति और दाउद ने जन-मन-रजन को महत्त्व दिया है। अन्य कवियो मे से कुछ भक्ति को ही मुक्ति के स्थान पर काव्य-लक्ष्य मान लेते है। काव्य-प्रयोजनो का निर्णय करने मे कवियो की व्यक्ति-दृष्टि अधिक सजग रही है।

काव्य-रूप की दृष्टि से यद्यपि प्रवन्ध और मुक्तक दोनो प्रकार की रचनायें हुई हैं, पर इन कवियो के काव्य के वाह्य-आकार पर कभी ध्यान नही गया है।

मुक्तक- गीत भी उनकी दृष्टि से चरित-काव्य है। प्रणय-कहानी, मुक्तक भी है और प्रबन्ध भी। कथा और चरित या लीला, दो इनके काव्यों के मुख्य रूप हैं। वैसे काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से सूक्ति-सुभाषितों से लेकर महाकाव्यों तक का सृजन मध्यकालीन कवियों ने किया है।

धार्मिकता या आध्यात्मिकता इस युग की मुख्य प्रेरक शक्ति रही है, अतः काव्य, उनकी दृष्टि में साधन था, साध्य नहीं। चन्द को छोड़कर किसी ने काव्य को चमत्कारपूर्ण बनाने का प्रयत्न नहीं किया है, पर चन्द भी इस आध्यात्मिकता से इतने अभिभूत थे कि अपने सारे काव्य को ही पौराणिक-काव्य के रूप में ढालने का प्रयत्न करते रहे। काव्य के साधन बन जाने के कारण एक ही प्रणय-कहानी, विद्यापति, जायसी, दाऊद, मंझन आदि की प्रेम या रस-कथा, कबीर की विरह-कथा, तुलसी की ज्ञान-कथा और सूर तथा नन्ददास की कृष्ण-रस-कथा बन गई। यही काव्य-दृष्टि है, जिससे मध्यकालीन काव्यों में भाव-पक्ष की प्रबलता है और कला-चमत्कृति के प्रदर्शन की इच्छा कम, यद्यपि रूढ़ि-प्राप्त कला-वैशिष्ट्य का उनमें अभाव भी नहीं है।

मध्यकाल के सभी कवि रसवादी हैं। वे भरत की रस-रीति (विभावानुभावादि) को मान्यता देते हैं। ऐसा करते हुए भी वे भरत के परवर्ती आचार्यों के मत से प्रभावित हैं और स्वीकार करते हैं कि भाव-भेद और रस-भेद अनन्त हैं। इस मान्यता के कारण साधना के क्षेत्र में भी रस-वाद प्रविष्ट हो गया। महासुख, आनन्द और ब्रह्मानन्द, काव्य और साधना को एक धरातल पर प्रतिष्ठित करने में सहायक हो गये। काव्यानन्द की रीति, साधना की रीति बन गई। सिद्धों के महारस, निर्गुण सन्तों के प्रेम या विरह रस, सूफ़ियों के प्रेमरस, तुलसी के ज्ञान-भगति और प्रेम रस, कृष्ण भक्तों के कृष्ण रस तथा विद्यापति के काम या काव्य-रस में, रस-रीति भरत-प्रतिपादित ही है। आनन्द अपना अपना है। पात्र अलग अलग हैं, रस एक ही है। तुलसी ने भक्ति-रस का उदात्त रूप प्रतिष्ठित किया। सूर ने नये वात्सल्य-रस की अवतारणा की। नन्द दास ने शृंगार और भक्ति का सूक्ष्म अन्तर स्पष्ट किया। रस-प्रयोग की अपनी-अपनी काव्य-विधि रही। संगीत के स्वरों के साथ इस काव्य-रस में भाव-तरंगों की लहरियां उठती रहीं। काव्य और संगीत का अद्भुत समन्वय इस काल में हुआ। विशुद्ध गीतों में, लोक-गीतों में और चरित गीतों में केवल गीत ही की साधना चली और लक्ष्य था—रस-मग्न स्वयं होना और श्रोताओं को रस-मग्न कर देना।

छन्द-सम्बन्धी प्रयोग अधिक हुए। संगीत में जो छन्द सध सके, उन्हें मध्यकालीन कवियों ने काव्य के समीप रखा शेष की उपेक्षा करते गये। टेक लगा कर और मिश्र छंदों का उपयोग कर उनमें गीतात्मकता की अधिकाधिक सार्थकता सिद्ध की गई।

मध्यकालीन कवियों का एक ही आदर्श था—स्वान्तःसुख के साथ लोक-मंगल, और यही उनका काव्यादर्श बना। स्तुति-निन्दा से विमुक्त अपनी काव्य-सृष्टि को उन्होंने सदा निर्मल रखा है। विवेक-बुद्धि के साथ उसका सामंजस्य रहा है, इसीलिये उनका 'कवि-मन' गौरव-पूर्ण और परवर्ती कवियों तथा आचार्यों के लिये मान्य रहा।

सहायक ग्रन्थ

संस्कृत ग्रंथ

१. अग्निपुराण
२. अमरकोष
३. अवन्ति सुन्दरी कथा—सोड्ढल
४. अलकार महोदधि—भोज
५. अलकार सर्वस्व—राजानक रुय्यक
६ उत्तर रामचरित—भवभूति
७ ऋक् सहिता
८. ऋक् प्रातिशाख्य
९ ऐतरेय उपनिषद्
१०. ऐतरेय ब्राह्मण
११. औचित्य विचार चर्चा—क्षेमेन्द्र
१२. कादम्बरी—बाणभट्ट
१३ कामसूत्र—स० देवदत्त शास्त्री
१४ कालीदास ग्रन्थावली—स० सीताराम चतुर्वेदी
१५. काव्यादर्श—दण्डी
१६. काव्यानुशासन—हेमचन्द्र
१७ काव्य प्रकाश—मम्मट
१८ काव्य मीमांसा—राजशेखर
१९ काव्यालकार—भामह
२० काव्यालकार—रुद्रट (नमि साधु की टीका सहित)
२१ वाग्भटालकार—वाग्भट्ट
२२ काव्यालकार सार सग्रह—उद्भट
२३ किरातार्जुनीय—भारवि
२४ कौटिल्य—अर्थशास्त्र, स० वाचस्पति गैरोला
२५ गीत गोविन्द—जयदेव
२६ गीता—कल्याण प्रेस
२७ चन्द्रालोक—जयदेव
२८ चाणक्य राजनीतिशास्त्रम्—स० ईश्वर चन्द्रशास्त्री
२९ चित्र मीमांसा—अप्पय दीक्षित
३० छन्दो मंजरी—चौखम्भा प्रकाशन
३१ ताण्ड्य ब्राह्मण
३२ दशोपनिषद्—स० कुन्हन राजा

३३. दश रूपक—धनंजय
३४ ध्वन्यालोक (लोचन सहित)—आनन्दवर्धन
३५ नल चम्पू—त्रिविक्रम भट्ट
३६ नाट्य शास्त्र—भरत
३७ नाटक लक्षण रत्नकोष—सागर नन्दिन्
३८ निघण्टु
३९ निरुक्त—यास्क
४०. नैषध चरित—श्री हर्ष
४१ प्रसन्न राघव—जयदेव
४२ प्रताप रुद्रीयम्—विद्यानाथ
४३. पाणिनी-सूत्र—पाणिनि
४४. पाणिनीय शिक्षा
४५ भक्ति रसामृत सिन्धु—रूप गोस्वामी
४६ भगवद्भक्ति रसायन—मधुसूदन सरस्वती
४७ भागवत
४८ भाव प्रकाशन—शारदा तनय
४९ भास नाटक चक्रम्—स० सी० आर० देवधर
५०. महाभारत—व्यास
५१ महाभाष्य—पतंजलि
५२ मालती-माधव—भवभूति
५३ यजु संहिता
५४. यशस्तिलक चम्पू—सोमदेव सूरि
५५ योग सूत्रम्—पतंजलि
५६ रस गंगाधर—पंडितराज जगन्नाथ
५७ रसतरंगिणी—भानुदत्त मिश्र
५८ रामायण—वाल्मीकि
५९ व्यक्तिविवेक—महिम भट्ट
६० वासवदत्ता—सुबन्धु
६१ वृत्त रत्नाकर—भट्ट नारायण
६२ विक्रमांक देव चरित —विल्हण
६३. शृंगार तिलक—चौखम्भा प्रकाशन
६४ शृंगार प्रकाश—भोजदेव
६५ शाण्डिल्य भक्ति सूत्र
६६ शिशुपाल वध—माघ
६७ सरस्वती कंठाभरण—भोज
६८ साहित्य दर्पण—विश्वनाथ
६९ संगीत रत्नाकर—शार्ङ्गदेव
७० सुवृत्त तिलक—क्षेमेन्द्र

प्राकृत ग्रंथ

७१ कर्पूर मंजरी—राजशेखर
७२ कुवलय माला—स० डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्यम्
७३ गाहा सतसई—हाल-स० सदाशिव आत्माराम जोगलेकर
७४ जंबुचरिय—स० आचार्य मुनि जिन विजय
७५ पालिजातपायली—स० माधव प्रसाद
७६ रावण वहो—स० डॉ० राधा गोविन्द बसक
७७ लीलावई-णाम-कहा कोतूहल—स० उपाध्ये

अपभ्रंश ग्रंथ

७८ अपभ्रंश काव्यत्रयी—स० लालचंद भगवान दास गांधी
७९ कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा—डॉ० शिव प्रसाद सिंह
८० कीर्तिलता—स० डॉ० बाबूराम सक्सेना
८१ णायकुमार चरिउ—स० मुनि जिन विजय
८२ पउमचरिउ—स्वयंभू विद्या भवन प्रकाशन और ज्ञान-पीठ प्रकाशन।
८३ परमात्म प्रकाश-योगीन्द्र—ज्ञान पीठ प्रकाशन
८४ पाहुड दोहा—रामसिंह
८५ महापुराण-पुष्पदन्त स० डॉ० वैद्य
८६ रास और रासान्वयी काव्य—डॉ० दशरथ ओझा और दशरथ शर्मा
८७ स्वयंभू छन्द-स्वयंभू—स० प्रो० एच० डी० वेलणकर
८८ संदेश रासक—स० विश्वनाथ त्रिपाठी, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी

हिन्दी ग्रंथ

८९ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डॉ० दीन दयालु गुप्त
९० अभिनव भारती—स० डॉ० नगेन्द्र
९१ आदिकाल के अज्ञात हिन्दी रास काव्य—डॉ० हरीश
९२ आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना—डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल
९३ उत्तरी भारत की सन्त परम्परा—परशुराम चतुर्वेदी
९४ कबीर—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी
९५ कबीर ग्रंथावली—डॉ० श्यामसुन्दरदास
९६ कबीर ग्रंथावली—डॉ० पारसनाथ तिवारी
९७ कबीर की साखी—डॉ० मुंशी राम शर्मा
९८ काव्यात्मक मीमांसा—डॉ० जयकान्त मिश्र
९९ कूटकाव्य एक अध्ययन—डॉ० रामधन शर्मा
१०० गोरखबानी—डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल
१०१, चिन्तामणि—रामचंद्र शुक्ल
१०२ चंद वरदायी और उनका काव्य—डॉ० विपिन बिहारी त्रिवेदी
१०३ चंदायन—मौलाना दाउद, स० डॉ० माता प्रसाद गुप्त

१०४ चपू काव्य का आलोचनात्मक एव ऐतिहासिक अध्ययन—डॉ० छविनाथ त्रिपाठी
१०५ जायसी ग्रन्थावली—स० आचार्य रामचद्र शुक्ल
१०६ तुलसी ग्र थावली—स० डॉ० माता प्रसाद गुप्त
१०७ तुलसी दर्शन—डॉ० बलदेव मिश्र
१०८ तुलसीदास और उनका युग—डॉ० राजपति दीक्षित
१०९ तुलसी रसायन—डॉ० भगीरथ मिश्र
११० नददास ग्र थावली—स० ब्रज रत्नदास
१११ नन्ददास ग्र थावली—प्रथम भाग, स० प० उमाशकर शुक्ल
११२ नाथ सम्प्रदाय—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी
११३ नानक वानी—स० डॉ जयराम मिश्र
११४ प्राचीन भारतीय साहित्य—लाला लाजपत राय (मूल, विंटरनित्स)
११५ प्राकृत साहित्य का इतिहास—डॉ० जगदीशचन्द्र जैन
११६. पृथ्वीराज रासउ—स० डॉ० माता प्रसाद गुप्त
११७ पृथ्वीराज रासो—नागरी प्रचारिणी सभा
११८ पृथ्वीराज रासो—स० कविराव मोहन सिंह
११९ व्रज भाषा के कृष्ण काव्य में अभिव्यजना शिल्प डॉ० सावित्री सिन्हा
१२० भ्रमर गीत सार—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
१२१ भक्ति का विकास—डा० मु शीराम शर्मा
१२२ भारतीय काव्यशास्त्र की परपरा—स० डॉ० नगेन्द्र
१२३ भारतीय साहित्यशास्त्र—डॉ० बलदेव उपाध्याय
१२४ भारतीय साहित्य की रूप रेखा—डॉ० भोलाशकर व्यास
१२५. मधुमालती-मझन—स० डॉ० माता प्रसाद गुप्त
१२६ मानस की रूसी भूमिका—डॉ० केसरी नारायण शुक्ल
१२७ रस गगाधर का शास्त्रीय अध्ययन—डॉ० प्रेम स्वरूप गुप्त
१२८ रस मीमासा—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
१२९. रस सिद्धान्त—डॉ० नगेन्द्र
१३० रससिद्धांत स्वरूप विश्लेषण—डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित
१३१ रामचरित मानस का तुलनात्मक अध्ययन—डॉ० शिवकुमार शुक्ल
१३२. रामचरित मानस का शास्त्रीय अध्ययन—डॉ० राजकुमार पाण्डेय
१३३. राष्ट्र कवि कालिदास—सीताराम जायसवाल
१३४ रूपक रहस्य—डॉ० श्याम सुन्दर दास
१३५ विद्यापति पदावली—स० राम वृक्ष बेनीपुरी
१३६. विद्यापति पदावली—बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्
१३७ विनय पत्रिका—स० वियोगी हरि
१३८. वीर काव्य सग्रह—डॉ० उदय नारायण तिवारी
१३९. वीसलदेव रासो—स० डॉ० तारक नाथ अग्रवाल
१४०. वीसलदेव रासो—स० सत्यजीवन वर्मा
१४१. वैदिक दर्शन—डॉ० फतहसिंह
१४२. साहित्य का मर्म—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी
१४३ सूफी महाकवि जायसी—डॉ० जयदेव

१४४ सूर और उनका साहित्य—डॉ० हरवंश लाल शर्मा
१४५ सूरदास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
१४६ सूर एवं ब्रजभाषा और उसका साहित्य—डॉ० शिवप्रसाद सिंह
१४७ सूर सागर (दोनों भाग)—नागरी प्रचारिणी सभा
१४८ सूर सारावली (दोनों भाग)—नागरी प्रचारिणी सभा
१४९, सूर सौरभ—श्री मुंशीराम शर्मा
१५० संत काव्य संग्रह—सं० गणेश प्रसाद द्विवेदी
१५१ संस्कृत साहित्य का इतिहास—बलदेव उपाध्याय
१५२. संस्कृत साहित्य की रूप रेखा—चन्द्रशेखर शास्त्री
१५३ हर्ष चरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन—डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल
१५४ हिन्दी काव्य धारा—राहुल सांकृत्यायन
१५५ हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास—डॉ० भगीरथ मिश्र
१५६ हिन्दी काव्यालंकार सूत्रवृत्ति—सं० डॉ० नगेन्द्र
१५७ हिन्दी को मराठी संतों की देन—डॉ० विनय मोहन शर्मा
१५८ हिन्दी गीत गोविन्द—डॉ० विनय मोहन शर्मा
१५९ हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—डॉ० शम्भुनाथ सिंह
१६० हिन्दी वक्रोक्ति जीवित—सं० डॉ० नगेन्द्र
१६१ हिन्दी साहित्य का अतीत—डॉ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
१६२ हिन्दी साहित्य का आदिकाल—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
१६३ हिन्दी साहित्य कोष—डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा
१६४ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा
१६५ हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
१६६ हिन्दी संत साहित्य—डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित

लेखक एवं निबन्ध तथा अन्य ग्रन्थ

१६७. रवीन्द्र रचनावली
१६८ चैतन्य चरितामृत
१६९ विद्यापति पदावली—डॉ० नगेन्द्रनाथ गुप्त
१७० आलोचना—'मानस की रूसी भूमिका'—डॉ० कामिल बुल्के का लेख
१७१ मानस मयूख—मानस में तुलसी के काव्य सिद्धांत—आचार्य विनय मोहन शर्मा
१७२ स्त्री पूजा और उसका वैष्णवरूप—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी
१७३, प्राच्यवाणी, (कलकत्ता)
१७४ मद्रास जर्नल आदि